

श्रीहरिः  
महाकवि 'नंददास' श्रुतीय  
M. S. (U.P.)

# भ्रमर-गीत

( टिप्पणी और समभाव-द्योतक  
सूक्तियोंसहित )

संपादक :

जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रकाशक :

गीताप्रेस, गोरखपुर.



श्रीहरिः

महाकवि 'नंददास' प्रणीत

# भ्र म र - गी त

( टिप्पणी और समभाव-द्योतक सूक्तियाँसहित )

संपादक :

जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रकाशक :

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक

मोतीलाल जालान

गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २०१९, प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य १.५० ( एक रुपया पचास नये पैसे )

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर )

“श्रीहरिः”

## संपादकीय

हिंदी-जननी “ब्रजभाषा-साहित्य” में “भ्रमर-गीत”, वा “भँवर-गीत”-रूप काव्य-सृजनकी परंपरा उस “श्रीमद्भागवत महापुराण” से आयी, जिसके प्रति—

“निगमकल्पतरोर्गलितं फलं,

शुकमुखादमृतद्रवसंयुतं ।

पिबत भागवतं रसमालयं,

मुद्गरहो रसिका भुविभावुकाः ॥”

—भा० १, १, ३,

जैसी लोकानंददायिनी अनेक सरस-सूक्तियाँ स्तुति-रूपमें कही-सुनी जाती हैं । अतः हिंदी-साहित्यमें संस्कृतसे उधार लिया गया यह साहित्य मौलिक रूपमें उस मूलसे कहीं अधिक फला-फूला, यह निस्संदेह कहा जा सकता है । भक्त-कवियोंने तो इस हीरे-जैसे उजले विषयमें अपनी-अपनी प्रतिभा-द्वारा “चार चाँद” ही लगा दिये । उदाहरणके लिये यह “श्रीनंददासजी”-प्रणीत “भ्रमर” वा “भँवर-गीत” प्रस्तुत है । यों तो इस स्तुत्य विषयपर ‘अष्टछाप’ के सुप्रसिद्ध साहित्य-सूर्य “सूरदासजी” एवं “परमानंददासजी”के साथ-साथ रीति-कालके और भी महामान्य कवियोंने, जिनकी संख्या उँगलियोंपर नहीं गिनायी जा सकती, कलम चलायी है, इस पावन विषयको उन्होंने चमकाया भी खूब है, किंतु जैसा श्रीनंददासजीने गुननगरूले नये छंदकी गागरमें सम्पूर्ण भावोंका ‘सागर’ भरा है, वैसा दूसरे कवियोंसे नहीं बन पड़ा है । सच तो यह है कि यह विरह-विभूषित-काव्य-विषय श्रीनंददासजीकी नवरसमयी मुहावरेदार ब्रजभाषाको पाकर सुगठित-रूपमें इतना ऊँचा उठा हुआ है कि उसकी समसरी कोई भी कवि नहीं कर सका है । तभी तो साहित्य-मर्मज्ञोंने आपके प्रति—

“और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया ।”

कहा है। वास्तवमें महाकवि श्रीनंददासजी शब्दों और भावोंके सच्चे ‘जड़िया’ ही थे……।

### “श्रीनंददासजी-कृत ग्रंथ”

महाकवि श्रीनंददासजीकृत निम्नलिखित ग्रंथ देखने और सुननेमें आते हैं—“पाँच मंजरियाँ ( रसमंजरी, विरहमंजरी, रूपमंजरी, अनेकार्थ-मंजरी, नाममंजरी ), रासपंचाध्यायी, भ्रमर-गीत, रुक्मिणीमंगल, भागवत-दशमस्कंध पूर्वाह्न, ( अनुवाद ), श्यामसगाई, सिद्धांतपंचाध्यायी, गोवर्धनलीला, जोगलीला, दानलीला, वेणुगीत, सुदामाचरित्र, कृष्णमंगल, ग्यानमंजरी, नासकेत पुराण, प्रबोध चंद्रोदय नाटक, फूलमंजरी, रानी मंगो, विज्ञानार्थ प्रकाशिका, हितोपदेश ( राजनीति हितोपदेश—भाषा ) और फुटकल पदावली……।” इस नामावलीमें—“पाँचों मंजरियाँ, रास-पंचाध्यायी, भ्रमर-गीत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और अनेक स्थानोंसे अनेक बार प्रकाशित भी हुए हैं। बाकीके आपके ग्रंथ-रत्न यत्र-तत्र बिखरे हुए पड़े थे, जिन्हें संपादकने बड़े परिश्रमसे संग्रह किया है। अतएव इन सभी रम्य रचनाओंमें भाषाका लालित्य, कहनेका ढंग, विषयानुकूल कथानकोंकी उठान, “विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्—रसनिष्पत्ति,” अर्थात् रसोंका सरस रूप, अलंकार, ध्वनि-व्यञ्जना-इत्यादिका उद्भव और विकास आपके पद-पद और शब्द-शब्दसे फूटा पड़ता है।

### “कवि-जीवनी”

अष्टछापके श्रीसूरदास इत्यादि प्रातःस्मरणीय महाकवियोंकी भक्ति भाषा-सम्राट् श्रीनंददासजीका “जीवन-वृत्त” भी अभी तथ्य रूपमें सामने नहीं आया है। वह समयके धुँधले पृष्ठोंपर खेल रहा है, फिर भी श्रीगोकुलनाथजीकृत वार्ता तथा उसपर श्रीहरिरायजीकृत “भाव-प्रकाशिका” टीकाके अनुसार कहा जा सकता है कि आपका जन्म ‘सोरो’ (पुराण-प्रसिद्ध—शूकरक्षेत्र) के पास ‘रामपुर’ ग्राममें पं० आत्मारामजी शुकु सनाढ्य ब्राह्मणके घर सं० “१५९० वि०” के आसपास हुआ था

और लीलाप्रवेश ( निधन ) “सं०—१६७२ वि० में “गोवर्धन”—ब्रज...।  
संप्रदाय-प्रवेशका समय भी “सं०—१६०६ वि०” कहा-सुना जाता है ।  
अस्तु, ये आपके जन्मादि-सूचक संबन्ध जब आपकी रचनाओंका अंतरंग-  
अनुशीलन करते हैं तो वे कुछ उचित प्रतीत नहीं होते—आगे-पीछे हटते-से  
नजर आते हैं, किंतु, जन्मादि-समय कुछ इधर-उधर भले ही हो, पर यह  
निश्चित-सा है कि आप “सोरो—रामपुर” के निवासी, सनाढ्य ब्राह्मण  
आत्मारामजीके पुत्र, भाई प्रसिद्ध साहित्य-शशि गो० तुलसीदासजी, तथा  
आपके पुत्र “कृष्णदास” थे—इत्यादि...। हम यहाँ उपर्युक्त जन्मादि-  
सूचक विवरणके साथ आपके पुरातन प्रशंसक “श्रीनाभादासजी” तथा  
“श्रीधुवदासजी” की वे सरस सूक्तियाँ देनेका लोभ संवरण नहीं कर पा  
रहे हैं, जो उन्होंने श्रीनंददासजीके जन्मादिके प्रति ही नहीं, उनके  
कृत्वके प्रति भी कहीं हैं, जैसे—

“लीला-पद-रस-रीति-ग्रंथ-रचना में आगर ।

सरस उक्ति रस-जुक्ति, भक्ति-रस-गान उजागर ॥

प्रचुर पयोध-लों सुजस, रामपुर ग्राम-निवासी ।

सकल सुकुल संवलित, भक्त-पद-रस-उपासी ॥

‘चंद्रहास-अग्रज’ सुहृद, परम-प्रेम-पद में पगे ।

‘श्रीनंददास’ आनंद-निधि, रसिक सुतन-मन रंगमगे ॥”

—“नाभादास”

“नंददास” जो कलु कह्यौ, राग-रंग में पागि ।

अच्छर सरस सनेह के, सुनत सवन उठ जागि ॥

रमन-दसा अदभुत हती, करत कवित्त सुधार ।

बात प्रेम की सुनत-ही बहत नैन-जल-धार ॥

सरस बाबरौ-सौ फिरै, खोजत नेहिन-बात ।

आछे रस की बात सुनि, बेगि बिबस है जात ॥”

—“धुवदास”

—इत्यादि...। श्रीनंददासजीके इस जीवन-संबंधके प्रति एक बात और,

वह यह कि जैसा ऊपर लिख आये हैं—“आप ( नंददाम ) प्रसिद्ध “श्रीराम-चरितमानस”-रचयिता भक्त-प्रवर “गो० तुलसीदासजी”के छोटे भाई थे ।” इस बातकी पुष्टि “भक्तमाल”-रचयिता नाभादासजीसे आदि लेकर अन्य सभी भक्त-जीवनी लेखकोंने की है। श्रीगोकुलनाथ-कृत ‘वार्ता’ तथा उसपर टीका-कर्ता श्रीहरिरायजी भी यही कहते हैं । साथ ही ये सभी पुष्टिकर्ता श्रीनंददासजीके सम-सामयिक भी हैं, अतः उन्हें अपनी कल्पनासे झुठलाता हुआ आजका संकुचित हृदय साहित्यिक इसे स्वीकार नहीं करता ! क्यों ? इसका समुचित उत्तर उसके पास नहीं है । वह इन सत्य-समुन्नत साक्षियोंको न मानकर बिना आधारके अपनी असत्य-मान्यताको प्रश्रय देता चला आ रहा है ।

### “भ्रमर-गीत”

भ्रमर-गीत, एक विरह-विभूषित काव्य-कथाका विषय है, किंतु उसे विशेष-रूपसे भक्ति, शृंगार और करुण रसोंका रम्य आगार, निर्गुण-सगुण-उपासना-तत्त्वोंका प्रभावशाली विस्तृत सागर तथा ज्ञान-भक्तिका भव्य भंडार भी कहा जा सकता है । कारण, भक्त-कवियोंने जहाँ इस ‘देव-दुर्लभ’ मिश्रणके सहारे “अनेकजन्मसंसिद्धिः”-रूप “मुक्ति-चतुष्टय” जैसे महान् पदार्थको ठुकराकर अपने उपास्यसे “विरहीविकांक्षे” की याचना की है, वहाँ ‘रीति-कवियों’ ने इस विषयके द्वारा शृंगार रसको पूर्ण बनानेका अत्युत्तम उपक्रम किया है । अस्तु, जैसा पूर्वमें कहा है, इसका मूल-कथानक ‘श्रीमद्भागवतमें’ इस प्रकार है—

“ब्रजमें जब अपनी अनेक रस-भाव-भरी ललित लीलाएँ रचकर—  
 “एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं” क्रूर कंसके बुलावेपर  
 अक्रूरके साथ निष्ठुर भावापन्न हो मथुरा पधारे और कंसादिक-असुरोंका  
 संहार कर अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवजीको बंदी-गृहसे छुड़ा  
 महाराज उग्रसेनको पुनः मथुराकी राजगद्दीपर बैठाल दिया, तब अपनेसे  
 बिछुड़े उन प्यारे ब्रजवासियों तथा “प्रेमधुजा-रसरूपनी” ब्रज-ललनाओंकी  
 याद आयी, जिन्होंने—

“संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलं”

रूप मूल-मंत्रको निरंतर जपकर अपने जीवनोको आपपर उत्सर्ग कर दिया था, अतः तद्भाव-विभोर होकर आपने—

“वृष्णीनां प्रवरो मंत्री कृष्णस्य दयितः सखा ।  
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥”

—भा० १०, ४६, १,

को उन लोगोंके सान्त्वनार्थ, वा अपने इस निर्गुणवादी नये सखाको अपने-जैसा रस-सगबगा बनाने, कोरे ज्ञान-गर्वोले उद्धवको पुनीत प्रेमीमें परिणत करनेके लिये ब्रज भेजा...। अतः ब्रज पहुँचकर श्रीउद्धवने पहले बाबा श्रीनंद और माता यशोदा तथा ग्वाल-बालोंके साथ मिले और उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय संदेश दिया। उसके बाद आप ‘ब्रजबालाओं’से मिले और उन्हें आप भगवत्प्राप्त्यर्थ ज्ञानादिके कड़वे काढ़ेको प्रिय-संदेशकी मिसरीमें मिलाकर पिलाना चाहा तो बात बढ़ गयी, फलस्वरूप ज्ञान और भक्तिका संघर्षमय संवाद चल पड़ा। जब वह जय-पराजयकी तुलामें इधर-उधर लुढ़क ही रहा था कि कहींसे उड़ता हुआ एक रस-लंपट भँवरा, जो अपने रूप-गुणोंके कारण गोपियोंको कृष्णके समान, जैसे—

“तेरौ तन घनस्याँम, स्याँम घनस्याँम उतै सुनि ।  
तेरी गुंजँन सुरलि, मधुप उत मधुर मुरलि-धुनि ॥  
पीत-रेख तव कटि-बसै, उत पीतांबर चारु ।  
विपिन-बिहारी दोउ लसत, एकै रूप सुभाउ ॥

—जुगल रस के चखा,”

—वहाँ आ पहुँचा और बिरह-विलुलित ब्रज-वनिताओंके अरुण-कमल-दलके समान पाद-पद्मोंपर गुन गुन करता हुआ बैठने, अथवा उन्हें चूमनेको मँडराने लगा तो प्रेम-रस-विह्वला गोप-ललनाओंके श्रीमुख खुल गये तथा उस उपस्थित भ्रमरकी ओटमें छिपे प्रेमका ढोंग रचनेवाले मथुरिया कृष्णके प्रति जो-जो तीखे, फिर भी मधुरसे मधुरतर तीर छोड़े गये, वही “भ्रमर”

वा “भँवर गीत” के विषय रूपमें बंदनीय बना । अस्तु.....जड़िया नंददासजीने इस भागवत-वर्णित शृंगार-रससे सिंचित भक्ति वा प्रेम अथवा ज्ञानके विस्तृत चौगानमें ज्ञानी उद्धव और प्रेम-योगिनी गोपियों-द्वारा निर्गुण-सगुणकी गोटोंसे खेले गये इस खेलको अपने ढंगसे अपनाया और उसे बेहद सजाया—तर्क-वितर्कके हृदयहारी बटखरोंसे तोल-तोलकर संपूर्ण सरस वर्णन इस अनोखी भाँतिसे प्रस्तुत किया कि जन-जनके चुटीले हृदयोंका हार बन गया ।

### संपादन कथा

इस “प्रेम लपेटे अटपेटे”—भव्य भावोंसे भरे “अमर-गीत”—संपादन-प्रकाशनकी भी अनेक दुःख-सुखोंमें पली एक विशद कथा है, जिसे चिर-प्रेक्षित प्रकाशनके समय कहना नहीं चाहता, फिर भी उस गाँठ-गठीली अकथ-कथाके प्रति इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि ‘श्रीनंददासजी’के इस गुननगरूले ग्रंथका प्रकाशन आज दो युगोंके बाद हो रहा है । प्रेस-कापी वर्षों इधर-उधर अनेक मान्य विद्वानोंके करकमलोंमें खेलती हुई उनके सद्विचारोंसे भी अलंकृत और पल्लवित होती रही । इन मान्य महानुभावोंमें पहलेके “बाबूजी” और अबके “राजर्षि” श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन, श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय, पंडितप्रवर श्रीझावरमल्ल शर्मा तथा डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल प्रमुख हैं, अतः संपादक—

“अन्ये चापि महाभागाः सहाया ग्रंथ-निर्निता ।

ते सर्वे सुप्रसीदंतु नामतो न स्मृता ममः ॥”

के साथ इनका अति ऋणी हैं । साथ-ही परम भक्त विद्वद्भर श्रीहनुमान-प्रसादजी पोद्दार संपादक—“कल्याण”, जिन्हें हम जैसे क्षुद्र लोग प्रेम-बस “अपना” बनानेके लिये “भाईजी” कहा करते हैं, के भी अति आभारी हैं, जिन्होंने अनेक-बार कड़वे उलाहनोंकी सहकर भारतके सुप्रसिद्ध प्रेस—“गीताप्रेस”में मुद्रित करा सुंदर रूपमें प्रकाशित किया है ।

संपादनकी आधार-भूत बीसों हस्त-लिखित तथा मुद्रित-प्रतियोंका लेखा-जोखा भी आज प्रकाशनके समय स्मृति-पटलसे ओझल हो गया है,

जिसका हमें खेद है । न मालूम कितने स्थानोंसे अमूल्य हस्त-लिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ एकत्रित की गयी थीं । उनमें तीन जैसे— “भरतपुर-राज्य पुस्तकालयकी सबसे प्राचीन और शुद्ध प्रति तथा बा० राधाकृष्णदास संपादित “हरिश्चंद्र-चंद्रिका” में और बा० बालमुकुंद गुप्त संपादित “भारत-मित्र” प्रेस कलकत्तासे प्रकाशित प्रतियोंको नहीं भुलाया जा सकता । अंतिम दोनों आदरणीय मुद्रित प्रतियाँ ब्रजभाषाके सौष्ठवसे—व्याकरणसे अलग हैं, फिर भी नमन-योग्य हैं, क्योंकि आप लोगोंने इसे मुद्रणका अमृत पिलाकर विकृत-रूपमें सही,—जीवित रक्खा है । साथ-ही संपादक उन महानुभावों, कवियों तथा ग्रंथ-रचयिताओंका भी बहुत-बहुत ऋणी हैं, जिनकी कोमलकांत पदावलियों एवं विद्वत्ताभरे विचारोंसे विभूषित कर इसे इतना पल्लवित किया गया है । और, अंतमें यह भी कि मुद्रणसे पूर्व प्रेस-कापी देखनेमें न आयी, सो न आयी । प्रूफ भी, विशेषकर आगेके तीन फर्माँका जिनमें मूल छपा है, तब देखनेमें आया जब संपादक अधिक रूग्ण था, अतः उसमें गलतियोंका रह जाना कोई आश्चर्य-जनक नहीं । उदाहरणके लिये पृ०—“३५” पर मूलकी अंतिम पंक्ति “सुँनों नँद-लाड़िले” के स्थानपर “सुनों नँद-लड़िले”, तथा पृ०—८३, पं० ११—पर “धोंधी” के स्थानपर—“नैधी” तथा इसी भाँति पृ०—२३९, पं०—७ पर “द्वै द्विगुनी” के स्थानपर “द्वै द्विगुनी” छप गया है । इस प्रकारकी और आंतियाँ भी होना संभव हैं, अतः संपादक उनके लिये क्षमा-प्रार्थी है, विज्ञ-पाठक उन्हें उचित रूपमें परिष्कृत कर लेंगे ऐसी आशा है ।

मथुरा  
“राम-नवमी”  
संवत् २०१९ वि०

—जवाहरलाल चतुर्वेदी



## अनुक्रमणिका

उद्धृत पद-सूची-१. संस्कृत,	...	...	१
२. हिंदी,	...	...	१७
३. उर्दू,	...	...	२७
१-भ्रमर-गीत ( मूल )	...	...	१
२-टिप्पणी और समभाव-द्योतक सूक्तियाँ,	...	...	४१
३-परिशिष्ट ( क )			
भ्रमरगीत : श्रीमद्भागवत्	...	...	३४९
४-परिशिष्ट ( ख )			
भ्रमरगीत : श्रीसूरदास,	...	...	३७५
५-परिशिष्ट ( ग )			
जुक्ति-समूह : सदा शिवलाल,	...	...	३७८



---

---

# उद्धृत पद-सूची

---

---



श्रीहरिः

# उद्धृत पद-सूची



“संस्कृत”

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

अ

अंकं केऽपि शशांकिरे जलनिधे०	१९७
अंगानि मे दहतु०	२९४
अंगैर्वेषैरलंकारैः०	१२४
अंधन्तमः प्रविशन्ति०	२१२
अंशवो ये प्रकाशंते०	२८५
अकामो धीरो अमृतः०	५०
अक्षात् इंद्रियात् जायते०	२१४
अतलं वितलं चैव०	१४५
अत्र चोपनिषच्छब्दो०	१८०
अथ गोपीरनुज्ञाप्य०	३३०
अथातो भक्तिजिज्ञासा०	३०७
अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः०	३०५
अथापराह्णे भगवान्०	५३
अद्वैतं सुखदुःख०	६०
अद्वेष्टा सर्वभूतानां०	१६७
अधो न क्षीयते०	२१४
अधोभूते प्रत्यक् प्रवाहिते०	२१५
अधोभूते ह्यक्षगणे०	२१५
अनन्यपूर्वा द्विविधा०	१६६

अनपेक्षः शुचिर्दक्षः	१६७
अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं०	५८
अनुदिनमति तीव्रं०	२९३
अन्यदेवाहुर्विषया०	२१२
अर्चयामेव हरये०	१६७
अर्धांगुलांतराणि स्यूः०	९६
अश्रुच्छलेन सुदृशो०	२९५
अष्टावेव रसा नाट्ये०	४९
अस्मत्प्रयाणसमये०	२९४
अस्य महतो भूतस्य	१९०
अहं किलेंद्रो देवानां०	२८२
अहमिंद्रो हि देवानां	२८२

आ

आकाशवापीसितपुंडरीकं०	१९६
आकुंचितं कमोलाक्षं	७२
आगमिष्यत्यदीर्घेण०	७९
आग्नेयमष्टमं चैव०	१८१
आज्ञायैवं गुणान्दोषा०	१६८
आत्मानं गोपयेद्०	३०१
आत्मा कलेवरे यत्ने०	१७७

आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः० ... १५१

आसामहो चरणरेणुजुपां० ... ३२१

इ

इंद्रः सुरर्षिभिः साकं० ... २८३

इच्छाद्वेषप्रयत्न० ... १७९

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः० ... २८८

इति संस्मृत्य संस्मृत्य० ... ६७

इत्थं कर्मगती गच्छन्० ... १५९

इष्टे स्वारसिको रागः० ... २०९

ई

ईश्वरे तदधीनेषु० ... १६७

ईर्षद्विकासि नयनं० ... ७३

ईर्षदृष्टकहसितैर्दन्तैः० ... ७२

उ

उत्पत्तिं प्रलयं चैव० ... २०६

उदासीनवदासीनो० ... २०५

उद्धवो देवभागस्य० ... ४२

उपोपसर्गः सामीप्ये० ... १८०

ऋ

ऋतेऽर्थं यद् प्रतीयेत० ... २८७

ए

एतन्मतं समातिष्ठ० ... २८७

एतन्मते सुनिष्पन्नं० ... ८७

एतावदेव जिज्ञास्यं० ... २८७

एवं लोकं परं विद्यान्० ... १५९

एष ह्येवैनं साधुकर्म० ... १५७

ऐ

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य० ... २०६

ओं

ओंईशावास्यमिदं० ... ९१

क

कर्मणा जायते सर्वं० ... १५४

कर्मणैव हि संसिद्धिः० ... १६४

कर्मण्यकर्म यः पश्येद्० ... १५८

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं० ... १५८

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य० ... १५४

कर्माणि कर्माभिः कुर्वन्० ... १५९

कर्माणि दुःखोदकर्माणि० ... १५९

कर्मेन्द्रियं तु पाय्वादि० ... १६२

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य० ... १५३

कलिलमंबरमाकलयन्० ... १९६

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा० ... २४८

काम एष क्रोध एष० ... १५५

कामैरहतधीर्दान्तो० ... १६८

कुरु करे गुरुमेकमयोधनं० ... १९७

कुर्व्वन्नेवेह० ... १५२

कृपालुरकृतद्रोहं० ... १६८

कृष्णभावनया सिद्धा० ... १६५

कृष्णाय प्रणिपत्याह० ... ३३४

के जले शववत्भातीति० ... २८७

केशं केशिन वाति० ... २८७

केशसंज्ञितासूर्यादि० ... २८५

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
केशौ ब्रह्मरुद्रौ०	... २८६	ज	
को ब्रह्मा ईशः रुद्रः०	... २८६	जम्बूपृक्षशात्मलि०	... १४५
को ब्रह्मेति समाख्यात०	... २८६	जगदाच्छादयति माययेति०	२१४
ग		जाड्यं धियो हरति०	... ३२४
गमयत्यस्तसंभेद०	... १८०	जानाम्यहं शेवधि०	... २११
गां विंदता भगवता०	... २८४	जुष्टे मुजालामुखरंघ्र०	... ५३
गां वेदलक्षणां वाणी०	... २८४	ज्येष्ठानां स्मितहासिते०	... ७२
गात्रं वपुः संहननं शरीरं०	३४२	त	
गायंत्यः प्रियकर्माणि०	... २८८	तं प्रश्रयेणावनता०	... ७६
गुणमाहात्म्यासक्ति०	... २११	तं श्रीमदुद्धवं वंदे०	... ३२९
गुणरहितं कामनारहितं०	... ५९	तच्चैतन्यविशिष्टदेह०	... १७८
गुणाः सृजन्ति कर्माणि०	... १५९	ततः कुमुदनाथेन०	... १९६
गृहीत्वापीन्द्रियैरर्था०	... १६६	ततस्ताः कृष्णसंदेशै०	... ४३
गोप्यस्तु श्रुतयो०	... ३०२	तत्राशीतिसहित०	... १८०
गोभिरेव यतो वेद्यो०	... २८४	तत्त्वं चिंतय सततं०	... ३२५
गोभिर्वाणीभिर्वेदान्त०	... २८३	तत्त्ववित्तु महाबाहो०	... १५८
गौणी त्रिधा गुण भेदा०	... २०९	तथैवानन्यपूर्वाश्च०	... १६५
गौर्नादित्ये वलीवर्दे०	... २८३	तदु होचू कः कृष्णो०	... २८४
गौरैषा तु यतो वाणी०	... २८२	तद्भूरिभाग्यमिह०	... २४६
गौ स्वर्गे वलीवर्दे०	... २८३	तपस्विभ्योऽधिको योगी०	... ३०७
च		तस्मादसक्तः सततं०	... १५८
चिंता तु स्मृतिराध्यानं०	... ८०	तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत०	... १९०
छ		तुलयामलवेनापि०	... ३२३
छादयामि जगत्सर्व०	... २१४	तुल्यनिंदास्तुतिमौनी०	... १६७
छादयामि जगद्विश्वं०	... २१४	तौ ह यदूचतुः कर्म०	... १५३

पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या	
त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं०	... १५८	न माता न पिता तस्य०	... १३१
त्यक्त्वा फूत्कारमुषिरं०	... ९६	न रोधयति मां योगो०	... ३२३
त्रिविधस्य सदर्थस्य०	... १८०	नवकुंकुमचर्चितारजन्या०	... १९६
<b>द</b>		नष्टां च धरणीपूर्व०	... २८२
ददर्श तां स्फाटिकतुंगगोपुर०	५३	न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके०	२१०
दर्शने स्पर्शने वापि०	... ६०	न हि कश्चित्क्षणमपि०	... १५३
दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः	... १३१	नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं०	... १६४
दुष्यन्तः सर्व पुनर्भेजे०	... ७८	नित्यसुखावाप्तिः मुक्तिः०	... १५१
दृष्टं श्रुतं भूत०	... १३१	नियतं कुरु कर्म त्वं०	... १५३
देवमीदृश्य सूरस्य०	... ४१	निराशीर्यत चित्तात्मा०	... १५८
देहेन्द्रियप्राणमनोधियां०	... १६६	निहन्त्य विद्यां०	... १८०
द्यौरक्षं पृथिवी चाद्यं०	... २१५	<b>प</b>	
द्वयोरपि भ्रात्रोरुद्धव०	... ४३	पंचस्वं तनुरेति भूतिनिवहा०	३१६
द्वापरे द्वापरे विष्णु०	... १७६	परीक्ष्य लोकान्कर्मचिता०	... २१२
द्विधा ज्ञानं तु०	... ८८	परोपकाराय पुण्याय०	... १५४
द्वीतं तदेव द्वैतं०	... ८८	पश्य चंद्रमुखी चंद्रमंडलं०	१९७
द्वेषप्रतिपक्षभावा०	... ३०७	पापकर्षणो गोभूमिवेद०	... २८४
<b>ध</b>		पिनष्टीव तरंगाग्रैः०	... १९६
धन्या गोकुलकन्या०	... १२२	पुनस्ता एव त्रिविधा०	... १६६
ध्यानं बलात् परमहंस०	... ९७	प्रकाशं च प्रवृत्तिं च०	... २०५
<b>न</b>		प्रकृतेर्गुणसंमूढा०	... १५८
न कामकर्मवीजानां०	... १६६	प्रणमति पश्यति०	... ५७
न खलु गोपिकानंदनो०	... ३०१	प्रत्यग्रूपः परागरूपा०	... १७७
न चक्षुषा गृह्यते०	... १३२	प्रत्यस्तमितभेदं०	... ८६
न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं०	३०५	प्रलयपयोधिजले०	... १२५
न पारयेऽहं निरवद्यमंयुजां०	३०४		

	पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
व		यदाकिंचिच्चोऽहं	... ३१२
बुद्धियुक्तो जहातीह०	... १६४	यदृच्छालाभसंतुष्टो०	... १५८
बृहत्वाद्०	... ८६	यदेतच्चंद्रांतर्जलदल०	... १९६
ब्रह्माभावपरे०	... १६२	यथासौ कुरुते तन्वी०	... १७६
ब्रह्माग्नौ सत्यं०	... १६२	यस्मात्त्वयैव दुष्टात्मा०	... २८७
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हवि०	... १६२	यस्मान्नच्युत पूर्वोह०	... ११०
ब्राह्म पात्रं वैष्णवं च०	... १८१	यस्मान्नोद्विजते लोको०	... १६७
भ		यस्य भक्तिर्भगवति०	... ३०६
भंगश्री योनिवीर्येच्छा०	... २०६	या दोहनेऽवहनने०	... १४५
भक्तानां मम योगिनां	... २२४	यावदवभासयति०—	... १४५
भाग्योदयेन बहुजन्म०	३००, ३२४	युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा०	... १५७
भिन्दन्नंबुभृतश्चमत्कृति पदं०	... ९७	युगे युगे प्रणष्टां गां०	... २८४
भूत तन्मात्ररूपां वैजयन्त्या०	... २३५	युवयोरेव नैवाय०	... १३१
म		ये तु धर्म्यामृतमिदं०	... १६७
मत्स्यं च गारुडं चैव०	... १८१	योगस्थः कुरु कर्माणि०	... १६४
मधुरम्बरं विहसितं०	... ७३	योगः सन्नहतोपायः०	... १२७
मानापमानयोस्तुल्यं०	... २०५	योगिनामपि सर्वेषां०	... ३०७
मुक्तिस्तु द्विविधा साध्वि०	... १५०	योनिमन्ये प्रपद्यन्ते०	... १५३
मुद्गप्रीति प्रमदो हर्ष०	... ५१	योन हृष्यति न द्वेष्टि०	... १६७
मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे०	... २३७	र	
य		रत्याथासमनस्ताप०	... २९८
यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र०	... १५३	रसो वै सः०	... ५०
यतोऽवसादयेद्विद्या०	... १८०	राजसी तामसी चैव०	... १६५
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां०	... १५३	व	
यत्तद्द्रेश्यमग्राह्य०	... १११	वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणां०	... ३२१
यत्रावतीर्णो०	... ७८	वर्णयामि महापुण्यं०	... ७८
यथाकारी यथाचारी०	... १५७	वत्तुलः सरलश्लक्ष्णो०	... ९६
यथा महान्ति भूतानि०	... २८७	वसति वासयति आच्छादयति०	२१३
		वसाशुक्रमसृग्मजा०	... २९९

पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या	
वसुदेवं देवभागं०	... ४१	संतुष्टः सततं योगी०	... १६७
वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं०	१६८	संमोहानंद संभेदो०	... ३०८
वाराहं द्वादशं चैव०	... १८१	सभ्यङ्गमसृणित०	... ६०
वासनात्सर्वभूतानां०	... २१४	सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो०	... १५८
विषज्जल्पय्याद् व्यालराक्षसाद्०	२२५	सत्यपि भेदापगमे नाथ०	... ३४६
विष्णुर्विक्रमणाद्वेवो०	... २८४	समदुःखसुखः०	... २०५
विसृज शिरसि पादं०	... २६०	समः शत्रौ च मित्रे च०	... १६७
वीता संगः शयन वसन०	... ३३९	सयथाऽऽद्वैधामरेभ्या०	... १९०
वीथीषु वीथीषु विलासिनीनां०	१९६	सर्गश्च प्रतिर्गश्च०	... १८१
वीर्यं तेजो बलं चारुपं०	... १७६	सर्वभूतेषु यः पश्येद्०	... १६६
वृष्णीनां प्रवरो मंत्री०	... ४१	सात्वस्मिन्परमप्रेमरूपा०	... २०९
वेदद्रुमस्य मैत्रेय०	... १७६	सात्त्विकी तामसी चैव०	... १६६
वेदोक्तमेव कुर्वाणो०	१६४, २१२	सा न कामयमाना०	... ३०६
वैणवः खादिरो दांत०	... ९६	सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य०	... १४९
व्रतानि यज्ञाश्छन्दांसि०	... ३२३	सुस्वरं करुण दीर्घस्वरे०	... २८८
<b>श</b>		सुस्वरं निर्लज्जतया	... २८८
शंकरार्धतनुवद्ध पार्वती०	... १९६	सूतिर्दुग्ध समुद्रतो भगवतः	... २०३
शरीरेन्द्रियाभ्यामात्म०	... १५१	सौवर्णशृंगाटकहर्म्य०	... ५३
शांतस्य शमसाध्यत्वा०	... ४९	स्वदैर्घ्यमानदैर्घ्यं०	... ९६
शिक्षाकल्पो व्याकरणं०	... १७५	स्वरिपुतीक्ष्ण सुदर्शनविभ्र०	... १९७
शीर्षां गोकुल मंडली०	... ३३९	स्वरूपसामर्थ्यानन०	... ११०
शुचिस्मिताः कोयमपीच्य०	... ७५	स्वर्गेषु पशु वाग्वज्र०	... २८३
शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः०	... ८८	स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः०	... १५३
शूररस्यापि मारिषा०	... ४२	<b>ह</b>	
शृंगारहास्यकरुणः०	... ४९	हस्तद्वयाधिकामाने०	... ९६
श्रबनं कीर्तनं विष्णो०	१६५, २१०	<b>ज्ञ</b>	
<b>स</b>		ज्ञात्वाज्ञात्वाथ०	... १६८
संज्ञानामानि गायत्र्यां०	... २८५		

# उद्धृत पद-सूची



“हिंदी”

पृष्ठ-संख्या

पृष्ठ-संख्या

अ

अंग त्रिभंग किए मन मोहन,	१०२
अमृत ऐसे बचन मैं०	२५६
अमृत का ऐचि धरथौ०	२०१
अजौ तरौना हीं रह्यौ०	९५
अति सूच्छम कौमल अति०	६०
अति सूधौ सनेह कौ मारग है०	१०८
अति ही अँनंद कंद चंद्रिका- सुधा०	१९८
अधर-धरत हरि के परत०	१०३
अधिक अधिक तें सुजान रीति०	२५६
अपने सगुन गुपालै माई०	१७०
अपने स्वारथ के सब कोऊ	२४४
अब अति चकितवंत मन मेरौ,	३०४
अब अति पंगु भयौ मन मेरौ	३१२
अब नीकें कै जानि परी,	२७४
अमी हलाहल मद भरे०	२९७
अरघासन दै०	७४
अरी, बैसुरिया बाँस की०	१०३
अलख-जाल इन दृगँन सों०	१९१
असीचार लच्छ जाति०	१२७
अहो, इन झूठेन मोहि भुलायौ,	१६०

आ

आँखिन में छावौ अनुराग०	३३५
आँगन में मत सोवैरी राधे०	१९८
आए कदा कहिकें कहिए०	२९२
आए दौरि पौरि लों अबदि०	३४३
आए माई, दुरंग स्याँम के संगी,	२६५
आए लौटि लजित नवाएँ नैन०	३३६
आगि जराइ सकै नहिं०	१३३
आजु ब्रज कोऊ आयौ है	७६
आदि-अंत ताकें नहिं०	१३३
आपुलगति बेचति मनहिं०	९५
आपुन के बिछरें मन मोहन०	२९३
आरजव अहिंसा०	१२८
आबत उसासी, दुख लागै०	२५३

इ

इक अंगी बिन कारनें०	६०
इक दिन मानता वेराजा०	१४७
इहि अंतर मधुकर इक आयौ,	२१८

उ

उधरि आए काँन्ह कपट की- खाँन	२२९
उठि गई सिद्धता तिहारी- उपदेस०	३४६

उद्धव विकल विलोकि कें० ३४६

उद्धव बेगि-ही ब्रज० ... ४३

उलटापलटी करहु० ... ५८

## ऊ

उद्धव एक सँदेसौ इहै ... २५४

ऊधव के चलत० ... ४३

ऊधौ, आए आए० ... ६८

ऊधौ, ऐसौ भक्त मोहि भावे, १६८

ऊधौ और कछू कहिये कों, १०५

ऊधौ, करि रहाँ हम जोग, १३६

ऊधौ, कछौ तिहारौई कीबौ, १३८

ऊधौ, कारे सबहि बुरे, ... २७९

ऊधौ, चरचा करी न जाइ, १९१ २७६

ऊधौजू, सूधौ गहौ वह मारग० २५६

ऊधौ, तुम न जानत प्रेम, ... १३७

ऊधौ, तुम ब्रज पेंटि करी, २७०

ऊधौ, बार-बार सिर नावत, ३२१

ऊधौ, बृथा करत बकवाद, २७०

ऊधौ, बेगि मधुबँन जाहु, ... २६९

ऊधौ, भलौ ग्याँन समझायौ, ३४५

ऊधौ, मुखहिं आवति गारि, १३७

ऊधौ, मोहि ब्रज बिसरत नाँहीं, ३४५

ऊधौ, मोहिं ब्रज भूलत नाँहीं, ३४५

ऊधौ, यै ग्याँन कौ बखॉन १४१

ऊधौ, सबँन समोधि० ... ४४

ऊधौ, सूधें नैक निहारौ, ... २७५

ऊधौ, सो मूरत हम देखी, ... १२०

ऊधौ, हमहिं न जोग सिखैऐ, १३६

ऊधौ, हरि कहिएँ प्रतिपालक, २२६

ऊधौ, है नू हरि के हित कौ, १८७

## ए

ए अलि, जनम-करम गुँन गाए, १२०

एक घरी आधी घरी० ३२९

एरे मतिमंद चँद० ... २०२

एहो नँद-नँद अरविंद मुखी० ३५१

एहो वंक लोचन विलोकनि० ३४२

## ऐ

ऐसे नंदराइ के बारे, ... २७८

ऐसौ कव करिह मन मेरौ, ३१६

ऐहि उर हरि रस पूरि गयौ, १३९

## औ

और बिष जेते तेते प्राँन के० १००

और रसन लै जान-ही० ... ९५

## क

कंचन के पिंजरा परे खंजँन० ११३

कछुक देरि करि कें बिलमँ० ३३५

कजरारी अँखियान में० ... ५५

कढ़त निसाकर दिवाकर सौ० १९९

कढ़म की छाँह हो जमुना का० ३१८

कढ़म-कुज है हों कवै० ... ३१४

कव कालिंदी कूल की० ... ३१५

कव दुखदाई होइ गौ० ... ३१५

कव बृंदाबँन-धरनि में० ... ३१५

कवहुँक हँसि उठि नृत्य० ३०८

कबीर, चँदन का बिड़ा० ... ३२८

कबीर, संगत साध की० ...	३२७
कबीरा, संगत साध की जौकी०	३२८
कबीरा, संगत साध की ज्यों०	३२८
कबीर, संगत साध की बेगि०	३२७
कबीर, संगत साध की हरै०	३२८
कबीर, सोई दिन भला०	३२८
कबै झुकत मो ओर कौ०	३१५
कर बिन कैसे गाय०	१२२
करम कुहाड़ा अंग बन०	१५९
करम प्रधान बिस्व रच०	१५९
कह प्रभु ससिमहँ मेचकताई०	१९७
कह हनुमंत० ...	१९७
कहा कान्ह तैं कहिनो० ...	२७१
कहा दवागिन के रिँ० ...	२२५
कहा नाम, आए कहाँ० ...	५४
कहियो पथिक संदेसवा०	२२०
कहैं सकल गोपी अहो०	२५४
कहौ अद्वैत कहाँ ते आयौ ...	१७२
कॉनन दूसरौ नाम सुनों नहिं०	२५०
कॉन्ह कुँमर के कर पल्लव पै०	११७
कॉन्ह दूत कैधों ब्रह्म दूत०	१८८
कॉमधेनु ऐनमें अधानों रहैं०	१७२
काछौ कछें पटपीत कौ सुंदर०	५५
काल्हि के कॉन्ह गए मथुरा०	२९२
काहु न कोइ सुख-दुख- कर दाता० ...	१५९
काहे कौं रोकत मारग सूधौ,	१०५

काहे गोपीनाथ कहावतो ...	२५२
किधों है बसीकर कौ० ...	९८
किरै घटै छीजै नहीं० ...	१३३
कीजै ग्याँन भाँनु कौ प्रकास०	१०८
केकी जो बनाऔ तौ० ...	३२०
कॉन ठगोरी भरी हरि आज०	१०३
कोउ बिन-भजन तरिहै नाहिं,	१६०
कोऊ कहै है कलंक० ...	२००
कोऊ चले काँपि संग० ...	३३२
कोऊ जोरि हाथ कोऊ० ...	३३१
को गोपाल कहाँ कौ वासी,	२३३
कोटि घटँनमें विदित ज्यों०	९२

## ख

खोइ कैं सुधंस वंसी० ...	९९
-------------------------	----

## ग

गगँन गयंद पै करि हंका— वंका० ...	१९९
ग्याँन बिनां कहूँ हूँ सुख नाहीं,	९१
गिरि कीजै गोधन० ...	३१४
गेह ना सुहात हमें मेह-से झरे- हैं नैन० ...	२६७
गोपी-ग्वाल-नंद-जसुधा० ...	३३३
गोपीं पदमासन चित लावौ०	१६४
गोपी, प्रेम की धुजा ...	४८
गोपी, सुनों हरि-कुसलात,	७९
गोपीं, सुनों हरि संदेस,	७९, ९१
गोरे नंद, जसोदा गोरी० ...	५५
गोरे श्रीनंदराइ जू० ...	५५

ब

घनआँद जीवन मूरि मुजॉन० २९२  
घहरि-घहरि घन सधन चहूँधॉ० २९८

च

चंदन लगाइ नंद-नंदन कों० २६७  
चरन छिदत काँटेन ते० ... ३१५  
चल चितपारद की दंभ० ... ३३५  
चले न प्रँन बनितॉन के० ३३०  
चहिऐ इन बातँन साँ प्रेम, २०८  
चातक चुहल चहुँओर चाँहे० २२२  
चार चंद्रिका सिंधु में० ... २००  
चुप रहौ ऊधौ, सूधौ पथ० ... १४०

छ

छित-पति मोल पमु० ... ३१६  
छिन-हिं चढ़े छिन ऊतरौ० ६१  
छीनी छवि मृग-मीन की० ९५  
छवै छिगुनी पहुँचौ० ... २३९

ज

जगमगात है हॉन कों० ... २०१  
जगसपनों सौ० ... १८८  
जदपि न्हात न अर्थ गति० ३१३  
जन्म कौ पत्रा है० ... १२१  
जब सुधि आवै तब० ... १३८  
जनीं जड़-वंस तें० ... ९८  
जबै द्रवें दीनदयाल० ... ३२६  
जस-रस मधुर लुनाई० ... २९०  
जसोधानें कारी अँधेरी० ... ५५  
जाकें मुँहँ माथा नहीं० ... ११२

जाकें रूप वरन वपु० ... १३२  
जा-जारे भँवरा, दूरि-दूरि० ... २४९  
जादव कौ वैरी० ... ७६  
जादिन संत पाहुँने आवत, ३२५  
जानत सब कछु प्रेम० ... ५९  
जानें कहा हम मूढ़ सबै० ... २५२  
जाल परें जल जाति बहि० ... २२१  
जायौ हरि निरमोहिड़ा रे० २६१  
जाहि कहौ तुम्ह० ... १३१  
जाहुजू जाहुजू, दूरि हटौ० २७१  
जित देखों, तित स्याँम-  
मई है, ... १०६, २५०  
जीवौ, जसुधा पूत तिहारौ, ११८  
जेते सुर लीने उर० ... ९९  
जैसे ईख-रम की मिठाई० ... ९२  
जैसे भयौ बाँमन अवतार, २३५  
जैसे काँन्ह तैसेही उद्धव० ... १२२  
जैसे काँ तैसे मिलै० ... २६७  
जोकछु उपजत आइ उर० ... ९५  
जोग को रमावै औ समाधि० १४१  
जोग-ठगोरी ब्रज न बिकै है, २७०  
जोग देंन गयौ होबियोग० ... २९१  
जोगिनि की भोगिनि की० ... १७२  
जोगी पावै जोग सू० ... १७१  
जोगी होइ सो जोग बखॉनें० १७०  
जोड़ कौ खोज लाल, लरिऐ, २२४  
जोति सरूपी आत्मा० ... ११२

जो दासी के बस भयौ० ...	२५३
जो सुख होत भगत घर आएँ,	१६९
जो मथुरा हरि, जाइ बसे ...	२५२
जौ पै ईस्वर साँचौ जान, ...	२१३
जौ रहीम, करिबौ हुतो० ...	२२५
ज्यों-ही कछु कहँन संदेसौ० ...	३३६

## त

तचै ताप बैबरन है० ...	३१०
तथ्यौ आँच अति विरह की०	२९४
तज पद हट जानें वौ० ...	२६०
तजि ब्रज-बालनि कौ मथुरा०	२७१
तब गोबरधँन नख धरयौ०	२२६
तब तें बहुरि दरस न० ...	२७४

तब बोली ब्रज-बाल० ...	६७
तरनिजा-तट बंसीबट ...	१०७
तात मिलै, पुनि मात मिलै०	३२९
तात स्वर्ग अपवर्ग-सुख० ...	३२६
तीन पैग पुहुमी लई० ...	२३९
तुम जो करी, सो कोउ- न करै० ...	३०४

तुलसी, संगत-साध की० ...	३२८
तेरौ तन घनस्थौम० ...	२५९

## थ

थंभन पुहुमि हियौ० ...	१२९
थी, सरस्-चंद्र की जौन्ह खिली०	१९८
थेगरी न लागै ऊधौ० ...	२२४

## द

दंडक वन, आए दोउ भाई,	२३४
----------------------	-----

दसरथ सों रिषि औनि कह्यौ,	२३२
दादू पाती प्रेम की० ...	१७१, २७६
दादू, राताराम का० ...	१७१, २७६
दाबि-दाबि छाती० ...	३३२

दिन दस घोष चलौ गोपाल, ...	३४०
दीन भए जल मीन अधीन, ...	२२०
दीन्योप्रैम-नेम गरुवाई० ...	३३२
दुरी, दुराएँ-हूँ हिऐँ० ...	१०३
देखिरी, आजु यै गोप-बधू०	३११
देख्यौ, देख्यौ सब ही सहूर०	१०१
दै करि अरघ लए भीतर तें०	७४
द्वारें ठाढ़े हैं द्विज बामन, ...	२३६

## ध

धन, जोवन, रूपादि तें० ...	३०९
धाँई जिन तिततें बिदाई हेत०	३३१
धाँई धौम-धौम तें० ...	६७
धिक काँन जौ दूसरी बात०	१३९
धूरि उड़ावत सीस पै० ...	१३५

## न

नंद कौ पालक हो पहिलें०	२५९
नंद जुत नौऊ उपनंद नौऊ०	३४१
नंद महर सों कहति जसोदा०	११५
नमो निरंजन निरंकार० ...	१३३
नया-पुराना होइ ना० ...	१३३
न लाज तीन लोक की० ...	३०८
नाँम नहीं औ काँम सब० ...	१२२
नारद परासर० ...	४८
नामिका की नारी तीग० ...	१२८

नाहिंन रही मन में ठौर, ...	१७१
न्हात-ही न्हात० ...	५६
निठुर बनि बध्धौ है ब्याध ज्यों०	२३८
नित्त बिचारन जोग० ...	६१
निपट लजीली नबल तिय०	३१०
निरगुन कौन देस कौ बासी,	११९
निराकार, आकार सब० ...	११२
निसदिन बरसत नैन हमारे,	२९३
नीर भरि धरिऐ अनेक घट० ...	९२
नीकें सुनों स्याँम सुजाँन,	३४०
नैन-धँन रहत न एक धरी,	२९१
नैन द्रवें जलधार बह० ...	३१५
नैनन आगें देखिऐ० ...	११२
नैम, ब्रत संजम के पीजरै० ...	२१७
नेति, नेति कहि निगम पुनि०	१३३

## प

पंगुन कां पंगु होत० ...	१००
पंच तत्त्व में जो सच्चिदानंद०	९३
पतिथाँ पठाए अस्तुपात० ...	२१७
परसराम जमदग्नि-धर० ...	२४०
पलनि प्रघट बरुनीन बढि०	३११
पहिलें घनआँनद सीँचि० ...	२१९
पहलें-ही जाइ मिले गुन में०	१०७
पाँइ-विन धावै, करै० ...	१२१
पाँम किऐँ हू दवानल० ...	१०२
प्राती, मधुवन- हीतें आई ...	६९
पाती लिख ऊधौ कर० ...	४२

पारसै परसि लोह० ...	१३९
पिक, केकी, कोकिल कुहुँक०	३१५
पिय-देखँन मानों रमाँ उझकी०	२००
पियारौ पैऐ केवल प्रेंग तें, ...	१९१
पुलकि रौम सब अँग-अँग छाए	०६७
पूरब हँसित बनिता कौ मुख०	२०२
पोर-पोर तन आपनों० ...	१०३
प्रथम कस पूतना पटाई, ...	२२७
प्रथम सुनें भागवत० ...	१६९
प्रथमै पदस्य ध्यावै० ...	१२९
प्रात-ही जसोधा-नंद जू सों०	३३१
प्रीति कुलीनन सों निबहै०	२५४
प्रीति जु है मो पीव की० १७१	२७६
प्रीति प्रचंड लगै परब्रह्म-हि०	३२९
प्रेंम नैम गहें नेह० ...	२२३
प्रेंम-समुद्र अथाह है० ...	६२
प्रेंम हरी कौ रूप है० ...	६१

## फ

फिर-फिर कहा बनावति बातें०	१२०
फूँकि कें आई सबै बन कों०	१०२
फूलन की सुभ गेंद नई० ...	१९९

## ब

बंसी, बंसी नाम तत्र० ...	१०३
बंसी हम सों बैर० ...	९८
बढ़ि बढ़ि मुख-समता करै० ...	२०२
बतियँन सब कोऊ समझावै,	२१३
बर, उन कुबजा भलौ क्रियौ,	२६६

वसि गई नासिका में वदन०	२०८
बाँनी कों बढ़ाइ करि०	५४
बाँम, तमासौ करि रही०	३०९
बाँसुरी बिसारौ ना तौ०	१००
बाबा, गोबरधँन पूजौ आज,	११५
बिहुरति माँहन-अधर तें०	१०३
बिधि ब्रह्म कुलाल कौ चक्र०	२०२
बिन गुँन जोवन, रूप, धन०	६०
बिन सत संग न हरि कथा०	३२६
बिन सत संग भगति नहिं०	३२६
बिन सत संग बिबेक न होई;	३२६
बिन सत संग मति बेढंग,	३२७
बिरह की जारी मनमथ मरोर०	२०४
बिरह बिबस कामादि तें०	३१०
बिलगि जिन मानों ऊँधौ प्यारे,	२७८
बिस्तु, नराइन, कृष्ण जो०	२११
बूझिकें अबूझ होत ऊँधौ०	१३८
बृंदावन, बीथिन में वंसीबट- छाँह०	३०९
बेगों आवौ प्यारा बनवारी,	२२०
बेदंन ए जानें कौन०	२१०
बैठे भंग छाँनति अनंग-अरि०	१०१
ब्रज के लता-पता मोहि कीजै,	३२२
ब्रज-जन सकल स्याँम व्रत- धारी	२७५
ब्रज-जीवन ओट्टेन कौ- तकिया	१०१

भ

भूँखहि तें कि पियास तें०	२९८
भूलति हौ, किन मीठी बातन	२५८
भूले जोग-छेंम प्रेम नैम०	३३३
भेजे मन-भावन के०	६८
भोर-हीं आवत नंद किसोर,	५६

म

मथुरा जावै द्वारिका०	३२७
मधुकर, उनकी बात- हम जानी	२६५
मधुकर, काके मीति भए,	२६२
मधुकर, काके मीति भए, दिवस०	२६२
मधुकर, का निरगुँन ह्यौ गाबौ,	२४९
मधुकर, जाउ जहाँ तें आए,	२६४
मधुकर, जाहि कहौ सुनि मेरौ,	२६४
मधुकर, तुम रस-रूपट लोग,	२६३
मधुकर, बादि बचन कत बोलै,	१६२
मधुकर, भलें आए बीर,	२५५
मधुकर, मेरे ढिग जिन आइ,	२७९
मधुकर, यै कारे की रीति,	२७८
मधुकर, राखि जोग की बात,	२५५
मधुकर वह जानी तुम साँची,	११९
मधुकर, हम-हीं क्यों समझावत,	२६०
मधुकर, तुम कहौ कहाँ- ते आए,	२५८
मधुवन, सब कृतग्य धरमीले,	२७३

मन-मोहिनी सूरति राधिका०	११३
मन यह नीच, संगी नीच, ...	३२७
मन हरि लीन्हों स्याम० ...	८३
मोखन चोरी सों अरी० ...	२२६
मात-पिता वाकें नहीं० ...	१३३
माधव, आप सदाँ के कोरे, ...	३३७
माधव, तुमहुँ भए बे-साख, ३३८	
माधौ जू, राखौ अपनी ओट, ११७	
मानुष होंउ तौ वही रसखॉन०	३१४
मित्यौ आइ हृदें-सिंधु० ...	२७७
मुरली, कौन तप तें कियौ, ...	९७
मुरली, हरि कौ० ...	९७
मुरली, हरि तें न छूटति है, ...	९७
मूल मलयज के समूल जरि०	२०४
मेघन सों बोले सुर-राई, ...	११६
मेरे संगी दोइ जण० ...	३२७
मेरौ मन, तोहि चाँहै, तू न०	२२१
मैं तुम पै ब्रजनाथ पठायौ, ...	१३२
मोहन, तेरे नाम कौ० ...	८०
मोहन, लेहु मयाकर० ...	२२०
मोहिं गोपी-जन नहिं बिसरत, ३४५	
मोहै मत सुमनाँ मनाँ० ...	२८१

## य

यह तन जोकोऊ फेरि बनावै, ...	२७०
यह तन, जारों छारि कै० ...	३१६
या अनुरागी चित्त की० ...	५६
या विधि सुकवि निज नेह० ...	३३४

## र

रसखॉनि यहै सुनि कें-	
गुनि कें० ...	२६६
रसनिधि, कारे काँन्ह पै०	२५६
रसनिधि, मोहन नाम कौ०	८०
रसमसे, नंद-दुलारे० ...	५६
रसमैं स्वाभाविक बिना० ...	६०
रहत रेंनि-दिन हरि-हरि-	
हरि रट ...	३४०
रहिमन, उजली प्रकृति कौ०	२८०
रहें क्यों, एक म्याँन असि-दोइ, २७७	
राधिका के मिलबे कौं गुबिंद०	२५४
राम, बुलावा भेजियाँ० ...	३२९
रावरे, कहें तें हों गयो हो० ...	३३३
राहु गिलै ज्यों चंद कौ० ...	१५९
रिद्धि-सिद्धि माँगू नहीं० ...	३२८
रिपि-संग हरखि चले० ...	२३१
रूप-ठगोरी डारि कें० ...	११३
रूप तें पतंग के० ...	१२८
रूप, वरन वाकें नहीं० ...	१३३
रूप-रेख वरनों कदा० ...	११२

## ल

लाज कौं लेप चढ़ाइ कें अंग०	२७६
लाबत न अंजन, लगाबत न०	२५०

## व

वह मुसिकाँनि वह मृदुवतराँनि०	१०७
वाही मुख मंजुल० ...	१४२

वे तौ ऊधौ, परम पुनीत पुन्न०	२५३
वे तौ बस बसँन रँगावै मन०	१४०
वे हरि सकल ठौर के बासी०	१११
<b>स</b>	
संगत कीजै संत की०	३२८
संगी हैं, सलूकी हैं०	५४
सखी, इन नैनन तें धन हारे,	२९१
सखी-री, स्याँम सबै इकसार,	२७९
सब खोटे मधुवन के लोग,	२७३
सब सुख-स्याँम सरनें गएँ,	३२६
समझि मधुप कोकिल की०	२८०
सबिप्रताल सों, ब्याल-काल सों०	२२५
सरगन चौहें, अपवर्ग-हू न चौहें	१४१
सहजो, उपजै ना मरै०	१३३
सही सीत-भीत बरखा तप०	९९
साँची, करारें करी हँम सों०	२३८
साँझ-ही तें आवत हलाबत०	२०३
सायुज्य मुक्ती कहों०	१६४
साहिब, चितवौ हमरी ओर,	२२२
सिंधु कौ सपूत सुत०	२०३
सिगरे दिन वारि पहार-समेत०	२००
सीर समीरन की वह झूकनि०	३४१
सुंदर बदन तेरौ सोभा०	२०१
सुख-दुख में नित एक है०	६१
सुन केवट के बेंन०	६७

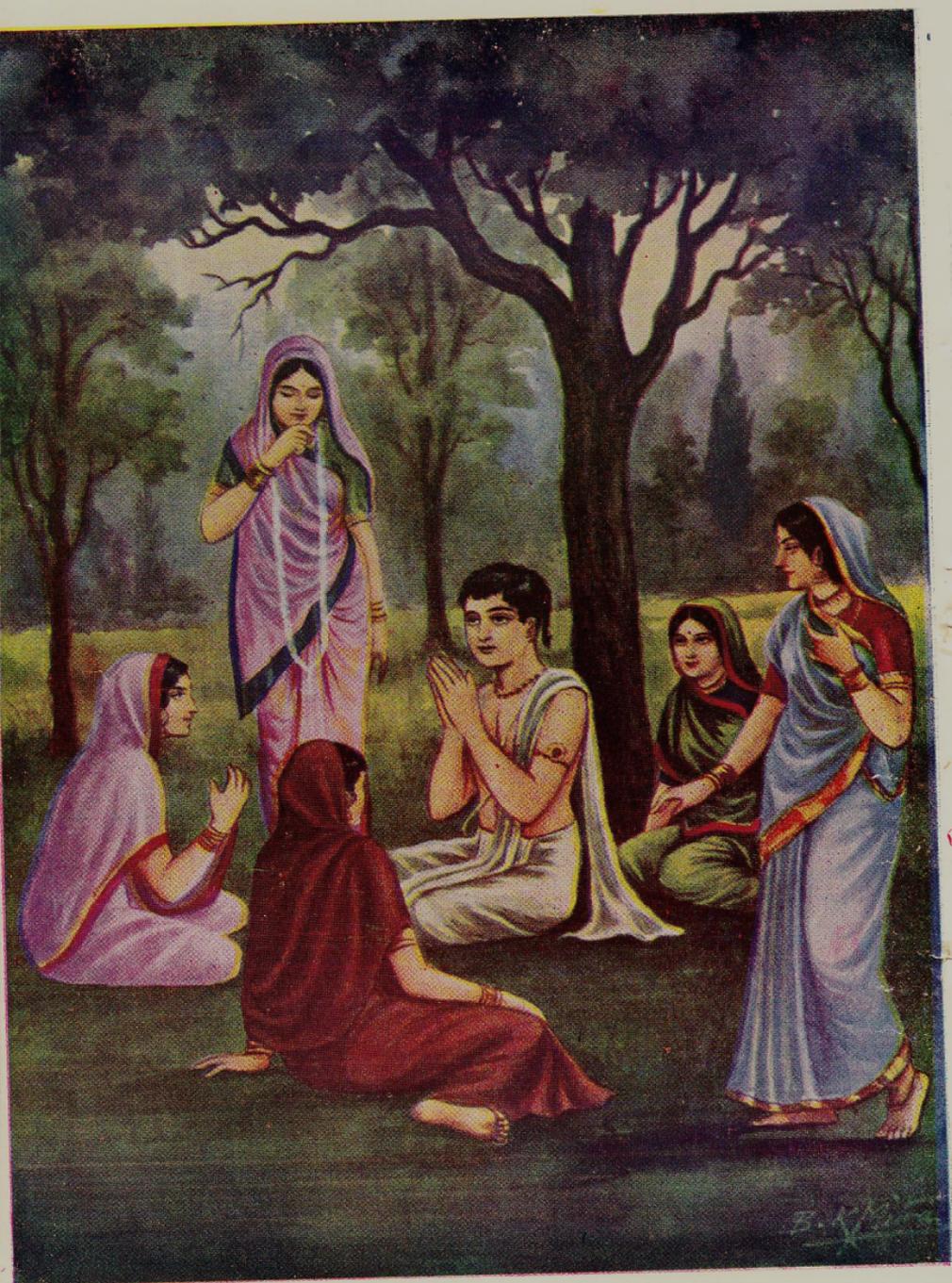
सुनि धुनि मुरली बाजै, ...	१०४
सुनि-सुनि ऊधौ आवत हाँसी,	२५२
सुनों नंद, उपनंद कथा यै, ...	९०
सुभ अरु असुभ करम- अनुहारी०	१५९
सुमन-वाटिका विपिन में०	३१४
सुमरत जग के रचन कों०	३३७
सेत पछार अँगार भए०	२०४
सोई स्याँम सुनहुँ०	९२
सोच ना हमारे कछु त्यागें०	२६६
स्याँम के पठाए आए०	१३९
<b>ह</b>	
हँसनि खुलति नहिँ०	७३
हँसनि, मिलनि, बोलनि०	२६१
हम एकु तिहारिऐ टेकु गेहें०	२२३
हम परतच्छ में प्रमान अनुमानें०	१०८
हमारें कौन बेद-विधि साधै,	१३७
हमारें नैन बही नँदिया,	२९०
हमारौ काँह कहै सो कीजै,	११६
हरख-सोग मानामान०	१२९
हरत किसोर जो चकोरन कौ०	२००
हा-हा ऊधौ कहिऐ बात०	१०६
हृदै कपट बर ब्रेष घरि०	२६०
हेरत, टेरत डोलि हों०	३१५
हो गए स्याँम, दूजरा चंदा०	२७४
होत चल अचल, अचल चल०	१०२

# उद्धृत पद-सूची

“उद्धृत”

पृष्ठ-संख्या		पृष्ठ-संख्या
	अ	न
अपूरव भक्ति यह तुझ में० ... ६६		निकल जाय दम तेरे० ... ३१८
अश्क आँखोंसे पल नहीं-		प
थमता० ... २९७		पुकारा कासिदे-अश्क० ... २९६
आँखें जो खुल रही हैं० ... ३१८		फ
आँखें नहीं हैं चहरे पर० ... १३६		फलकने खूब खिदमत ली० २९५
आँखें मेरी तलुआँसे० ... ३१७		व
इश्को-मुहब्बत क्या जानूँ ... ५९		बाम पर नंगे न जाओ० ... ५७
	घ	म
घर मेरा गर मैं न रोता० ... २९६		मज्जा बरसात का देखो० ... २९७
	त	मुँह में गर पानी चुआवे ... ३१७
तमाम रात हुई० ... ५७		मेरे अश्कों में है या० ... २९५
तिफ़ले-अश्क ऐसा गिरा० ... २९५		य
तू न होवे तो नज़्म० ... ६१		यहाँ तक गिरिया में रोये० ... २९७
तूर पर जैसे किसी० ... ५७		श
	द	शायद इसीका नाम है० ... ५९
दफ़न करना मुझ को० ... ३१७		ह
		हम तौरे-इश्क से तो० ... ५९
		हविसे-दीद मिटी० ... ६२





गोपियोंके बीच उद्धवजी

श्रीः

# भ्रमर-गीत

( महा-कवि 'नंददास'प्रणीत )

१

ऊधौ कौ उपदेस सुनों ब्रज-नागरी ।  
रूप, सील, लावन्य सबै गुँन-आगरी ॥  
प्रेम-धुजा रस-रूपनीं, उपजावँन सुख-पुंज ।  
सुंदर-स्याँम-बिलासिनीं, नव वृंदावँन कुंज ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२

कहँन-स्याँम-संदेस-एक मैं तुम्ह पै आयौ ।  
कहत समैं संकेत कहूँ औसर नहिं पायौ ॥  
सोचत-ही मन मैं रह्यौ, कत्र पाऊँ इक-ठाँउँ ।  
कहि-सँदेस नँदलाल कौ, बौहौरि मधुपुरी जाँउँ ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

३

सुनति स्याँम कौ नाँम, बाँम, घर की सुधि भूली,  
 भरि आँनद-रस हृदै, प्रेम-बेली-द्रुम-फूलीं ।  
 पुलकि-रौम सब अँग छए, भरि आए जल-नेन,  
 कंठ-घुटौ गद-गद-गिरा बोले जात न बेंन ॥

—बिबस्था-प्रेम की ॥

४

अरघासँन बैठाइ बौहौरि-परिकंमा दीन्ही,  
 स्याँम-सखा-निज-जाँनि, बहौत हित-सेवा कीन्ही<sup>२</sup> ।  
 बूझति सुधि नँदलाल की, बिहँसति-मुख ब्रज-बाल,  
 नीके हैं बल-बीर जू, बोलत-बचँन-रसाल ॥

—सखा सुन स्याँम के ॥

५

कुसल स्याँम औ राँम, कुसल संगी सब उँन्हके,  
 जदु-कुल सिगरे कुसल, परँम-आँनद सबँन्ह के ।  
 बूझँन-ब्रज-कुसलात कों, हों आयौ तुँम्ह-तीरँ,

पाठान्तर—

३—१. ( क ) सुनँत स्याँम कौ नाम बाँम घरकी सुधि भूली ।  
 ( च ) सुँनति स्याँम कौ नाँम ग्राम, गृहकी सुधि भूली ।  
 —अति हृदय<sup>३</sup>..... ।

४—२. ( ग ) सखा-स्याँम कौ जानि बहुरि सेवा पुनि कीनी ।

५—३. ( प ) ०.....मैं पठ्यौ तुम्ह ०..... ।

मिलि हैं थोरे-दिनँन मैं जिन्ह जिय होहु अधीर ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

६

सुनि-मोंहँन-संदेस, रूप-सुमरँन है आयौ,  
पुलकित-आँनन-कँमल, अंग-आवेस जनायौ<sup>२</sup> ।

बिहबल है धरनीं परीं, ब्रज-बनिता मुरझाइ,  
दौ जल-छीट-प्रबोध-हीं, ऊधौ-बैन-सुनाई ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी<sup>३</sup> ॥

७

वे तुम ते नहिं दूरि, ग्याँन की आँखिन-देखौ,  
अखिल-बिख-भरपूर, रूप सब उनहिं बिसेखौ<sup>४</sup> ।

पाठान्तर—

६—१. ( त ) सुनत स्याँम कौ नाँम०.....

( प ) मोंहन-सुनि संदेस.....

२. ( च ) पुलकत आनन-अलक.....

अथवा—

( त ) पुलकत आनन अंग-अंग आवेस जनायौ ।

( प ) .....अंग सकल.....

३. ( क ) ऊधव-बात सुनाय,

४. ( प )—प्रैम जुत ग्यान मैं ।

७—५. ( ख ), ( प ), ( च ), ब्रह्म में रूप बिसेखौ,

अथवा—

( ट ) ब्रह्म सब रूप बिसेखौ,

लोह, दारु, पाखाँन में, जल, थल, मही, अकास,  
सचर-अचर बरतत सबै, जोति-ब्रह्म-परकास ।

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

८

काँन ब्रम्ह, को जोति, ज्याँन कासों कहैं ऊधौ, ?  
हमरे सुंदर-स्याँम, प्रेम कौ मारग-सूधौ ।  
नेन, बेन, स्रुति, नासिका मोहँन-रूप लखाइ,  
सुधि-बुधि-सब मुरली-हरी, प्रेम-ठगोरी लाइ ॥

—सखा, सुन स्याँम के ॥

९

यै सब सगुँन उपाधि, रूप-निरगुँन है उँन्ह कौ<sup>१</sup>,  
निरबिकार, निरलेप, लगत नहिं तीन्हों-गुँन्ह कौ<sup>२</sup> ।  
हाथ-पाँइ नहिं नासिका, नेन, बेन नहिं काँन,<sup>३</sup>  
अच्युत जोति प्रकास हीं, सकल बिस्व के प्राँन<sup>४</sup> ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

पाठान्तर—

१—१. ( क ) प, ट, न—सगुँन सबै उपाधि रूप-निर्गुन  
लै उनकौ,.....

२. ( ख ) निराकार, निर्लेप, लगै ना तीनों-गुन कौ ।

३. ( ग ) पाँइ न हाथ न नासिका, बेन नेन नहिं कान,

४. अच्युत ज्योति प्रकासिका, सबै बिस्वके प्राँन ।

अथवा—

ज्योति-हि-ज्योति प्रकास कै अखिल बिस्व के प्राँन ।

१०

जो मुख नाहिन हुतो, कहौ किन्ह-माँखन-खायौ,  
पाँइन-बिन गो-संग कहौ, बन-बन को धायौ ।  
आँखिन में अंजन दियौ, गोबरधँन लियौ हाथ,  
नंद-जसोदा पूत है, कुँवर काँन्ह ब्रज-नाथ ॥

—सखा, सुन स्याँमके ॥

११

जाहि कहौ तुँम्ह कान्ह ! ताहि कोउ पिता न माता,  
अखिल-अंड-ब्रम्हंड सकल उन्ह-हीं सौं जाता ।  
लीला कौ अवतार लै, धरि आए तँन-स्याम,  
जोग-जुगति ही पाइये, परब्रम्ह-पुर-धामँ ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

पाठान्तर—

११—१. ( च ) ( प ) कहौ जाहि तुम कान्ह,  
ताहि कोउ पितु नहिं माता ।

२. ( छ ) सकल अंड ब्रम्हंड बिस्व उनहीं तँ जाता,

अथवा—

( छ ) सबै अंड ब्रम्हंड-लोक उनहीं सौं जाता,

३. ( त ) जुगति-जोग की पाइयै पारब्रम्ह-पद-धाम ।

अथवा—

( क ) ( प ) जोगै-जोगै पाइयत, परब्रह्म-पद-धाम

१२

ताहि बताऔ जोग, जोग ऊधौ जहाँ पावौ,<sup>१</sup>  
 प्रेम-सहित हँम-पास, नंद-नंदन-गुँन गावौ<sup>२</sup> ।  
 नैन, बैन, तँन, प्राँन में, मोहँन-गुँन रह्यौ पूरि,<sup>३</sup>  
 प्रेम-पियूषै छाँड़िकें कौन समेटै धूरि ॥

—सखा, सुन स्याँम के ॥

१३

धूरि बुरी जो होइ, ईस क्यों सीस-चढ़ावै,  
 धूरि-छेत्र में आइ, करँम-करि हरि-पद पावै ।  
 धूरहिं ते यै तँन भयौ, धूरहिं तैं ब्रम्हंड,  
 लोक-चतुरदस धूरि ते, सात-दीप नौ-खंड ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

१४

करँम-धूरि की बात, करँम-अधिकारी जानें ।  
 करँम-धूरि क्यों आँनि, प्रेम-अमृत में साँनें ॥

पाठान्तर—

- १२—१. ( क ) ( च ) वाहि बतावौ जोग,  
 जोग ऊधव जेहि भावै,  
 २. ,, ,, प्रेम-सहित जो पास, स्याम-सुंदर गुन गावै ।  
 ३. ( ६ ) ,, बैन, नैन, मन, प्राँन में, मौहन-गुन भरि-पूरि,  
 १३—४. ( क ) ( च ) ( प ) लोक—चतुर्दस धूरि तैं, सप्त-  
 दीप, नव-खंड ।

तब हीं लों सब करम हैं, जब लों हरि उर नाहिं ।  
करँम-बंध सब बिख के, जीब-बिमुख ह्वै जाहिं ॥

—सखा, सुन स्याँम के ॥

१५

करँमहिं निंदौ कहा ? करँम सों सदगति होई<sup>१</sup> ।  
करँम-रूप ते बली नाहिं, त्रिभुवन में कोई<sup>२</sup> ॥  
करँमहिं ते उतपत्ति है, करँमहिं ते सब नास ।  
करँम-करे ते मुक्ति होइ, परब्रम्ह-पुर-बास<sup>३</sup> ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

१६

करँम पाप औ पुन, लोह-सोने की बेरी ।  
पाँइन बंधँन दोऊ, कोऊ मानों बौहतेरी ॥  
ऊँच-करँम ते सरग है, नीच-करँम ते भोग ।  
प्रेम-बिनाँ सब पचि मरे, बिषै-बसनाँ-रोग<sup>१</sup> ॥

—सखा, सुन स्याम के ॥

पाठान्तर—

१५—१. (प) (६) तुम कर्महिं कस निन्दत, जासौ सदगति होई,

अथवा—( ट ) ( च ) कस तुम कर्मै निन्दति, सद्गति जासौ होई ।

अथवा—( त ) तुम निन्दति का कर्मै सद्गति जातै होई ।

२. ( प ) ( त ) बली कर्म तैं नाहिं अहो त्रिभुवन में०...

३. ,, ,, कर्म किए तैं मुक्ति है पारब्रम्ह-पुर-बास ।

१६—४. ( क ) ( प ), बिनाँ प्रेम सब पचि मुए, बिषय-

बासना-रोग,

अथवा—( च ) बिना प्रेम पचि सब मरै .....

१७

करँम बुरे जो होहिँ, जोग क्यों फिरि कोउ धारै<sup>१</sup> ।  
 पदमाँसन सों द्वारि-रोकि, इंद्रिँन्ह कों मारै<sup>२</sup> ॥  
 ब्रम्ह-अगिन सों सुद्धि है, सिद्धि-समाधि लगाइ<sup>३</sup> ।  
 लीन होइ सायुज्ज में, जोति-हिँ-जोति समाइ<sup>४</sup> ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

१८

जोगी जोगहिँ भजै, भक्त-निज-रूपहिँ जानै<sup>५</sup>,  
 प्रेम-पीयूषहिँ प्रघट, स्याँम-सुंदर-उर-आँने ।  
 निरगुँन गुँन जो पाइये, लोग कहैं ये नाँहिँ,  
 घर-आएँ-नाग-न-पूँजिऐ, बाँमी-पूँजँन जाँहिँ<sup>६</sup> ॥

—सखा, सुन स्याँम के ॥

पाठान्तर—

- १७—१. ( त ) ( प ) कर्म बुरौ जौ हौँइ जोग कोउ काहे धारै,  
 अथवा—( क ) ( ग ) बुरे करम जौ हौँइ जोग काहे कोउ धारै,  
 २. ,, ,, पद्मासन सब द्वार-मूँदि इन्द्रिन्ह क्यों जारै ।  
 ३. ( ख ) ब्रह्म-अगिनि-जरि सुद्ध है.....  
 ४. ( ग ) होइ लीन सायुज्ज में जोतै-जोति जगाइ ।  
 १८—५. ( ट ) ( ड ) ( त ) जोगी जोतै भजै, भक्त निज रूपै जानै ।  
 अथवा—( च ) ( ठ ) ( प ) जोतहिँ जोगी भजहिँ भक्त निज  
 रूपहिँ जानै ।  
 ६. ( क ) ( घ ) नाग न घर आएँ पुँजै पुनि बाँवी पूँजै जाहिँ ।

१९

जो हरि कें गुँन होंहि, बेद क्यों नेति-बखानें,<sup>१</sup>  
 निरगुँन, सगुँन, आतमाँ कहि उपनिषद जु गाँनेँ ।  
 बेद-पुराँनन-खोजि कें, नहिँ पायौ गुँन-एक,  
 गुँन-हीं कें गुँन होइ जो, कहि अकास कहँ टेकँ ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२०

जो उन्ह कें गुँन नाहिँ, और गुँन भए कहाँ तें,<sup>२</sup>  
 बीज बिनाँ तरु जमें हँमें तुँम्ह कहौ कहाँ तें ।  
 वा गुँन की परछाँहिँ-री माया-दरपँन-बीच,  
 गुँन तें गुँन न्यारे नहीं, अमल-बारि ज्यों कीचँ ॥

—सखा, सुन स्याम के ॥

पाठान्तर—

१९—१. ( त ) ( प ) जो उनकें गुन नाहिँ नेति क्यों बेद-बखानें,  
 अथवा—( ज ) गुन उनकें जौ नाहिँ.....

२. ,, निरगुन, सगुन, आत्मा, रचि ऊपर सुख-सानें

३. ,, जो गुन हीं कें होइ गुन, कहु अकास किहिँ टेक ।

२०—४. ( क ) गुन उनिकें जो नाहिँ, भए गुन और कहाँ तें,

५. ( क ) बिना बीज तरु जमै नाहिँ, तुम कहत कहाँ तें ।

अथवा—( प ) बीज बिना तरु जमै मोहिँ तुम कहौ कहाँ तें ।

६. ( प ) गुन तें गुन भए कहुँ ज्यों अमल-बारिमिलि कीच,

२१

माया के गुँन और, और गुँन हरि के जानों,  
 उँन्ह गुँन कों इँन्ह माँहिँ आँनि काहें कों साँनों ।  
 जाके गुँन औ रूढ कौ, जाँनि न पायौ भेद,  
 तासों निरगुँन-ब्रंम्ह कों, बदत उपनिषद्-बेद ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२२

बेदहु हरिके रूप, स्वाँस-मुख सों जो निसरे,<sup>१</sup>  
 करँम-क्रिया-आसक्ति सबै पिछली-सुधि विसरे ।  
 करँम-मध्य हूँडति सबै, किन्ह-हूँ न पायौ देखिँ;  
 करँम-रहित ही पाइए, तासों प्रेम-बिसेखिँ ॥

—सखा, सुन स्याँम के ॥

२३

प्रेम जु कोहू बस्तु, रूप देखत लौं लागै,  
 बस्तु-दृष्टि-बिन कहौ, कहा प्रेमी अनुरागै ।

पाठान्तर—

- २१—१. ( च ) तातैं निरगुन ब्रह्म कहि बदैँ उपनिषद्-बेद, ॥  
 २२—२. (क) (ग) (प) बेद जु हरि के रूप, स्वाँस-मुख तैं निकरे,  
 ३. ,, ,, ,, करम-मध्य हूँडै सकल तबहुँ न पायौ देखि,  
 ४. (च) (ट) (ग) कर्म-रहित हूँ पाइएँ तातैं प्रेम-बिसेखि ।  
 २३—५. (ख)(ग) (ट) प्रेम न कोउ बस्तु, जु देखत में  
 कछु लागै,  
 अथवा—( ठ ) प्रेमहिँ का कोउ बस्तु,.....

तरनि-चंद्रके रूप कौ गुन नहिं पायौ जाँन,  
तौ उनकौ कहा जानिएँ, गुनाँतीत-भगवाँन ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२४

तरँनि, अकास-प्रकास, जाहि में रह्यौ दुराई,<sup>३</sup>  
दिव्य-दृष्टि-बिन कहौ कौन पै देख्यौ जाई<sup>४</sup> ।  
जिनकेँ वे आँखें नहीं, देखें क्यों वै रूप,<sup>५</sup>  
तिन्हैँ साँच क्यों ऊपजै, जे परे करँम के कूप<sup>६</sup> ॥

—सखा, सुन स्याँम के ॥

२५

वे करिऐ नित करँम, भक्ति हू जामें आई,<sup>७</sup>  
करँम रूप तें कहौ कौन पै छूट्यौ जाई ।

पाठान्तर—

१. ( ङ ) तरन-चन्द्र के रूप कौ नहिं पायौ गुन जान।
  २. ( घ ) उनकौ तौ जानै कहा, गुनातीत भगवान ॥
- अथवा— ( ख ) जानै उनकौ कोउ कहा .....
- २४—३. ( च ) ( प ) तरनि प्रकास अकास तेज मै रह्यौ दुराई,
  ४. ,, ,, दृष्टि-दिव्य बिनु नाहिं काहु पै देख्यौ जाई ।
  ५. ,, ,, जिनकी वे आँखें नहीं कब देखें वह रूप,
  ६. ,, ,, क्यों उपजै बिस्वास जे परे कर्म के कूप ।
- २५—७. ( च ) ( ट ) ( प ) जब करियै नित कर्म,
- अथवा— ( क ) ( फ ) करियै नित वह कर्म .....

क्रम-क्रम करँम-हिँ किएँ तें करँम-नास है जाँई,  
तब आतम निहकरम सों निरगुन-ब्रंम्ह समाई ॥

—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२६

जो हरि के नहिँ करँम, करँम-बंधन क्यों आवै,<sup>३</sup>  
तौ निरगुन है वस्तु मात्र, परमाँन बतावै<sup>४</sup> ।  
जो उन्ह कौ परमाँन है, तौ प्रभुता कछु नाहिँ,<sup>५</sup>  
निरगुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिँ ॥

—सखा, सुन स्याँम के ।

२७

जे गुन आवैं दृष्टि माँहिँ नस्वर ते सारे,<sup>६</sup>  
इन्ह सबहिँन तें बासुदेव अच्युत हैं न्यारे<sup>७</sup> ।

पाठान्तर—

१. (क) (फ) क्रम-क्रम करँम किये तैं, नास करम है जाइ ।
२. ,, ,, आतम तब निष्कर्म है ब्रम्हहि-ब्रम्ह समाइ ।
- २६—३. (क) (प) हरिकै जो नहिँ करम, करम-बंधन क्यों आयौ,
४. ,, ,, तौ निरगुन इक वस्तुमात्र परमान बतायौ ।
५. ,, ,, उनकौ जदि परमान हैं प्रभुता फिरि कछु नाहिँ,
- २७—६. (ट) (प) गुन आवैं जो दृष्टि माँहिँ ते नस्वर सारे,
७. (ट) (त) इन सब ही तैं बासुदेव अच्युत हैं न्यारे ।

इंद्रि-दृष्टि-बिकार ते रहित अधोक्षज-जोति,<sup>१</sup>  
सुद्ध-सरूपी-ग्याँन की प्रापति तिन्ह कों होति<sup>२</sup> ॥

—सुँनों, ब्रज-नागरी ॥

२८

नास्तिक हैं जो लोग, कहा जानें निज रूपै,<sup>३</sup>  
प्रघट भाँनु कों छाँड़ि गहैं परछाँही-धूपै ।  
हम कों तौ वा रूप बिन और न कछु सुहाई,  
ज्यों करतल-आभास के कोटँन ब्रंम्ह दखाई<sup>४</sup> ॥

सखा, सुँन स्याँम के ॥

२९

ऐसे में नँदलाल-रूप नैनन के आगें,  
आइ गयौ छबि-छाइ, बने बरु पियरे-बागें<sup>५</sup> ।  
उधौ सों मुख-मोरि कैं, कहति तिन्हहिं सों बातँ,  
प्रेम-अँमृत मुख सों स्रवत, अंबुज-नैन-चुचात ॥

—तरक रस-रीति की ॥

पाठान्तर—

१. (ट) (त) इन्द्रि-दृष्टि-बिकार तैं परैं अधोक्षज-जोति,
२. ,, ,, सुद्ध सरूपी जानि जिय तृप्ति जु तातैं होति ।
- २८—३. (च) (प) हैं नास्तिक जो लोग न जानत कछु वह रूपै,  
अथवा— (फ) जो नास्तिक हैं लोग कहा जानत हित रूपै,
४. ,, हम कों बिनु वा रूप के कछु न और सुहाई,
५. ,, ज्यों करतल-आमलकके ब्रह्म-हि-ब्रह्म दिखाइ ।
- २९—६. (ठ) (त) आइ गए छबि-छाइ, बने बीरी अरु बागे,
७. ,, ,, ऊधव तैं मुख-मोरि कैं, बैठि सकुच कहि बात,

३०

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ, गुसाँई,<sup>१</sup>  
 नंद-नँदन बिड़राति फिरति तुँम्ह बिन सब गाँई<sup>२</sup> ।  
 काहे न फेरि कृपाल ह्वै, गो-ग्वालँन सुख देहु,<sup>३</sup>  
 दुख-जलनिधि हम बूड़िहीं, कर-अवलंबँन-लेहुँ ॥

—निठुर ह्वै का रहे !

३१

कोहु कहै, अहो दरस देति पुनि लेति छिपाई,<sup>५</sup>  
 यै छल-बिद्या कहौ कौन पिय ! तुम्हें सिखाई<sup>६</sup> ।  
 हम परबस आधीन हैं, ता सों बोलत-दीन,  
 जल-बिन कहौ कैसेँ जिऐं, पराधीन जे मीन ॥

—बिचारौ रावरे !

पाठान्तर—

- ३०—१. (क) अहो नाथ ! रमानाथ और जदुनाथ, गुसाँई,  
 २. ,, नंद नँदन बिड़राति सकल तुम बिनु बन गाँई ।  
 ३. ,, काहे न फेर कृपाल बन गो-ग्वालन-सुधि लेहु,  
 ४. (ग) दुख-जल-निधि सब बूड़िहीं बन अवलंबन देहु ।
- ३१—५. (च) (ट) कोऊ कहे क्यों दरस देति फिरि लेति छिपाई,  
 ६. ,, ,, छल-बल-बिद्या कहौ कौन पिय तुम्हें सिखाई ।  
 ७. ,, ,, जल-बिनु कहौ कैसेँ परमातुर जे मीन ।  
 अथवा—(प) बिनु जल कैसेँ कहु जिऐं, गहरे-जल की मीन ।

३२

कोहू कहै, पिय दरस देहु औ बेंन बजावौ,<sup>१</sup>  
दुरि-दुरि बन की ओट, कहा हिय लोंन लगावौ ।  
हम कों पिय तुम एक हौ, हम-सी तुम्ह कों कोरि;<sup>२</sup>  
बहुताइत की रावरे ! प्रीति न डारौ तोरि<sup>३</sup> ॥

—एक ही बार यौं ॥

३३

कोहू कहै, अहो स्याँम ! कहा इतराइ गए हौ,<sup>१</sup>  
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भए हौ ।  
ऐसें कछु प्रभुता अहौ जानत कोऊ नाहिं;<sup>२</sup>  
अबला-बुध सुनि डर गए, बली जगत के माँहिं<sup>३</sup> ॥

—पराक्रम जाँनि कें ॥

पाठान्तर—

३२—१. (ज) (ड) कोऊ कहै पुनि दरस देहु पिय बेंनु-बजावौ,  
अथवा— (त) कोऊ कहै अहो दरस देहु पुनि बेंनु-बजावौ,

२. ,, हम कों तुमसे एक हौ, हम-सी तुम्ह कों कोरि,

३. (च) बहुत भँतिके रावरे ! यौं प्रीति न डारौ तोरि ।

३३—४. (ख) (ग) कोऊ कहै कहौ स्याम ! कहा इतराइ गये . . .,

५. ,, ,, ऐसी कछु प्रभुता हुती जानत कोऊ नाहिं,  
अथवा— (च) कछु ऐसी प्रभुता तौ अहो कहत जगत कोऊ . . .,

अथवा— (छ) ऐसी तौ प्रभुता कछु अहो कहत कोऊ नाहिं,

६. ,, अबला-बुधि हम डर गई बली डरै जग-मोहिं ।

३४

कोहू कहै अहो स्याम ! चँहत मारँन जो ऐसै,  
गिरि-गोबरधँन-धारि करी रच्छा तुम कैसै ।  
ब्याल-अनल विष-ज्वाल तें, राखि लई सब-ठौरै;  
अब बिरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नंद-किसोरै ॥

—चोरि चित लै गयौ ॥

३५

कोहू कहै ए निठुर, इन्हें पातक नहिं व्यापै,  
पाप-पुंन के करँनहार ए आप-हि-आपै ।  
इन्ह के निरदै-रूप में, नाहिँन कोहू-चित्रै;  
पै-प्यावत-प्राँनन-हरे, पुतनाँ बाल-चरित्रँ ॥

—मित्र ए कौन के ?

पाठान्तर—

- ३४—१. (क) (च) कहै कोऊ कहौ स्याम, चँहत जो मारन ऐसै,  
२. ,, ,, गोबरधन-कर-धारि, करी तुम रक्षा कैसै ।  
३. (च) (ट) ब्याल-अनल औ ज्वाल सौँ लई राखि सब ठौर,  
४. ,, ,, बिरहानल अब दाहि हौ ..... ।  
अथवा— (ख) बिरह-अनल अब दाहि हौ .....

- ३५—५. (क) (ट) पाप-पुन्य के करनहार ये ही हैं आपै,  
६. ,, ,, इनके निरदय रूप में नाहिँन कछू बिचित्र,  
७. ,, ,, पय पीवत ही पूतना मारी बाल-चरित्र ।

३६

कोहू कहै री, आजु नाहिँ आगें चलि आई,  
रामचंद्र के रूप माहिँ कीन्हीं निठुराई ।  
जग्य करावन जात हे बिस्वामित्र समीप;  
मग में मारी तारका रघुवंसी—कुल-दीप ॥

—बाल-ही रीति यैँ ॥

३७

कोहू कहै, ए परँम-धरँम स्त्री-जित पूरे,<sup>५</sup>  
लछ-लाघव-संधाँन धरें आयुध अति सुरे<sup>६</sup> ।  
सीताजू के कहे ते, सूपनखा पै कोपि;  
छेदे-अंग विरूप करि, लोगँन-लज्जा-लोपि ॥

—कहा ताकी कथा !

पाठान्तर—

- ३६—१. ( ज ) ( क ) रामचंद्रके धरम-रूप में हीं निठुराई,  
२. ,, ,, मख-राखन बन जात है, बिस्वामित्र समीप;  
३. ,, ,, मारी मग में तारिका रघुवंसी-कुलदीप  
४. ,, ,, —प्रथम हीं रीति यह ।  
३७—५. ( ख ) ( ठ ) कोऊ कहैए परम-धर्म इन्द्रीजित पूरे,  
६. ,, ( छ ) लाघव-लछ-संधान, धरें आयुध के सुरे ।

विशेष—

संतीसवें छन्दमें दो सूक्तियों ( २, ४ ) के पाठान्तर और मिलते हैं—  
“हस्यौ बालि-बलवान बान आयुध लै सुरे” तथा “तब लछमन के बान तैं  
करी-नासिका लोपि” आदि, पर ये पाठान्तर प्रसंगानुसार विरुद्ध हैं—कथानक-  
के बिगाड़नेवाले हैं, शब्द-संगठनसे भी विपरीत हैं, विज्ञ पाठक विचारें ।

३८

कोहू कहै री, और सुनों गुन इन्ह के आली,<sup>१</sup>  
बलि-राजा पै गए भूमि-माँगन बनमाली<sup>२</sup> ।  
माँगी बाँमन-रूप-धरि, परवत भए अकाई;<sup>३</sup>  
सत्त, धरँम सब छाँड़ि कें, धरयौ पीठ पै पाँई ॥

—लोभ की नाब ए !

३९

कोहू कहै, इन्ह परसराम ह्वै माता—मारी,  
फरसा-कंधा-धारि भूमि-छत्रिन्ह संधारी ।  
सोनित-कुंड-भराइ कें, पोखे अपने पित्र;  
इन्ह के निरदै-रूप में कछु-हू नाहिं बिचित्र<sup>४</sup> ॥

—बिलग कहा मानिएँ ॥

पाठान्तर—

- ३८—१. (थ) (भ) कोऊ कहै अहो, और सुनों इनके गुन आली,  
२. ,, ,, राजा-बलि पै गए भूमि-माँगन बनमाली ।  
३. (प) ,, माँगत बामन-रूप धरि, नाँपत करौ कुदाव;  
४. ,, (च) सत्य, धर्म इन छाँड़ि सब, धरयौ पीठ पै पाँव ।  
३९—५. (क) (ठ) (ड) इनके निर्दयरूप में नाहिंन कोऊ चित्र,  
विशेष—

उक्त उन्तालीसवें छन्दका अन्तिम चरण और पूर्वमें उद्धृत पैंतीसवें  
छन्दका तीसरा चरण—दोनोंका पाठ एक ही है ।

४०

कोहू कहै री, कहा हिरँनकच्छप तें बिगरथौ,<sup>१</sup>  
परम-ठीठ-प्रहलाद, पिता के सनमुख झगरथौ ।  
सुत अपने कों देति हो, सिच्छा-दंड बँधाई;  
इन्ह बपु-धरि नरसिंघ कौ नखँन-विदारथौ जाइ ॥

—बिनाँ अपराध ही ?

४१

कोहू कहै अहो, कहा दोष सिसुपाल नरेसै,<sup>३</sup>  
ब्याह-करँन कों गयौ नृपति भीषँम के देसै ।  
दल-बल जोरि बरात कों ठाढ़ौ हो छवि-बाढ़ि;  
इन्ह छल करि दुलही हरी, छुधित-ग्रास-मुख काढ़ि<sup>६</sup> ॥

—आपने स्वारथी ॥

पाठान्तर—

४०—१. (ध) (प) कोऊ कहै कहु कहा ? हिरनकस्यप तें बिगरथौ,  
अथवा— (क) कोऊ कहै अहो कहा—.....

२. (ध) (प) सुत अपने कों देति हो सिच्छा खंभ-बँधाइ;  
अथवा— (क) अपने सुत कों देत हो सिच्छा दंड बताइ;

४१—३. (क) (ख) कोऊ कहै सखि ! दोष कहा सिसुपाल-नरेसै,

४. ,, ,, करन-ब्याह हित गयौ नृपति-भीषम के देसै ।

५. ,, ,, जोरि-बटोरि बरात कों ठाढ़ौ हो छवि-बाढ़ि;

६. (ग) ,, छल-बल करि दुलही हरी, ग्रास छुधित-मुखकाढ़ि

४२

या विधि भर-आवेस, परँम प्रेम-हिं अनुरागी,<sup>१</sup>  
 और रूप, पिय-चरित तहाँ सब देखँन्ह लागीं ।  
 रौंम-रौंम रह्यौ ब्यापि कै, मोहँन-रूप-अनूप;  
 तिन्ह के भूत-भविष्य कौ, जानें कौन सरूपै ॥

—रंगीली प्रेम की ॥

४३

देखति इन्ह कौ प्रेम, नैम, ऊधौ कौ भाज्यौ,  
 तिमिर-भाव-आवेस, बौहौत अपने जिय लाज्यौ ।  
 मन में कहि 'रज' पाइ कै लै माँथें निज धारि;  
 मैं तौ कृत-कृत हूँ गयौ, त्रिभुवन-आँनद-वारि ॥

—बंदनाँ जोग ए !

४४

कबहूँ कहै, गुन-गाइ-स्याँम के इन्हें रिझाऊँ,  
 प्रेम-भक्ति तौ भलें स्याँमसुंदर की पाऊँ ।

पाठान्तर—

- ४२—१. ( क ) यह विधि बर आवेस, परम-प्रेमी—अनुरागी,  
 अथवा— ( ध ) इहि विधि होइ आवेस अतुल-प्रेमी अनुरागी,  
 २. ( क ) रौंम-रौंम रह्यौ ब्यापि कै जिनकै मोहन आइ;  
 ३. ,, उनके भूत-भविष्य कौ, जानत कौ न दुराइ ।  
 ४३—४. ( ज ) भाव-तिमिर-आवेस बहुत मन अपने लाज्यौ ।  
 ५. ,, परम-कृतार्थ हूँ रहौं, आँनद-त्रिभुवन वारि ॥  
 ४४—६. ( झ ) ( प ) तातैं प्रेमाभक्ति, स्याम-सुन्दर की पाऊँ ।

जा-बिधि मो पै रीझि-हीं, सो हों करों उपाइ<sup>१</sup>;  
ताते मो-मन सुद्धि होइ, दुबिधा-ग्याँन-मिटाइ<sup>२</sup> ॥

—पाइ रस प्रेम कौ ॥

४५

ताही-छिन इक भँवर, कहूँ ते उड़ि तहाँ आयौ,<sup>३</sup>  
ब्रज-बनितँन्ह के पुंज माँहिँ, गुंजत छवि-छायौँ ।  
बैछ्यौ चाँहत पाँइ पै, अरुन-कँमल-दल जाँनि;<sup>४</sup>  
मँनु मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहिँ प्रघट्यौ आँनिँ ॥

—प्रेम कौ भेष-धरि ?

४६

ताहि भँवर तें कहति सबै प्रति-उत्तर-बातें,<sup>५</sup>  
तरक-वितरकँन्ह-जुक्त, प्रेम-रस-रूपी-घातें ।

पाठान्तर—

४४—१. (झ) (प) जिहि किहि बिधि ए रीझिही, हौँ सौ करों उपाइ;

२. ,, ,, जातँ मन-मो सुद्धि ह्वै दुबिधा-ग्यान मिटाइ ।

४५—३. (घ) (प) वाही छिन एकु भँवर कहूँ सौँ तहँ उड़ि आयौ,

४. ,, ,, चाँहत बैछ्यौ पगन पर अरुन-कमल-दल जानि;

अथवा— (च) चछ्यौ चँहत पद-कमल पै सुभग अरुन-दल जाँनि

५. ,, मनु मन ऊधौ कौ तबै, प्रगट्यौ प्रथमहिँ आनि ॥

६.

—मधुप कौ भेष धरि ॥

४६—७. ( क ) ताहि भँवर सौ कहँ सुघर, प्रति-उत्तर-बातें,

जिनि परसौ मम-पाँइ हो, तुँम्ह-माँनत हम-चोर;<sup>१</sup>  
तुँम्ह-हीं सौ कपटी हुतो, नागर-नंद-किसोर<sup>२</sup> ॥

—यहाँ तें दूरि होउ ॥

४७

कोहू कहै अहो मधुप, तुम्हैं लाज-हु नहिँ आवत,<sup>३</sup>  
स्वामी तुम्हरौ काँन्ह, कूबरी-दास कहावत<sup>४</sup> ।  
यहाँ ऊँच-पदवी हती, गोपी-नाथ कहाइ;  
अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी-जूठन खाइ ॥

—मरत कहा बोल कौं ?

४८

कोहू कहै रे मधुप, कौंन कहै तोहि मधुकारी,<sup>५</sup>  
लिऐं फिरत बिष-जोग-गाँठि प्रेमी-बधकारी<sup>६</sup> ।

पाठान्तर—

४६—१. (क) जनि परिसै मो-पाँइ रे ! गयौ आँनद-रस-चोर;

२. ,, तोही सम कपटी हतो, नटवर-नंद-किसोर ।

४७—३. (झ) (ट) कोउ कहै री मधुप, तोहि लाजौ नहिँ आवत,

४. ,, ,, तेरौ स्वामी हाइ ? कूबरी-दास कहावतु ।

अथवा—( छ ) कहत कोऊ रे मधुप, तोहि लज्जा नहिँ आवै,

,, सखा तिहारौ स्याम ! कूबरी नाथ कहावै ।

अथवा—( ठ ) साथी तुम्हरौ स्याम, कुबरिया-दास-कहावै ।

४८—५. ( क ) कहत कोऊ अहो मधुप, कहै तुम कौं को मधुकर,

रुधिर-पाँन कियौ बौहौत कै अधर-अरुन-रँगरात;  
अब ब्रज में आए कहौ करँन कौन-सी घात ॥

—जात किन्ह पातकी ?

४९

कोहू कहै री मधुप, भेष उन्ह कौ क्योँ धारचौ,  
स्याँम, पीत, गुंजार-बेनु-किंकिनि झँनकारचौ ।  
वा-पुर गोरस-चोरि कें फिरि आयौ इहि देस;  
इन्ह कौँ जिन्ह मानों कोऊ, कपटी इन्ह कौ भेष ॥

—चोरि जिन्ह जाइ कछु ॥

५०

कोहू कहै रे मधुप, कहा मोंहन-गुन-गावै,<sup>२</sup>  
हृद-कपट सों परँम-प्रेँम नाहिँन छबि पावै<sup>३</sup> ।

पाठान्तर—

४८—६. (क) लिऐँ फिरत बिष-गाँठि प्रैम-मिसि, मानों बँधकर ।

अथवा—( च ) लऐँ फिरत मुख जोग-गाँठि काटन बेकारी ।

अथवा—( फ ) फिरत लऐँ अति जोग-गाँठि, काटन जु कटारीं ।

विशेष—

उक्त छन्द ( क ) प्रतिमें ( ५२ ) नंबर पर और ( च ) ( त ) में चौवन ( ५४ ) नंबर पर है ।

४९—१. ( झ ) वा पुर कौ रस चोरि कें आयौ फिर इहि देस,

विशेष—

उक्त छन्द ( च ) प्रतिमें अड़तालीस नंबर पर और ( प ) में इक्यावन नंबर पर है ।

५०—२. ( ठ ) ( त ) कोऊ कहै अहो मधुप ! कहा गुन-मोंहन-गावौ,

३. ,, ,, कपट-हृदय सों नाहिँन परम-प्रेँमिन-छबि पावौ ।

जानति हों सब-भाँति कै, सरबसु लियौ चुराई;  
ऐसें कहु ब्रज-वासिनी, को जु तुम्हैं पतियाई ॥

—लहे सब जानिकें ॥

५१

कोहू कहै रे मधुप, कहा तू रस कों जानें,  
बौहौत कुसुम पै बैठि, सबै आपुन-रस मानें ।

आपुन-सी हम कों कियौ चाँहति है मति-मंद;  
दुबिधा-रस उपजाइ कें, दुखित-प्रेम-आनंद ॥

—कपट के छंद सों ॥

पाठान्तर—

१. (ठ) (प) हौं जानति हरि भाँति कै सब कछु लयौ चुराई;  
अथवा—( थ ) जानति हौं हरि भाँति सब सरबसु लियौ चुराई;

२. (ठ) (त) ऐसें बहु ब्रजवासिनी को जु तुम्हैं पतियाई ।  
अथवा—( न ) ए बौरी ब्रजवासिनी नाहिं तुम्हैं पतियाई ।

३. —लये हम जानिकें ।

५१—४. (च)(छ)(ज) कोउ कहत अहो मधुप नाहिं तू रस कों जानत

५. ,, ,, बहु कुसुमन पै बैठि सबै सम-रस करि मानत ।

अथवा—( प ) ( त ) अमित कुसुम पै बैठि सबै आपन रस मानें ।

अथवा—( ठ )—बहुत कुसुम पै बैठि-बैठि सबही सम मानें ।

६. (क) (ग) आपुन सौ हम कों कियौ चाँहतु तू मति-मंद;  
अथवा—( फ ) ...सम अपने हमकों कियौ चाँहत क्यौं मति-मंद;

७. ,, दुबिध-ग्यान उपजाइ चित दुखित प्रेम-आनंद ।  
अथवा—( च ) ...ग्यान-दुबिध उपजाइ मन, पारि प्रेम के फंद ॥

विशेष—

पचासवाँ छन्द ( छ ) प्रति में इक्यावन नंबर पर और इक्यावन नंबर-  
वाला पचास नंबर पर है, इसी तरह ( क ) प्रति में पचासवाँ छप्पन  
नंबर पर और इक्यावनवाँ उनचास नंबर पर उद्धत है ।

५२

कोहू कहै रे मधुप, नाँहिँ षट्-पद-पसु देख्यौ,<sup>१</sup>  
अबलों या ब्रज-देस माँहिँ कोहु नाहिँ बिसेख्यौ<sup>२</sup> ।  
द्वै-सिंघ आँनन-ऊपरै, कारौ, पीरौ—गात;<sup>३</sup>  
खल अमृत सब मानहीं, अमृत—देखि डरात<sup>४</sup> ॥

—बाद यै रसिकता<sup>५</sup> ॥

५३

कोहू कहै रे मधुप, बौहौत निरगुन इन्ह जान्यौ,<sup>६</sup>  
तरक-वितरकँन जुक्ति बौहौत उन्ह-हीं में मान्यौ<sup>७</sup> ।

पाठान्तर—

५२—१. (ठ) (प) कोऊ कहै अहो मधुप, प्रेम-पद कौ सुख देख्यौ,  
अथवा— ( च ) कोऊ कहत रे मधुप, प्रेम-षट्-पद-पसु देख्यौ,  
अथवा— ( प ) कहै कोऊ अहो मधुप, कहुँ पसु षट्-पद देख्यौ,

२. ,, अब लौं याहिँ बिदेस माँहिँ कोऊ नाहिँ बिसेख्यौ ।

३. ,, तैसौई सुरँग अति, कारौ, पीरौ गात;

अथवा— ( क ) द्वै-सिंघ आनन पर जमे, पीरौ कारौ गात;

४. ,, अमृत-सब खल मानहीं पेखि जु अमृत डरात ।

अथवा— ( च ) खल अमृत सब पानहीं, अमृत देखि डरात ।

५. —बाद यह रस-कथा ।

५३—६. ( ख ) ( घ ) कोऊ कहै अहो मधुप, बहुत निरगुन-  
हम मान्यौ,

अथवा—( च ) कोऊ कहत अहो मधुप, निगुन इन बहु करि जान्यौ

७. ,, तर्क-वितर्कनि जुक्ति बहुत उन्हीं यह आन्यौ ।

पै इतन्हों नहिं जानि-हीं, बस्तु-बिनाँ गुन नाहिं;<sup>१</sup>  
निरगुन भए अतीत के, सगुन सबै जग माहिं<sup>२</sup> ॥

—बूझि जो ग्याँन होइ<sup>३</sup> !

५४

कोहू कहै रे मधुप, होंहिं तुम्हसे जो संगी,<sup>४</sup>  
क्यों न होहि तँन स्याँम सकल बातँन चतुरंगी<sup>५</sup> ।  
गोकुल में जोरी कोहू, पाई नाँहिं मुरारि;<sup>६</sup>  
ज्यों जु त्रिभंगी आपु हे, त्यों करी त्रिभंगी-नारि<sup>७</sup> ॥

—रूप, गुन, सील की ॥

अथवा— ( ठ ) तरक बितरकन जुगति जु करि उनहीं तँ मान्यौ ।

१. ( क ) ये इतनी नहिं जानहीं बिनाँ बस्तु गुन नाँहिं;

२. ,, निरगुन सबै अतीत के सकल सगुन जग माँहिं ॥

अथवा— ( प ) निरगुन-सक्ति जु स्याम की, लखी सगुनता माँहिं ।

३.

—सखा सुन स्याम के ।

विशेष—

तिरपन नंबर का चौथा चरण और छब्बीस नंबर का चौथा चरण दोनों एक-से हैं ।

बावन नंबरवाला छन्द—“कोऊ कहै रे मधुप नाहिं षट्पद-पसु देख्यौ” ( घ ) प्रतिमें तिरपन नंबर पर और तिरपन नंबर वाला छन्द उसी प्रतिमें पचपन नंबर पर लिखा है ।

५४—४. ( भ ) ( म ) कोऊ कहै अहो मधुप, होंहिं जो तुम सौ संगी,

५. ,, ,, होहि न क्यों तन-स्याम, सबै बातन चतुरंगी ।

६. ,, ,, जोरी गोकुल में कोऊ पाई नहीं मुरारि;

७. ,, ,, मनौ त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि ॥

अथवा—( च ) मदन-त्रिभंगी आपु हैं, करी त्रिभंगी-नारि ।

अथवा—( छ ) ललित-त्रिभंगी आपु ज्यों बरी त्रिभंगी-नारि ॥

५५

कोहू कहै रे मधुप, स्याँम—जोगी तू चेला,<sup>१</sup>  
 कुबजा—तीरथ जाइ कियौ इन्द्रिन कौ मेला<sup>२</sup> ।  
 मधुवन-सुधि-बिसराइ कै, आए गोकुल माँहिं;<sup>३</sup>  
 यहाँ सब प्रेमी बसें, तुम्हरे गाहक नाँहिं<sup>४</sup> ॥

—पधारौ रावरे ?

५६

कोहू कहै-री सखी, साधु मधुवन के ऐसै,<sup>५</sup>  
 औरु वहाँ के सिद्ध-लोग, है हैं धौं कैसे<sup>६</sup> ।

पाठान्तर—

- ५५—१. (द) (प) कोऊ कहै अहो मधुप, स्याम-जोगी, तुम चेला,  
 २. ,, ,, कुबजा-तीरथ भलों कियौ इन्द्रिन कौ मेला ।  
 अथवा— (च) तीरथ-कुबजा जाइ करौ इन्द्रिन कौ मेला ।  
 ३. ,, मधुवन सुधहिं बिसारकै, आए गोकुल माँहिं ।  
 अथवा— (क) मधुवन सिद्ध कहाइ कै, आए गोकुल माँहिं;  
 अथवा— (ख) सुधि-मधुवन बिसराइ कै पहुँचे गोकुल-माँहिं,  
 ४. (भ) (म) इत सब प्रेमी बसत हैं, तुमरौ गाहक नाहिं ।  
 अथवा— (च) प्रेमी इत सब बसत हैं गाहक तुमरे नाँहिं ।

विशेष—

चौवनवाँ छन्द ( क ) प्रतिमें उनसठ नंबर पर, ( च ) प्रति में साठ नंबर पर और इसी तरह ( प ) प्रति में अट्ठावन नंबर पर हैं तथा पचपन नंबरवाला छन्द ( त ) प्रति में छप्पन नंबर पर, ( ध ) प्रति में बावन नंबर पर है ।

- ५६—५. (च) (त) कोऊ कहै रे मधुप, साधु मधुवन जो ऐसे,  
 ६. ,, ,, फेरि तहाँ के सिद्ध, कहौ धौं है हैं कैसे ।

औगुन-हीं गहि लेति हैं, औ गुन डारें मेंटि;<sup>१</sup>  
 मोहन निरगुन होंहि क्यौं न, उँन्ह साधुँन कों भेंटि<sup>२</sup> ॥  
 —गाँठि कौ खोइ कें ॥

५७

कोहू कहै रे मधुप, ग्याँन उलटौ लै आयौ,  
 मुक्ति परे जे लोग, तिन्हें फिरि करँम बतायौ<sup>३</sup> ।  
 बेद-उपनिषद-सार जो, मोहन-गुन गहि लेति;<sup>४</sup>  
 तिन्ह कों आतम-सुद्धि करि, फिर-फिरि संथा देति ॥  
 —जोग-चटसार में !

५८

कोहू कहै सखि, विस्व-माँहि जेतक हैं कारे,<sup>५</sup>  
 कोटि-कपट की खाँन, कुटिल-माँनस बिषहारे<sup>६</sup> ।

पाठान्तर—

१. (ज) (त) औगुन-गुन गहि लेति हैं गुन कों डारत मेंटि;

२. ,, (प) मोहन-निरगुन कों गहे तुम साधुन कों भेंटि ।

५७—३. (ग) (प) कोऊ कहै अहो मधुप, ग्यान कों उलटौ लायौ,

४. ,, ,, भए मुक्ति जे लोग, करम फिरि तिन्हें बतायौ ।

अथवा— (च) मुक्ति भए जो रसिक ! तिन्हें क्यौं करम सिखायौ ।

विशेष—छप्पन नंबरवाला उक्त छन्द ( ध ) प्रति में अट्ठावन नंबर पर और सत्तावन नंबर का छन्द उक्त प्रतिमें चौवन नंबर पर उद्धृत है ।

५८—५. ( फ ) ' ' कोऊ कहै री, विस्वु माँहि हैं जेतिक कारे,

६. ,, कपट कोटि के परम-कुटिल मानुष विषहारे ।

( ब ) कपट कुटिल की कोटि परम-मानुष फँसिहारे ।

( म ) कुटिल कपट की कोटि परम-मानुष मसिहारे ।

एक स्याँम-तँन परसि कें जरत आजलों अंग;  
ता पाछें यै मधुप फिरि, लायौ जोग-भुअंगं ॥

—कहा इन्ह कों दया ?

५९

कोहू कहै रे मधुप, कहत अनुरागी तुम्ह कों;<sup>१</sup>  
कोंनै गुनधों जानि ? परँम-अचरज है हम कों<sup>३</sup> ।  
कारौ-तँन अति पातकी, मुख-पियरौ जग-निंदै;  
गुन-औगुन सब आपुने आपु-हिं जाँन अलिंदै ॥

—देखि, लै-आरसी<sup>६</sup> ॥

६०

या बिधि सुंमरि गुबिंद, कहति ऊधौ-प्रति गोपीं,<sup>१</sup>  
भूँग-संग्या करि बदत सकल कुल-लज्जा-लोपीं ।

पाठान्तर—

१. (म) ता पाछें यह मधुपहू, लायौ जोग-भुअंग ।
- ५९—२. (च) (ज) कोऊ कहौ अहो मधुप, कहैं अनुरागी तुम्हकौं,
३. ,, ,, कौनै गुन कौं जान यहै अचरज है हमकौं ।
४. ,, ..... कारौ-मन बहु पातकी, पियरौ-मुख जग-निंद;
५. (छ) ..... अवगुन-गुन सब आपुने आपी जान मलिंद ॥
६. ,, —देखि गहि आरसी !

विशेष—

अट्टावन नंबरवाला यह छन्द ( थ ) प्रति में सैंतालीस नंबर पर और उनसठ नंबरवाला छन्द उनचास नंबर पर ( क ) प्रति में उद्धृत मिलता है ।

- ६०—७. ( ख ) या बिधि सुमिरि गुबिंद, कहैं ऊधव प्रति गोपीं,
८. ,, संग्या भूँग करि कहत सबै लज्जा कुल लोपीं ।

ता-पाछें इक बार-हीं रोइ उठीं ब्रज-नारि;<sup>१</sup>  
हाकरुनाँ-मै नाथ हो, केसौ, कृष्ण, मुरारि<sup>२</sup> ॥

—फाटि हियरौ चलयौ<sup>३</sup> ॥

६१

उँमग्यौ जो तहँ सलिल, सिंधु-सौ तन की धारँन,  
भीजे अंबुज-नीर, कंचुकी, भूषँन, हारँन ।  
ताही प्रेम-प्रवाह में, ऊधौ चलयौ बहाई;  
भली ग्याँन की मैड़ि-सी, ब्रज में प्रघट्यौ आइ ॥

—कूल कौ तँन भयौ<sup>४</sup> !

पाठान्तर—

१. ( घ ) ता पीछें एक बारही उठीं रोइ ब्रज-नारि;  
अथवा— ( म ) तन-मन तैं छबि स्यामकी, ऐसी दर्ई दिखाइ;  
२. ,, जिमि गोरसगोरस मिलैं, नैकु न बिलग जनाइ ।  
३. ,, —अधिकता प्रेम की ?  
६१—४. (ख) (ग) उँमगै ज्यौं कोउ सलिल-सिन्धु तनकी करि धारन,  
अथवा—(ठ) उँमगी कोउ जे सलिल अस्रु नैननि की धारा,  
५. ,, भिजवति औ बहि जाति कौतुकी सिन्धु-अपारा ।  
६. ,, ताहि प्रेम-मय सिन्धु में ऊधव चले बहाइ;  
७. (छ) —कूल-तारन भए ॥  
(द) —सकल कुल तरि गयौ !  
(प) कूल कें तन भए ॥

६२

प्रेम-बिबस्था देखि, सुद्धि अति भक्ति-प्रकासी,<sup>१</sup>  
दुविधा-ग्याँन-गिलाँन मंदता सिगरी नाँसी ।  
कहति अहो निसचै यहै, हरि-रस की निज-पात्र;<sup>२</sup>  
हों तौ कृत-कृत हूँ गयौ, इन्ह के दरसँन मात्र ॥

मेंटि मल-ग्याँन कौ !

६३

पुनि-पुनि कहि 'हरि' कहँन बात एकांत पठायौ,<sup>३</sup>  
मैं इन कौ कछु मरँम जाँनि एकौ नहिँ पायौ<sup>४</sup> ।  
हों कहों निज-मरजाद की, ग्याने-करँमनि रोपै;  
ए सब प्रेम-असक्त हूँ, रही लाज-कुल-लोपै ॥

—धन्न ए गोपिका !

पाठान्तर—

६२—१. (त) (न) प्रेम-प्रसंसा करति सुद्ध जो भक्ति-प्रकासी:

२. ,, कहति भयौ निसचै येही हरि-रस की निज पात्र ।

अथवा— (भ) निसचैही ए हँ अहो, हरि-रस की सब पात्र ।

६३—३. (क) पुनि मन मैं कहि कहन बात एकान्त पठायौ;

४. ,, पै इन कौ मैं मरम जानि एकौ नहिँ पायौ ।

अथवा— (झ) इन कौ हों कछु मरम जानि नहिँ एकौ पायौ ।

५. (च) हों तौ निज मरजाद सौँ ग्यान, कर्म कहयौ रोपि

६. ,, ये सग प्रैमासक्ति हँ कुल-लजा दई लोपि ।

६४

जो ऐसैं मरजाद-मेंटि मोंहन कों ध्यावैं,<sup>१</sup>  
 क्यों न परँम-आँनंद-प्रेँम-पदवी कों पावैं<sup>२</sup> ।  
 ग्याँन, जोग सब करँम तें, प्रेँम-परे जोइ साँच;<sup>३</sup>  
 हों इन्ह पटतर देति हों, हीरा-आगें काँच ॥

—विषमता बुद्धि की !

६५

धन्न-धन्न ए लोग, भजत जो हरि कों ऐसैं,<sup>१</sup>  
 और कोहू बिन रस-हिं प्रेँम-पावत कहौ कैसैं<sup>२</sup> ।  
 मेरें वा लघु-ग्याँन कौ, रह्यौ जु मद ह्वै ब्याधि;<sup>३</sup>  
 अब जान्यौं ब्रज-प्रेँम कौ, लहति न आधों-आधि ॥

—बृथाँ स्रँम करि मरचौ !

पाठान्तर—

- ६४—१. (क).....ऐसैं जे मरजाद-मेंटि मोंहन कों ध्यावैं,  
 २. ,,.....काहे न परमानंद प्रेँम-पदवी कों पावैं ।  
 अथवा— (छ) काहे न प्रेँमानंद-प्रेँम पद पी कों पावैं ।  
 अथवा— (प) काहे न परमानंद प्रेँम-पदवी सुचु पावैं ।  
 ३. ,, ध्यान, जोग सब करम सौँ प्रेँम-पगे जे साँचु;  
 ६५—४. (घ) (ब) (भ) धन्न, धन्न, ऐ धन्न, भजैं हरि कों जो ऐसैं,  
 ५. ,, और जु पारस प्रेँम-बिना पावत कहु कैसैं ।  
 ६. ,, ,, 'मेरे या लघु ग्यान कौ उर-मद रह्यौ उपाधि;  
 अथवा— (च) या लघु मेरे ग्यान कौ मन सैं मद रह्यौ बाधि ;

६६

पुनि कहै परसि जु पाँइ, प्रथँम हों इन्हें निवारचौ,<sup>१</sup>  
 भूँग-संग्या करि कहत, निंद सबहिंन तें डारचौ<sup>२</sup> ।  
 अब हूँ रहों ब्रज-भूमि के, मारग में की धूरि;<sup>३</sup>  
 बिचरत पग मो पै परें, सब-सुख-जीवन-मूरि<sup>४</sup> ॥

—मुनिन्ह दुरलभ अहै ॥

६७

कै हूँ रहौं द्रुम-गुल्म, लता, बेली बन-माँहीं,<sup>५</sup>  
 आवत-जात सुभाइ परै मो पै परछाँहीं<sup>६</sup> ।

पाठान्तर—

६६—१. (च) (म) पुनि कहि परसत पाँइ, प्रथम में इनै निवारचौ,

अथवा— (ध) कहि पुनि परसत पाँइ सबनि हों प्रैम हि वारौं,

२. ,, भूँगी-संग्या करत बिसद-गुन-गुन विस्तारौं ।

३. ,, अब रहि हौं ब्रज-भूमिकी हूँ पग-मारगधूर;

अथवा— (न) तब अति सै कृत-कृत हूँ भूँव बसै सह पाँइ;

४. ,, उद्धव तैं मधुकर भयौ मुद्रा-जोग मिटाइ ।

५. (क) —मुनिन्ह दुरलभै !

अथवा— —मुनिन्ह दुरलभै जो !

६७—६. (क) कैसै होंहूँ द्रुम, लता, बेलि, बली बन माँहीं,

७. (ख) परै सुआवत-जात सदाँ मो पै परछाँहीं ।

सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करों उपाई;  
मौहन होंहिं प्रसन्न जो, यै बर माँगों जाई ॥

—कृपा-करि देहि जो !

६८

पुनि कहि सब तैं साधु-संग, उत्तम है भाई ?  
पारस-परसें लोह, तुरत कंचन है जाई ।  
गोपी-प्रेम-प्रसाद सों, हों-हीं सीख्यौ आई;  
ऊधौ ते मधुकर भयौ, दुबिधा-ग्यान मिटाई ॥

—पाइ रस प्रेम कौ !

६९

ऐसें मग-अभिलाषि करत मथुरा फिरि आयौ,  
गद्गद, पुलकित अंग-अंग आवेस जनार्यौ ।

पाठान्तर—

१. (ख) मेरे यह हू बस नहीं, करों जु कछुक उपाइ;
२. ,, मौहन होंहिं प्रसन्न जौ बर-बर माँगों जाइ ॥

विशेष—

छाछठवाँ छन्द ( च ) प्रतिमें सड़सठ नंबरपर और अड़सठवाँ छन्द छाछठ नंबरपर मिलता है ।

- ६८—३. (ख) ..... कहि पुनि सब तैं संग-साधु उत्तम है भाई,
४. ,, ..... परसें-पारस लोह, छिनक कंचन है जाई ।
५. (ग) (ङ) स्वाँति-बूँद सीपहिं मिलै मुकता होत सुभाइ;
६. ,, ,, नीर-छीर सँग के मिलै बिसद-रूप दरसाइ ॥
७. ,, ,, —संग को गुन लखौ ॥

- ६९—८. (प) (भ) इहि बिधि मन अभिलाष करत मथुरा पुनि,

गोपी-गुन-गावँन लग्यौ, मोहन-गुन-गयौ भूलि;  
जीबँन कौ लै का करों, पायौ जीवँन-मूलि ॥

—भक्ति कौ सार जो<sup>२</sup> ॥

७०

ऐसैं सोचत, स्याँम जहाँ राजत तहँ आयौ,<sup>३</sup>  
परकंमा, डंडौत, प्रेम सों हेत जनार्यौ ।  
लखि निरदइता स्याँम की, करि क्रोधित दोहु नैन;  
पुनि ब्रज-बनिता-प्रेम सों बोलत रस-भरे बैन ॥

—सुनों, नँद-लड़िले ?

पाठान्तर—

१. (प) (भ) गद-गद, पुलकित रौम अंग आवेस जनार्यौ,

२. " " " " —भक्ति कौ सार यह ?

अथवा— (च) —भक्ति कौ मूल ये,

विशेष—

अडसठवाँ छन्द ( क ) प्रतिमें छाछठ नंबरपर उद्धृत मिलता है ।  
इस छन्दका चौथा चरण जैसे—“ऊधौ तैं मधुकर भयौ दुविधा-ग्याँन-  
मिटाइ” सडसठवें-छन्दके पाठान्तरमें उद्धृत किया जा चुका है । यथा—

तब अतिसै कृत-कृत्य है भूव बसे सहि पाइ;

“उद्धव तैं मधुकर भयौ मुद्रा-जोग मिटाइ !”

—लही यह संपदा !

अथवा—

“ऊधौ तैं मधुकर भयौ दुविधा-जोग मिटाइ” ॥

७०—३. (क) (ट) ऐसैं सोचत जहाँ स्याम तहँ आयौ-धायौ,

४. " " परिकरमा, दंडौत जुकरि आवेस जनार्यौ ।

५. (च) (छ) कछु निरदयता की लखि, करि क्रोधित दोउ नैन;

अथवा— (झ) निरदयता लखि स्यामकी, क्रोधित कारे दोउ०;

६. (च) (छ) कछु ब्रज-बनिता प्रेमकी, बोलत रसभरे बैन ॥

७१

करुनामई-रसिकता है तुम्हरी सब झूठी,  
 तब ही लों कहौ लाख, जभी लों बँध रही मूँठी ।  
 मैं जान्यों ब्रज जाइकें, निरदै तुम्हरी-रूप;  
 जो तुम्ह कों अबलंब-ही, तिन्ह कों मेलौ कूप ॥

—कौन ये धरम हैं ?

७२

पुनि-पुनि कहै अहो स्याम, चलौ बृंदावन रहिये,  
 परम-प्रेम कौ पुंज जहाँ गोपिन्ह-सँग लहिये ।

पाठान्तर—

६—अथवा—(झ) ब्रज-वनितन कछु प्रेम लखि, रस-भरे बोलत बैन ॥

अथवा— कछु निरदयता स्याम की सोच सजल दोउ नैन;

७१—१. (क) (ख) करुनामै औ रसिक-प्रकृति, तुमरी सब झूठी,

अथवा— (प) करुनामयी रसिकता सब तुम्हरी अति झूठीं,

२. ,, जब हीं लों नहिं लखौ, तबहिं लौ बाँधी मूँठी ।

अथवा—(फ) ब्रज-वनितन दुख-दयौ सबन-मन करि निज मूँठी ।

३. (क) (ख) जान्यों ब्रज मैं जाइ कै तुम्हरी निरदै-रूप;

४. ,, ,, तुमकौं जो अबलंब ही, मेलौ तिन कौं कूप ॥

५.

—कौन सौ धरम यह !

७२—६. (ठ) (ड) पुनि-पुनि कहै हे स्याम, जाइ बृंदावन रहिये,

७. ,, ,, प्रेम-पुंज तैं तनक-प्रेम गोपिन-सँग लहिये ।

और संग सब छाँड़ि कैं, उन्ह-लोगँह सुख-देहु;<sup>१</sup>  
नातरु दूख्यौ जात है, अब-हीं नेह-सनेहु<sup>२</sup> ॥

—करौगे फिरि कहाँ ?

७३

सुनति सखा के बेंन, नेंन भरि आए दोऊ,  
बिबस प्रेम-आबेस रही नँहिन सुधि कोऊँ ।  
रौम-रौम-प्रति-गोपिका, भई साँवरे-गातै;  
कलप-तरोरुह-साँवरौ, ब्रज-बनिता हीं पातै ॥

—उलहि अँग-अँग ते ॥

७४

है सचेत, कहि भले सखा, पठएँ सुधि ल्यावनँ,  
औगुन हमरे आँनि, तहाँ ते लगे दिखावनँ ।

पाठान्तर—

१. (ठ) (प) और काम संग छाँड़िकैं, ब्रज-बनितन सुख देहु;
२. (च) ..... नातरु दूटहि जाइगौ, सबै जु नेह-सनेहु ॥
३. —करौगे तौ कहाँ ?

- ७३—४. (क) विबस प्रेम के भएँ रही सुधि नाहीं कोऊ,  
५. ,, रौम-रौम मैं गोपिका, भई साँवरे-गात;  
अथवा— (ख) रौम-रौम प्रति गोपिका, है गई साँवरे गात;  
अथवा— (छ) रौम-रौम सब गोपिका है रहीं साँवल-गात;  
६. (थ) काम-तरोवर साँवरौ ब्रज-बनिता भई पात ॥  
अथवा— (भ) काम-तरोवर रस भरौ, ब्रज-बनितनके पात ॥

- ७४—७. (प) (फ) (भ) है सुचेत कहि भल्यो सखा पठ्यौ  
सुधि लावन,  
८. ,, ,, ,, अवगुन सगरे आँनि तहाँ सौं लगे बतावन ।

उन में, मो में हे सखा, रंचक-अंतर नाँहि;  
ज्यों दीखत मो-माँहि वे, त्यों होंहूँ उँन्ह माँहि ॥

—तरँगनि-बारि ज्यों !

७५

गोपी-रूप दिखाइ तबै मोंहन, बनवारी,<sup>३</sup>  
ऊधौ-भ्रमहिं निवारि, डारि पुनि मोह की जारी ।  
अदभुत-रूप बिहार कौ, लीन्हों बहुरि दुराइ;  
“नंददास” पावन भयौ, सो यै लीला गाई ॥

—प्रेम-रस-पुंजनी<sup>०</sup> ?



पाठान्तर—

१. (च) (फ) (भ) मो में उन में अंतरौ एकौ छिन भरि नाहिं;  
अथवा— (ज) उन में, मो में अहो सखा ! छिन भरि अंतर आहीं;
२. ,, ज्यों देख्यौ मो माँहि वे, हों हूँ उनहीं माँहि ॥  
अथवा— (त) ज्यों देखौ मो-माँहि वे, त्यों मैं उनहीं माँहि ॥
- ७५—३. (क) गोपी आप दिखाइ, एकु-करि कै बनवारी,  
४. ,, ऊधौ के भरे नैन डारि ब्यामोहक-जारी ।  
अथवा— (च) ऊधव-भ्रम जु निवार डार मुख मोह की जारी ।
५. ,, अपुनौ रूप बिहार कौ, लीन्हों बहुरि दुराइ;  
अथवा— (ढ) अपनौ रूप दिखाइ कै, लीन्हौ पुनहिं दुराइ;  
अथवा— (ण) हम ऊधव जानी नहीं, ओछी करि हैं प्रीति;
६. ,, भली भई प्रभु सौं चली जग में उलटी रीति ॥  
अथवा— (द) “जन-मकुन्द” पावन भए, रस-लीला हरि गाइ ॥
७. (ण) —कह्यौ रौमांच है !

---

टिप्पणी  
और  
सम-भावद्योतक सूक्तियाँ

---



# टिप्पणी

## और

### सम-भावद्योतक सूक्तियाँ

कथानककी पूर्व-पीठिका—‘उद्धवका गोपियों से कृष्ण-संदेश कहने आना ।’

उद्धव—( ऊधौ ) ( ऊधव ) यादव-वंशी श्रीकृष्णके सखा, मित्र, यार, दोस्त वा भक्त । जैसे—

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।

शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥

( श्रीमद्भा० १० । ४६ । १ )

उद्धव, देवमीढ अर्थात् शूरसेनकी स्त्री ‘मारिषा’ से उत्पन्न ‘देव-भाग’ के पुत्र थे ।

देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत् ।

तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान् ॥

वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम् ।

सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम् ॥

( श्रीमद्भा० ९ । २४ । २७—२९ )

अथवा—

‘शूरस्यापि मारिषा नाम पत्न्यभवत् । तस्यां चासौ दश-  
पुत्रानजनयद्वसुदेवपूर्वान्..... । तस्य च देवभागदेवश्रवो-  
ऽष्टकककुच्चक्रवत्सधारकसृञ्जयश्यामशामिकगण्डूषसंज्ञा नव  
भ्रातरोऽभवन् ॥’

( विष्णुपुराण, चतुर्थ अंश १४ । २६, २७, ३० )

अस्तु—

उद्धवो देवभागस्य महाभागः सुतोऽभवत् ।  
पाण्डितानां परं प्राहुर्देवश्रवसमुद्धव ॥

( हरिवंशपुराणे )

‘देवभाग’ का दूसरा नाम ‘उपंग’ भी था । श्रीसूर ने कई जगह  
उद्धव को—‘उपंग-सुत’ के सरस-सम्बोधन से सम्बोधित किया है—

हरि ! गोकुल की बात चलाई ।

सुनों “उपँग-सुत” मोहि न बिसरत, ब्रज-बासी सुखदाई ॥

अथवा—

पाती लिखि, ऊधौ-कर दीन्हीं ।

नंद-जसोदा-हित कहि दीजो, हँस ‘उपंग-सुत’ लीन्हीं ॥

( भ्रमरगीत, सूरसागर )

१ उपंग शब्द ‘उपगु’ से बना है, अतएव उद्धव को श्रीसूर ने  
‘उपंग-सुत’ ‘उपँग-सुत’ कहकर सम्बोधन किया-कराया है, उसी प्रकार  
श्रीशुकने भी उद्धव को ‘औपगवि’ के सुन्दर-सम्बोधनसे सम्बोधित किया है—

इति सह विदुरेण विश्वमूर्तेर्गुणकथया सुधया प्लावितोरुतापः ।

क्षणमिव पुलिने यमस्वसुप्तां समुषित औपगविनिंशां ततोऽगात् ॥

( श्रीमद्भा० ३ । ४ । २७ )

उद्धव शब्दका एक मनोहर अर्थ और मिलता है—

कम्पोऽथ क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः;

( अमरकोश नाट्यवर्ग ७ । ३८ )

अर्थात्—क्षणः, उद्धर्षः, महः, उद्धव और उत्सव, ये उत्सव वा खुशी के नाम हैं। इस अनुपम अर्थके सहारे श्रीजीवगोस्वामी भगवान् के प्यारे सखा 'उद्धव' पर एक सरस टिप्पणी जड़ते हुए कहते हैं—

‘द्वयोरपि भ्रात्रोरुद्धवनामानौ पुत्रौ कथ्येते तथाप्ययं देवभागसुत एव ज्ञेयः, महाभागत्वं खलु तादृशश्रीकृष्णकृपायोगत्वं न तु पण्डितमात्रत्वं तदेवमेव कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः इति स एष ब्रजेश्वरेण तथा सम्बोधयिष्यते श्लेषेण साक्षादुद्धवः ‘मूर्तिमानुत्सव’ इति ।’

( वैष्णव-तोषिणी टीका, भागवत )

उद्धव, ऊधव और ऊधौ सम्बोधनों के प्रयोग—

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।

उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम् ॥

( श्रीमद्भा० १० । ४७ । ५३ )

‘उद्धव’ बेगि हीं ब्रज जाहु ।

सुरति-सँदेस सुनाइ मेंटौ, बल्लभिँन्ह कौ दाहु ॥

( भ्रमरगीत-सार पृ० ३ । ८ )

‘भेजि कें भौमती-भौन भलें अब ‘उद्धव’ प्रेम कौ पंथ सिखाइयै ।’

( गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह पृ० ७ )

ऊधव—

‘ऊधव’ के चलत गुपाल उर-माँहिं चला०—

( उद्धव-शतक ! रत्नाकर २० )

ऊधौ—

‘ऊधौ’ सबँन समोधि, बाँचि स्याँम की पत्रिका ।’

( नवनीत कवि )

( उपदेश )—शिक्षा, दीक्षा, हित-कथन, सिखावन, सीख, नसीहत । ब्रज, सं०—ब्रज—गो-स्थान, मथुरा-मण्डल, समूह—

“समूह-निवह-व्यूह-संदोह-विसर-ब्रजाः”

( अमरकोश २ । ५ । ३९ )

नागरी—नगरमें रहनेवाली, प्रवीण, चतुर स्त्री । यहाँ ‘नागरी’ शब्दका अर्थ इससे सम्बन्धित ‘ब्रज’ का वायकाटकर श्रीवियोगी हरिजीने अपने पहले संस्करण ‘ब्रज-माधुरी-सार’ में और श्रीबाबू ब्रजरत्नदासजीने स्वसम्पादित ‘भ्रमर-गीत’ में ( नागरीका अर्थ ) ‘नगरवासिनी’ अथवा ‘नगर-निवासिनी’ किया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ब्रज में नगर-निवासिनी स्त्रियाँ नहीं रहती थीं—निवास नहीं करती थीं । अपितु यहाँ दोनों अर्थात् ‘ब्रज और नागरी’ का अर्थ एक साथ ही होगा । ब्रज-नागरी—ब्रज की चतुर वा प्रवीण स्त्री, या स्त्रियाँ ।

रूप—किसी का वह गुण जो चक्षुरिन्द्रिय-द्वारा जाना जाता हो, अथवा पदार्थों के वर्णों व आकृति का योग जिसका ज्ञान नेत्रोंको होता हो । रूप, आकार, आकृति और सुन्दरताका भी नाम है ।

पदार्थोंमें एक शक्ति संनिहित रहती है जिससे द्रष्टाको उन पदार्थोंकी आकृति और वर्णादिका ज्ञान वा बोध होता रहता है, इसलिये इस शक्तिको ‘रूप’ कहते हैं; क्योंकि दर्शन-शास्त्रकारोंने

रूपको चक्षुरिन्द्रियका ही विषय माना है । वैशेषिक-दर्शनकार इसे ( रूप ) गुण मानते हैं ।

‘रूपं’ शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी’ ।

( अमरकोश १ । ५ । १६ )

सांख्यकार इसे पञ्चतन्मात्राओंमें एक तन्मात्रा और बौद्ध-दर्शनकार रूपको पाँच स्कन्धोंमें पहला स्कन्ध कहते हैं । वेदान्तदर्शनमें इसको एक उपाधि नामसे उद्घोषित किया है, अतएव ‘रूप’ सोलह प्रकारका होता है—“ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुरस्र, वृत्त, शुक्ल, कृष्ण, नीलारुण, रक्त, पीत, कठिन, चिक्रण, श्लक्ष्ण, पिच्छल, मृदु और दारुण ।

शील वा शील—उत्तम-स्वभाव, चाल-व्यवहार, वृत्ति, चरित्र, उत्तम-आचरण, अच्छा चाल-चलन आदि-आदि ..... ।

बौद्ध-शास्त्रकारोंने ‘शील’ के हिंसा, स्त्येन, व्यभिचार, मिथ्या-भाषण, प्रमाद, अपराह-भोजन, नृत्य-गीतादि, माला-गन्धादि, उच्चासन-शय्या, द्रव्य-संग्रह और इन सबका त्याग इत्यादि दस प्रकार माने हैं । कहीं-कहीं ‘पञ्चशील’ भी कहे जाते हैं, पर यह शील छः या दस पारमिताओंमेंसे एक है, जो कि तीन प्रकारका कहा जाता है—सम्भार, कुशल-संग्राह और सत्त्वार्थ-क्रिया ।

( हिंदी-शब्द-सागर ३३३१ )

पर—

‘शीलं स्वभावे सद्वृत्ते सस्ये हेतुकृते फलम् ।

अर्थात्—सुखभाव, प्रकृति, अच्छा यश आदिको ही “शील” कहते हैं ।

शुचौ तु चरिते “शीलम्” ... .. ।

( अमरकोश १ । ७ । २६ )

लावन्य ( लावण्य )—नमकीन, अत्यन्त सुन्दर, लुनाई ।  
सत्रै—सबका, सम्पूर्णका बहुवचन । गुण-आगरी—गुणोंकी खान,  
समूह । गुण—वह धर्म वा भाव अथवा सिफत जो किसी वस्तुके  
साथ सम्बन्धित हो—लगी हो ।

‘सांख्यकार तीन गुण मानते हैं, सत्त्व, रज और तम । इन  
तीनोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं । जिससे कि सृष्टि उत्पन्न  
होती है—विकसित होती है । सतोगुण हल्का और प्रकाश करने-  
वाला, रजोगुण चञ्चल व प्रवृत्तिकर तथा तमोगुण भारी और  
रोकनेवाला कहा जाता है । इन तीनों गुणोंका यह स्वाभाविक  
धर्म है कि वे परस्पर एक दूसरेको दबाते हुए अपना-अपना प्रभाव  
दिखाते और एक दूसरेके आश्रयमें रहते, एक-दूसरेको उत्पन्न करते  
रहते हैं । जिससे जाना जाता है कि सांख्यमें गुण एक प्रकारका  
द्रव्य है—तरल पदार्थ है, जो विविध धर्मोंसे धूसरित है और  
जिससे विविध पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं । विज्ञान-भिक्षुका अभिमत  
है कि जिससे आत्माके बन्धनार्थ महत्तत्त्व आदि रमणीय रज्जु तैयार  
होती है उसीको सांख्यकार “गुण” कहते हैं । वैशेषिक गुणको  
द्रव्यके आश्रित मानते हैं और उसकी परिभाषा इस प्रकार लिखते  
हुए कहते हैं कि—‘जो द्रव्यमें रहनेवाला हो, जिसमें कोई गुण न  
हो और जो संयोग-विभागका कारण न हो उसे “गुण” कहा जाता  
है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और  
वेग—ये मूर्त्त-द्रव्योंके गुण हैं । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,

धर्म, अधर्म, भावना और शब्द—ये अमूर्त-द्रव्यके गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, मूर्त और अमूर्त दोनों द्रव्योंके गुण हैं। यह गुण दो प्रकारका होता है—विशेष और सामान्य। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये 'विशेष' गुण हैं अर्थात् इनसे द्रव्योंमें भेद माना जाता है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक-द्रवत्व और वेगादि 'सामान्य' गुण हैं। द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है, पर गुण स्वयं आश्रय नहीं हो सकता। कर्म संयोग-विभागका कारण होता है? किंतु "गुण" नहीं। गुण—संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छहोंको राजनीति शास्त्रकी परिभाषामें "गुण" ही कहा जाता है। यथा—

सन्धिर्नाविग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः ।

षड् "गुणाः"..... ॥

कोशोंके अनुसार धनुषकी डोरीको भी गुण कहते हैं, यथा—

मौर्वी ज्या शिञ्जिनी "गुणः" ( अमरकोश )

ब्रज-नागरी, रूप, सील, लावन्य और गुण-आगरीके सरस-प्रयोग ।

"अरी "ब्रज-नागरी" प्यारी, दैजा मेरौ दाँन ।"

—परमानन्ददास

"रूप" अनोखौ पाइकेँ को करति है माँन-गुमाँन ।"

—कृष्णदास

१ नंददासजीने "रूप" शब्दका व्यवहार इस "भ्रमरगीत" में ही ६, ७, ९, १८, २१, २४, २८, २९, ३९, ४२ और ७५ नम्बरके छंदोंमें सुचारु रूपसे किया है सही, पर अपनी "रास-पञ्चाध्यायी" जैसा नहीं, जैसे—

'मंद परसपर हँसी, लसीं, तिरछी-अँखियँन अस ।

"रूप"—उदधि इतराति, रँगीली-मीन-पाँति जस ॥

“सील” सँकोच न त्यागिष्टे प्यारे ... ..।”

—परमानन्ददास

“कहि न सकति “लावन्यता” कीरति-राज-कुमारि।”

—चाचा वृन्दावनदास

“छबीली-नागरी, “गुन-आगरी” मेरौ मन मोहि लियौ।”

—सूरदास मदनमोहन

प्रेम-धुजा, शुद्धस्वरूप-प्रेमध्वजा—प्रेमकी ध्वजा, अर्थात् प्रेम करनेवालोंमें अग्रगण्य, अगाड़ी गिनी जानेवाली।

प्रेम-धुजा ( प्रेमध्वजा ) पर कुछ इसी भावको—नन्ददासजीकी इसी सौन्दर्यमय सूक्तिको, परमानन्ददासजीने बड़ी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है—

गोपीं प्रेम की धुजा।

जिँन्ह गुपाल किए अपने बस, उर धरि स्याँम-भुजा ॥

सुक-मुनि ब्यास प्रसंसा कींन्हीं, ऊधौ-संत-सरौंहीं।

भूरि-भाग गोकुल की बनिता, अति-पुनीत भुज-माँहीं ॥

कहा भयौ बिप्र-कुल जनमैं, जो हरि-सेवा नाँहीं।

सोइ कुलीन ‘दास परमानँद’, जे हरि सनमुख जाँहीं ॥’

हमारे माननीय स्वर्गीय कवि श्रीनवनीतजी भी यही कहते हैं—

नारद, परासर तें आदि ब्यास, सुकदेव,

मुदित मसाला गेरि कींन्हीं चाँह चस की।

‘नवनीत’ प्यारे के प्रतापी ध्रुव कारीगर,

प्रीति-पिरथी मैं नीम खोदी खँम कस की ॥

परम-पुनीत-पैहलाद परकोटा कियौ,

उद्धव अनन्य छात छाई नेह बस की।

ब्रज सौ मैहल ताके कलस कन्हैयाँलाल

प्यारी-प्रभा गोपिका 'धुजा' है प्रेम-रस की ॥

रस-रूपनी—रस-स्वरूपिणी, अर्थात् रसों की साक्षात् मूर्तियाँ ।

रस—रस नौ प्रकारके माने जाते हैं । यथा—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।

वीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥

( साहित्यदर्पण ३ । १८२ )

अर्थात्—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स अद्भुत और शान्त आदि । कोई-कोई शान्तको प्रणामकर केवल आठ रस ही मानते हैं ।

शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।

अष्टवेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

अथवा—

अष्टवेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।

तदच्चारु यतः कंचिन्न रसं स्वदते नटः ॥

( सङ्गीतरत्नाकरे ७ । १३-७० )

कुछ लोग 'वात्सल्य'—रस 'लौल्य-रस' और कार्पण्य-रसके साथ 'भक्ति-रस' को भी इन नौ रसोंमें ही जोड़ते हैं ।

वैद्यक-ग्रन्थ रस छः मानते हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय । सुश्रुत-अनुसार जो पदार्थ मनुष्य खाता है उससे द्रवस्वरूप जो पहले सूक्ष्म-सार बनता है वह भी 'रस' कहलाता है । रस आनन्दको, मजेको भी कहते हैं । विहार, केलि, काम-

क्रीड़ा आदिको भी 'रस' कहते हैं। उमंग, जोश, वेग, गुण, सिफ़त, जल, पानी आदिको भी 'रस' कहते हैं; परंतु श्रीनन्दासजीने इन रसोंके लिये इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है, अपितु यहाँ 'रस' शब्दसे वह अभिप्रेत अर्थ है, जिसके लिये श्रुतियाँ कहती हैं—

रसो वै सः । रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति ।

( तैत्तिरीयोपनिषद् २ । ७ । १ )

वेदोंमें भगवान्को 'रस' रूप कहा है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोः ।

तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

( अथर्व० १० । ८ । ४४ )

अतः वेदों, उपनिषदों और ब्राह्मणोंमें जिस मधु-रसका नाना प्रकारसे वर्णन किया है, वही 'रस' यहाँ अभिप्रेत है—वही अर्थ यहाँ इच्छित है ।

उपजावनि—उपजानेवाली, पैदा करनेवाली । सुख-पुंज—सुखका समूह, ढेर । सुख—मनकी वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति जिसके द्वारा अनुभव करनेवालेको विशेष समाधान और संतोष होता हो, अथवा जिसके बराबर अर्थात् हमेशा बने रहनेकी कामना करता हो वह अनुकूल और प्रिय-वेदना जिसकी सबको अभिलाषा रहती है ।

सुखको कुल लोगोंने हर्षका पर्यायवाची शब्द माना है, पर है दोनोंमें अन्तर । कोई उत्तम समाचार सुनने अथवा कोई उत्तम पदार्थ प्राप्त होनेपर मनमें जो सहसा 'वृत्ति' स्फुरित होती है उसे हर्ष कहते हैं ।

यथा—

‘पिय-दरसन, स्रवनादि तैं, होइ जो हिणें प्रसाद ।’

—देव

परंतु ‘सुख’ इस तरह आकस्मिक रीतिसे नहीं होता; क्योंकि वह हर्षकी अपेक्षा अधिक स्थायी—देरतक ठहरनेवाला होता है । अनेक प्रकारकी चिन्ता, कष्ट आदिसे अलग रहनेपर तथा अनेकानेक वासनाओंकी परितृप्ति होनेपर मनमें जो प्यारी-प्यारी अनुभूतियाँ अलङ्कृत होती हैं, वास्तवमें देखा जाय तो वही सुख है । अतः इस सुखको कुछ महानुभावोंने मनका और कुछ लोगोंने आत्माका अनुग्रह धर्म माना है । न्याय और वैशेषिक मतानुसार सुख आत्माका ‘गुण’ है जो दो प्रकारका है—नित्य-सुख और जन्य-सुख । सांख्य और पतञ्जलिके अभिमतसे ‘सुख’ प्रकृतिका धर्म है, जिसकी उत्पत्ति सत्त्वोंसे होती है । गीता भी तीन प्रकारका ‘सुख’—सात्त्विक, राजस और तामस नामसे मानती है । सात्त्विक सुख ज्ञान, वैराग्य और ध्यानादिसे, राजसिक सुख विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे और तामसिक सुख आलस्य और उन्मादसे उत्पन्न होता है; किंतु कोशकार ‘हर्ष’ को ही ‘सुख’ मानते हैं—

मुद् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः ।

स्यादानन्दपुरानन्दशर्मशातसुखानि च ॥

( अमरकोश १ । ५ । ३ )

सुंदर-स्याम-बिलासनी—श्याम-सुन्दरके साथ विलास करनेवाली, अर्थात् लीला करनेवाली, खेलनेवाली । ‘सुंदर-स्याम’ श्रीकृष्णका नाम

विशेष है। विलास वा विलास—खेल, क्रीड़ा, कौतुक, भोग, सुख, आनन्द।

‘स्त्रीणां विलासविव्वोकविभ्रमा ललितं तथा।’

( अमरकोश १।७।३१ )

नव-बृंदाबँन-कुंज—नयी, नूतन, नवीन-श्रीवृन्दावनकी कुञ्ज।  
बृंदावन—तुलसीका वन, कुंज—लतादिसे ढका हुआ स्थान।

रस-रूपनी, उपजावनि, सुख-पुंज, सुन्दर-स्याँम-विलासनी,  
वृन्दावन और कुंजके सरस प्रयोग—

‘रस-रूपनी’ प्यारी ! नेंकु इत देखौ मुख-मोरि ।’

—गदाधर भट्ट

‘सुख’ ‘उपजावनी’ राधे ऐसौ न कीजै मान ।’

—ललितकिशोरी

‘बृंदाबँन’, निरखों कबै जहँ ‘कुंज-कुंज’ ‘सुख-पुंज ।’

—नागरीदास

‘सुन्दर-स्याँम’ सुजाँन सिरोमनि, देहुँ कहा कहि गारी हो ।’

—गदाधर भट्ट

( २ )

स्याँम-संदेश—श्यामका संदेश, समाचार, हाल-चाल, खबर, संवाद। संकेत—इशारा, निर्दिष्ट-स्थान। औसर—अवसर, समय। इक-ठाँउ—एक-ठाँव, एक जगह एकत्रित। मधुपुरी—‘मथुरा’ का प्राचीन नाम।

श्रीशुकने ‘मथुरा’ का वर्णन श्रीमद्भागवतमें बड़ा सुन्दर किया है—

अथापराहणे भगवान् कृष्णः संकर्षणान्वितः ।  
 मधुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृशुः परिवारितः ॥  
 ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर-  
 द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।  
 ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा-  
 मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥  
 सौवर्णशृंगाटकहर्म्यनिष्कुटैः  
 श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।  
 वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै-  
 मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥  
 जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे-  
 ष्वाविष्टपारावतवर्हिनादिताम् ।  
 संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां  
 प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥  
 आपूर्ण-कुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः  
 प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।  
 सवृन्दरम्भा क्रमुकैः सकेतुभिः  
 खलंकृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥  
 ( श्रीमद्भागवत १० । ४१ । १९, २०, २१, २२ )

संदेस, संकेत, औसर, ठाँउ और मधुपुरी आदि शब्दोंके प्रयोग—

‘गोपी ? सुनों हरि—संदेस’ ।’

—सूरदास

‘सखी री मैं, ना जानौं ‘संकेत’ ।’

—कृष्णदास कटहरिया

‘मन ! पछितैहौ ‘औसर’ बीते ।’

—सूरदास

‘रूंगट करत स्याम खेलन में सखा रहौ ‘इक-ठाँउ’ ।’

—रामदास

महो कां कां शङ्कां प्रकटयति सैषा ‘मधुपुरी’ ।’

—श्रीशंकराचार्य

श्रीनन्ददासजीकी इस उक्तिपर ‘रसरूप’जीके दो छन्द बरबस याद आ जाते हैं—

उद्वमवमवलोक्य गोपाङ्गना उवाच

‘कहा नाम, आए कहाँ, किहि पठयौ किहि काज ।  
जाचकं हौ, को हौ, अहो ? परम-साधु के साज ॥’

उद्व उवाच

‘संगी हैं, सलूकी हैं, सलाही हैं, सँकोची साधु-  
सिख्य हैं, सुसील हैं, सुपात्र हैं, सुदेसी हैं ।  
सुखी हैं, सँतोखी हैं, सप्रैम हैं सनेम सदाँ-  
साँचे सीन-साक सपने हूँ न अँदेसी हैं ॥  
‘रसरूप’ सुनिणें सुचित्त ह्वै केँ सावधान-  
सबन साँ कहिए सँमीप सब बैसी हैं ।  
सेबक हैं, सखा हैं, सयाँन-सुभचितक हैं,  
सूधौ ‘ऊधौ’ नाम-साँच स्याँम के सँदेसी हैं ॥  
‘बाँनी को बढाइ करि, सब को सुनाइ करि,  
कहँगे बुझाइ करि, जैसी जहाँ चहिए ।  
गधौ सब रोग, भयौ आनँद कौ जोग-  
जोग कीजिए बजाइ केँ बियोग तें न दहिए ॥  
‘रसरूप’ कौन जानें कौन हिणें कैसी लगै-  
ब्यौरौ बिसेस यातें जीभ तें न कहिए ।  
मन हीं में सहिए बरु मोन गहि रहिए जो-  
माँनिणें तौ कहिए न माँनों राह गहिए ॥’

( ३ )

‘गोपियोंकी प्रेम-व्यवस्था’

कवि-कथन

स्याँम—भगवान् श्रीकृष्णका नाम-विशेष जो उनके शरीरके काले रंगके कारण पड़ा था ।

भगवान्के इस ‘नीलोत्पल-दल-स्याँम’ स्वरूपपर कवि-कोविदोंने बड़ी-बड़ी उड़ानें उड़ी हैं,—अनोखी फवतियाँ कमी हैं । कोई आपके श्याम-स्वरूप होनेका कारण बतलाता हुआ कहता है—

“जसोधा नें कारी-अँधेरी में जायौ ।

जासौ ‘कारौ-कृष्ण’ कहायौ..... ॥”

—कोई कवि

अथवा—

‘कजरारी-अँखियान में बस्यौ रहत दिन-रात ।

पीतम-प्यारौ हे सखी, ता तें ‘साँवर-गात ॥’

—नागरीदास

क्योंकि—

‘गोरे नंद, जसोदा गोरी, तुम्ह कित स्याँम सरीर ।’

—सूरदास

अथवा—

“गोरे श्री नँदराइजू, हो गोरी-जसुमति माइ ।

तुँह याहीं तें साँवरें लाला, ऐसे लच्छिन पाइ ॥”

—हरिरायजी

रघुनाथ कवि कहते हैं—

‘काछौ कछें पट-पीत कौ सुंदर, सीस धरें पगिया-रँग-राती ।

हार गरैं बिच गुंजन कौ, अलकें छिति-छोरन लों छहराती ॥

खेलत ग्वालन-सँग 'रघुनाथ' औ डोलै गलीन-महा उतपाती ।  
जौ रँग-साँवरौ हो तो न ईठि, तौ काहू की डीठि कहुँ लग जाती ॥'

गोविन्द-स्वामी कहते हैं—

'रसमसे नन्द-दुलारे ? आए हौ उठि भोर ।

अरुन नैन, बैन अटपटे, भूषन दिखयतु जहँ-तहँ अधरन रँगभारे ॥

कित अब बाद करत गुसाँई ? जहीं जावौ जाके प्राँन-प्यारे ।

'गोविन्द' प्रभु पिय भलें जु भलें आए, जान पाए, जैसे 'तनस्याँम, तैसेई मन-कारे ॥

यहाँतक तो खैर थी ? अब 'श्याम' रंगकी दूसरी करामात देखिये—

'या अनुरागी-चित्त की गति समुझै नहिं कोइ ।

ज्यों-ज्यों बृद्धै स्याँम-रँग, त्यों-त्यों ऊजरु होइ ॥'

—बिहारी

वेनी-प्रवीन कहते हैं—

'भोर हीं आवत नन्द-किसोर, बिलोकति ही ललनाँ उठि दौरी ।

'बेनी प्रवीन' दोऊ कर सों गहि गाढे कै लागि गई लड़वौरी ॥

जानें कहा ए अजानी सबै, मैं दिखाइहों लै सखियान कों औरी ।

साँवरे-रंग लगें हरि रावरौ, साँवरी ह्वै गई पीता-पिछौरी ॥'

एक और—

'न्हात-ही-न्हात तिहारे ही स्याँम ? कलंदियौ स्याँम भई बहुतै है ।

धोखें हूँ धोइ हौं या मैं कहुँ तौ, यहै रँग सारिन हूँ सरसै है ॥

साँवरे अंग कौ रंग कहुँ, इहि मेरे सुअंगन में लागि जैहै ।

छैल-छबीले छुवौगे जु मोहि, तौ गातैन मेरे गुराई न रैहै ॥

—कोई कवि

वाँम—शुद्ध स्वरूप "वाम" अथवा "वामा" "वामा"का लघुरूप जिसका कि अर्थ "स्त्री" होता है ।

‘नवल त्रिभंग कदम-तर ठाढ़ौ मोहत सब \* ‘ब्रज ‘बाँम ।’

—सूरदास

बाँम—बाँए और टेढ़ेको भी कहते हैं । जैसे—

‘बाम-बाहु’ फरकति मिलैँ जाँ हरि जीवन-मूरि ।

तौ तोही साँ भेंटि हों, राखि दाहिनी दूरि ॥’\*

—बिहारी

‘बिधि हूँ भयौ जु “बाँम ।’

—व्यासजी

उर्दूमें ‘बाँम’का अर्थ—अठारी, कोठा, मकानके ऊपरवाली छत, घरका सबसे ऊपरवाला भाग, अथवा घरकी चोटीको कहते हैं, जैसे—

‘तमाम रात हुई, कर गया किनारा चाँद ।

बस उतरौ “बाम” से तुम जीते और हारा चाँद ॥’

‘तूर पर जैसे किसी वक्त मैं चमकै थी झलक ।

कुछ सरे “बाम” से वैसा ही उजाला निकला ॥’

‘बाम” पर नंगे न जाओ तुम सबै महताब में ।

चाँदनी पड़ जायगी, मैला बदन हो जायगा ॥’

घर—गृह, मकान, वासस्थान । सुध—याद, स्मरण, चेत, स्मृति । आँनद वा आनन्द—ह्लाद, हर्ष, प्रसन्नता, खुशी, सुख, मोद, आह्लाद ।

\* बिहारीके इस दोहेपर एक ऐसी ही भावभरी यह ‘आर्या’ भी सुन्दर है, यथा—

‘प्रणमति पश्यति चुम्बति संश्लिष्यति पुलकमुकुलितैरङ्गैः ।

प्रियसङ्गमाय स्फुरितां वियोगिनी ‘वाम’बाहुलताम् ॥’

—आर्या सप्तशती ।

मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसंमदाः ।  
स्यादानन्दः पुरानन्दशर्मशातसुखानि च ॥

( अमरकोश १।५।२ )

हृदै ( हृदय )—अन्तःकरण, मन, चित्त, छाती, दिल, कलेजा । हृदय, छातीके भीतर—अंदर बाँधी ओर स्थित मांस-कोश वा थैलीके आकारका एक भीतरी अवयव है जिसमें स्पन्दन होता रहता है और उसमें होकर शुद्ध-रक्त नाड़ियोंद्वारा सारे शरीरमें संचार किया करता है ।

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।

( कोश )

प्रेम वा प्रेम—प्रीति, अनुराग, स्नेह, प्रणय, मुहब्बत, प्यार, माया ।

“प्रेम्णा प्रियता हार्दं ‘प्रेम’ स्नेहोऽथ दोहदम् ।”

यों तो ‘प्रेम’ शब्दका अर्थ—उसकी परिमित परिभाषा आज तक न बनी, बकौल—स्वर्गीय श्रीसत्यनारायणजीके—

“उलटा-पलटी करहु निखिल-जग की सब भाषा ।

मिलहि न पै कहूँ एक, प्रेम-पूरी-परिभाषा ॥”

क्योंकि प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है, अर्थात् कहनेमें नहीं आ सकता—गूँगेके गुण-जैसा है, अनुभवसिद्ध है ।

“अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपं.....मूकास्वादनवत्”

( नारदभक्तिसूत्र ५१, ५२ )

यही श्रीसत्यनारायण कहते हैं

“जानत सब कछु प्रेम-स्वाद मुख-वरनि न आवै ।  
जदपि परम-बाचाल मूँक ज्यों भाव बतावै ॥  
बिद्या-बल तत्त्वनि के भेद, प्रभेद, बताएँ ।  
गूँगे कौ गुर-खाइ, जगत बैठ्यौ सिर नाएँ ॥”

उर्दूके शायर भी प्रेमके—इश्कके विषयमें कुछ न बतलाते हुए वही बेवसीका ढोल पीटते हैं—

शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेक्रता ।  
एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई ॥

—गालिब

मीर कहते हैं—

“हम तौरे इश्क से तो वाकिफ़ नहीं हैं लेकिन ।  
सीने में कोई जैसे, दिल को मला करै है ॥”

एक और शायर साहब फ़र्माते हैं—

“इश्क़ो-मुहब्बत क्या जानूँ, लेकिन इतना मैं जानूँ हूँ ॥”  
“अंदर-ही-अंदर सीने में, मेरे दिल को कोई खाता है ॥”

लेकिन फिर भी प्रेमकी परिभाषाएँ चाहे वे अधूरी ही हैं, किसी-न-किसी रूपमें मिलती ही हैं । सबसे प्रथम ‘भक्ति-सूत्र’ में प्रेमकी परिभाषा करते हुए श्रीनारद मुनि कहते हैं—

“गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्द्धमान-  
मविच्छिन्नं सूक्ष्मतरमनुभवरूपम् ।”

( नारदभक्तिसूत्र ५४ )

अर्थात्—प्रेमका स्वरूप गुण और कामनाओंसे रहित,

प्रतिक्षण बढ़नेवाला, एक-रस, अत्यन्त-सूक्ष्म, केवल अनुभवगम्य है।  
जैसे—

“बिन गुन जोबन रूप धन, बिन स्वारथ हित जाँन ।  
सुद्ध-कामना तें रहित, प्रेम सकल रस-खाँन ॥  
अति सूच्छम, कौमल अतिहि, अति पतरौ अति दूर ।  
प्रेम कठिन सबतें सदाँ,—नित इक रस भरपूर ॥”  
“इक अंगी, बिन कारनें, इक रस सदाँ समान, ।  
गनें प्रियहिं सरबस्व जो, सोई प्रेम-प्रमान ॥”  
“रसमै, स्वाभाविक, बिना-स्वारथ, अचल, महाँन ।  
सदाँ-एकरस, सुद्ध सोई, प्रेम अहै “रसखाँन” ॥”

भक्ति-रसामृत-सिंधुके कर्त्ता कहते हैं—

“सम्यङ्मसृणितस्वान्तो यमत्वातिशयाङ्कितः ।  
भावः स एव सान्द्रास्त्रा वुधैः प्रेमा निगद्यते ॥”

अथवा—

“दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा ।  
यत्र द्रवव्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते ॥”

करुण-रसाचार्य्य महाकवि श्रीभवभूतिजी अपने ‘उत्तर राम-चरित’  
नाटकमें प्रेम चित्राङ्कण करते हुए कहते हैं—

“अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्-  
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरया यस्मिन्नहार्यो रसः ।  
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं  
भद्रे प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥”

अर्थात्—खर्गीय कवि श्रीसत्यनारायणजीके शब्दोंमें—

“सुख-दुख मैं नित एक हृदय कौ प्रिय-बिराम-थल ।  
सब विधि सों अनुकूल, बिसद-लच्छनमय अबिचल ॥  
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जठराई ।  
ज्यों-ज्यों बाढ़त सघन, सघन सुंदर सुखदाई ॥  
जो अवसर पर संकोच तजि, परबत दृढ़ अनुराग सत ।  
जग दुरलभ सज्जन प्रेम अस, बड़भागी कोऊ लहत ॥

कबीर-साहब फरमाते हैं—

“छिन हिं चढ़ै, छिन ऊतरै, सो तौ प्रेम न होइ ।  
अघट प्रेम पिंजर बसै, प्रेम कहावै सोइ ॥”

सच-बात तो यह है कि प्रेमकी कोई ठीक-ठीक परिभाषा हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रेम ईश्वरमय है—ईश्वर ही है, अथवा ईश्वर ही प्रेम हैं । जैसे—

“नित्त बिचारनु जोग रुचत उपदेस यही उर ।  
परमेसुर-मै प्रेम, प्रेम-मय नित परमेसुर ॥”

अथवा—

“प्रेम हरी कौ रूप है, त्यों हरि प्रेम सरूप ।  
एक होइ द्वै यौ लसें, ज्यों सूरज औ धूप ॥”

—रसखान

यही बात हजरत ‘मीर’ फरमाते हैं—

तू न होवै तो नज़म कुल उठ जाँय ।  
सच्चे हैं शायराँ, खुदा है इश्क़ ॥

अस्तु, परम-शुद्ध और विस्तृत अर्थमें ‘प्रेम’ ईश्वरका ही स्वरूप है, इसलिये अधिकांश धर्मोंके अनुसार प्रेम ही ईश्वर, वा ईश्वर

ही प्रेम—अथवा प्रेम ही परम धर्म माना जाता है—गाया जाता है और यही भक्तिका परमोत्कृष्ट स्वरूप समझकर मोक्ष-प्राप्तिका परम-साधन बतलाया जाता है। यों तो सत्-शास्त्रकारोंने, अथवा वैष्णव-साहित्य-सृजेताओंने प्रेमके अनेकानेक भेद-विभेद विभूषित किये हैं, पर मुख्यतम रूपसे—उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् निकृष्ट ये तीन भेद ही कहे हैं। उर्दू-साहित्य-सम्राटोंने इस इश्कके केवल दो ही भेद माने हैं—मजाजी और हकीकी। अस्तु,

“प्रेम-समुद्र अथाह है, बूड़ें मिलै न अंत।  
तेहि समुद्रमें हों परा, तीर न मिलत तुरंत ॥”

—नूरमुहम्मद

अथवा—

“हविसे-ईद मिटी है न मिटेगी ‘हसरत’।  
देखने के लिये चाहे उन्हें जितना देखो ॥”

भारतीय प्रेम-परिभाषा जहाँ उसे ईश्वरका रूप ही मानती है, वहाँ उससे इतर देशोंने प्रेमकी परिभाषा निम्न प्रकारसे की है। यथा—

१. अमरीका—“खूबकर प्यार, खूब कोड़ेमार ।”

२. अरब—“प्रेम सात सेकंड, कल्पना सात मिनट और अप्रसन्नता जीवनभर टिकती है ।”

३. आयरलैंड—“एक पुरुष अपनी प्रेयसीको सबसे अधिक, पत्नीको सबसे अधिक अच्छी भाँति और माँको सबसे अधिक समय-तक प्यार करता है ।”

४. आयरलैंड—“सभी पुरुषोंसे प्रेम करो, मुस्तारको छोड़कर ।”

५. इंग्लैंड—“सूप ( एक प्रकार मांससे बना पेय ) और प्रेममें प्रथम ( सूप ) ही उत्तम होता है ।”

६. इंग्लैंड—“वह बिठकुल प्रेम नहीं करता, जो जानता है कि अन्त किस प्रकार किया जाता है ।”

७. जर्मनी—“प्रेम दृष्टिको छीनता है, विवाह पुनः प्रदान करता है ।”

८. जापान—“प्रेमीकी दृष्टिमें चंचकके दाग, गालोंमें पड़नेवाले सुन्दर गढे होते हैं ।”

९. डेन्मार्क—“यदि सोना बरसे तो भी प्रेमी कभी धनी नहीं होगा ।”

१०. फ्रांस—“बिना ईर्ष्याके कहीं प्रेम नहीं होता ।”

११. फ्रांस—“पुराना प्रेम और पुराने कोयले जल्दी आग पकड़ते हैं ।”

१२. फिजिशियन प्रदेश—“बचकाना प्रेम अधूरा और बूढ़ा प्रेम ठंडा होता है ।”

१३. मिश्र—“प्रेमीका प्रहार उतना ही मधुर होता है, जितना कि किसमिस खाना ।”

१४. पोलैंड—“प्रेम पुरुषकी आँखोंसे और स्त्रीके कानोंसे प्रवेश करता है ।”

१५. पोलैंड—“जो बहुत प्यार करता है, वही बहुत मारता है ।”

१६. रूस—“प्रेम और अंडा ताजा ही स्वादिष्ट होता है ।”

१७. लैटिन-प्रदेश—“प्रेमी, पागल ।”

१८. वाल्टिक-प्रदेश—“प्रेमको शीरेकी भाँति फैलाया जा सकता है ।”

१९. स्काटलैंड—“किसीकी प्रेमिका कुरूप नहीं होती ।”

२०. स्पेन—“प्रेम मोचकी भाँति होता है जिसकी पुनरावृत्ति अधिक सरलतासे हो जाती है ।”

२१. स्वीडन—“प्रेम वा पाजामामें लगी आगको छिपाना सरल नहीं होता ।”

२२. हंगरी—“स्वप्नों और प्रेममें कुछ भी असम्भव नहीं ।”

२३. कोई—“प्रेमकी जीभ उसकी आँखोंमें होती है ।”

बेली—शुद्ध स्वरूप बेल, बेलि, वा वल्ली और वनस्पति-शास्त्रके अनुसार वे छोटे-छोटे तथा कोमल पौधे जिनमें काँड़ या मोटे-तने नहीं होते और अपने बलपर ही ऊपरकी ओर उठते हैं, पर बढ़ नहीं सकते । इसीसे इसे लता व वल्ली कहते हैं ।

“अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ वल्ली तु व्रततिर्लता ।”

( अमरकोश २ । ४ । ९ )

साधारणतः बेल दो प्रकारकी होती है । एक वह जो कि अपने उत्पन्न होनेके स्थानसे आस-पासके पृथ्वी तलको अथवा इसी तरह किसी अन्य तलपर दूरतक फैलती चली जाती है । दूसरी वह जो कि आस-पासके वृक्षों अथवा इसी कार्यके लिये लगाये गये बाँस आदिके सहारे उनके चारों ओर घूमती हुई ऊपरकी ओर जाती है ।

द्रुम—वृक्ष, महीरुह, शाखी, विटपी, पादप, तरु, अनोकह, कुट, साल, पलाशी, द्रुः और अगमको कहते हैं ।

वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः ।

अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुदुमागमाः ॥

( अमरकोश २।४।५ )

फूली— फूलना, विकसित होना, खिलना, आनन्दित होना, श्रीनन्ददासजीके—“प्रेम-बेली-द्रुम-फूली”रूप पद्यांशपर श्रीसत्यनारायण-जीकी एक बड़ी सरस सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

“कृष्ण-बिरह की बेलि, नई ता उर हरियाई ।

सोचन-अखु-बिमोचन दोऊ दलबल अधिकाई ॥

पाइ प्रेम-रस बढ़ि चली, तन-तरु लिपटी धाइ ।

फैलि फूटि चहुँघाँ छई, बिथा न बरनी जाइ ॥

—अकथ ताकी कथा ।

पुलकि—पुलकित होकर, हर्षित होकर वा हर्षसे—प्रेमसे । रोम वा रोम—रोयाँ, लोम, देहके—शरीरके बाल । छए—छा गये, फैल गये ।

“पुलकि—रोम सब अँग छए” पर बिहारीकी उक्ति बड़ी लाजवाब है । देखिये न, जैसे—

“मैं यह तोही मैं लखी, भगति-अपूरब बाल ।

लहि प्रसाद-माला जु भौ, तन कदंब की माल ॥”

अर्थात्—

“अपूरब-भक्ति यह तुझ में ही देखी मैंने ऐ—बाला ।

कदम-सा खिल गया तन लेते ही परसाद की माला ॥”

—देवीप्रसाद “प्रीतम”

कंठ-घुट्यौ—कण्ठ, अर्थात् गला । घुट्यौ—घुटा, मुँदा—रूँधा

अथवा कण्ठ-घुटना—गलेसे आवाज न निकलना । गद्गद-गिरा—  
गद्गद, अत्यन्त हर्ष, प्रेम, शोक, श्रद्धा आदिके कारण—अथवा  
उसके आवेगसे इतना पूर्ण कि अपने आपेको भूल जाय और स्पष्ट  
शब्दका उच्चारण न कर सके । गिरा—वाणी, वचन । बोलनेकी  
वह शक्ति जिससे मनुष्य बातें करता है । बेंन—वचन, बोली,  
शब्द, बात, कथन । बिबस्था, वा व्यवस्था—किसी कार्यका वह  
विधान जो कि शास्त्र-द्वारा निश्चित वा निर्धारित हो ।

स्याँम, बाँम, घर, सुधि, आनँद, हृदै, प्रेम, बेली, द्रुम,  
पुलकि-रौंम, गद्गद-गिरा और बेंन—शब्दोंके सरस प्रयोग । यथा—

“सोहत ओढ़ै पीत-पट ‘स्याँम’ सलौंने-गात ।”

—बिहारी

“घेरि लेउ सब सखा सयाने, जान न पावै “बाँम” ।”

—छीतस्वामी

“आज ‘घर’ मंगलचार—बँधाए ।”

—रामदास

‘सुधि’ न रहत सररीर की.....।”

—पंडितराज जगन्नाथ

“उर ‘आनँद’ अति ही बढ्यौ, सुफल भए दौऊ भेंन ।”

—रसिकराय

“हृदै” की कासों कहीं मैं पीर ।” —ललित-माधुरी

“प्रेम” करि काहू सुख न लह्यौ ।” —सूरदास

“श्रीवृंदावन फूलि रही अति—“बेली” ।” —रसिक-किसोरी

“जमुना-पुलिन-कुंज गहवर की-

कोकिल है “द्रुम” कूक मचाऊँ ।” —ललित-किसोरी

“पुलकि-रौम” सब अँग-अँग छाप, कछु छबि ऐसी देत ।

अँकुर उठे प्रेम के मानों, सरस हँम के खेत ॥”

—परमानन्ददास

“तब बोली ब्रजबाल, लाल मोंहन अनुरागी ।

सुंदर “गदगद-गिरा”, गिरधरहिँ मधुरी लागी ॥”

—नन्ददास

“सुन केवट के “बैन” प्रेम लपेटे अटपटे ।”

—तुलसीदास

कुल ऐसी ही प्रेम-व्यवस्थाका वर्णन श्रीशुक भी नन्द-बाबाकी  
(का) करते हैं, यथा—

“इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।

अत्युत्कण्ठोऽभवत् तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । ४६ । २७

अब इस प्रेम-व्यवस्थापर श्रीस्वर्गीय ‘रत्नाकर’ की भी बानगी  
देखिये, यथा—

“धौँई धौँम-धौँम तें अबाई सुनि ऊधव की,

बाँम लाख-लाख अभिलाखनि सों भवै रहीं ।

कहै “रतनाकर” पै बिकल बिककि तिन्है—

सकल करेजौ थाँमि आपुनपौ खवै रहीं ॥

लेखि निज-भाग लेखि रेखि तिन आँनन की,  
 जाँनन की ताहि आतुरी सों मन म्वै रहीं ।  
 आँस रोकि, साँस रोकि, पूँछन-हुलास रोकि,  
 मूरति निरास की-सी आस-भरी ज्वै रहीं ॥”

अथवा—

“भेजे मन-भावन के ऊधव के आवन की—  
 सुधि ब्रज-गावनि<sup>१</sup>में पावनि जबै लगिं ।  
 कहै “रतनाकर” गुवालनि की झौरि-झौरि,  
 दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगिं ॥  
 उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै—  
 पेखि-पेखि पाती, छाती छोहन सबै लगिं ॥  
 हम कों लिख्यौ है कहा ? हम कों लिख्यौ है कहा ?  
 हम कों लिख्यौ है कहा ? कहँन सबै लगिं ॥” ❀

एक और—

उधौ ! 'आए-आए, हरि कौ सँदेसौ लाए—  
 सुनि गोपी-गोप धाए मन धीर ना धरति हैं ।  
 बौरी लगि दौरिं उठि भौरी लौं भ्रमत मन,  
 गुन तन जनों गुरु-लोग बिदरति हैं ॥  
 है गई बिकल-बाल बालम-बियोग भरीं,  
 जोग की सुनत बात गात ज्यों जरत हैं ।  
 भारे भए भूषन, सम्हारे न परत अंग-  
 आगे कों धरति पग पाछे कों परति हैं ॥  
 —गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह,

\* रत्नाकरजीके ऊपर दिये छन्दपर श्रीसूरका एक पद याद आ गया है

यथा—

‘पाती, मधुबन ही तें आई ।

सुंदर स्याम-काँन्ह लिखि पठई, आइ सुनौ री माई ?

अपने-अपने गृह ते दौरिं, लै पाती उर लाई ।

नैननि निरखि निमेख न खंडित प्रेम बिथा न बुझाई ॥

कहा करों सुनों यह गोकुल, हरि बिनु कछु न सुहाई ।

‘सूरदास’ प्रभु कौन चूक तें, स्याम, सुरत बिसराई ॥

## मान-संमानांतर

कथोपकथन

( ४ )

**अरघासन**—अर्घ और आसन, सम्मानार्थ जलसे अभिसिंचन, षोडशोपचार-पूजाका प्रथम उपस्करण, जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों और तण्डुल तथा यव आदि मिलाकर देव-विशेषको अर्पण करना । सामने जल, पानी गिराना । मोल आदि—

“मूल्ये पूजाविधावर्घः अंहो दुःखव्यसनेष्वघम् ।”

—अमरकोश ३ । ३ । २७

**आसन**—पूजनके समय बैठनेका अथवा किसी भद्र पुरुषके घर आनेपर बिछावन देनेकी वस्तुको आसन कहा जाता है । पीठ, पीढ़ा, चौकी, हाथीका कंधा, शत्रु वा जिगीषुका, अवसर प्रतीक्षार्थ अवस्थान, कुश वा ऊनका बना हुआ बिछाने योग्य वस्त्र-विशेष ।

“गेण्डुकः कन्दुको दीपः प्रदीपः पीठमासनम् ।

—अमरकोश २ । ६ । ४०

अथवा—

‘आसनं’ स्कन्धदेशः स्यात्.....।’

—अमरकोश २।८।७

वैसे तो योग-शास्त्रानुसार तथा कामशास्त्रानुसार आसन चौरासी प्रकारके कहे जाते हैं, पर अष्टाङ्ग-योगके तीसरे-अङ्गानुसार “आसन” पाँच प्रकार माना जाता है, जैसे कि “पद्मासन, खस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन” । प्रकारान्तरसे—पद्मासन, सिद्धासन, गरुड़ासन, कमलासन और मयूरासन भी कहे जाते हैं, आदि..... ।

परिकंमा—परिकरिमा वा परिक्रमा, अर्थात् किसी वस्तु वा देवताके चारों ओर घूमना, फिरना, चक्रर लगाना । श्याम-सखा—श्यामका सखा, मित्र, बन्धु, साथी, संगी आदि..... ।

वयस्यः स्निग्धः सवयाः अथ मित्रं सखा सुहृत् ।

—अमरकोश २।८।१२

निज—अन्तरङ्गीय, आत्मीय, स्वकीय, खास, प्राइवेट, मुख्य, प्रधान । हित—हितसे, प्रेमसे । सेवा—शुद्ध सेवा, किसीको आराम पहुँचानेकी क्रिया, यानी टहल, खिदमत, परिचर्या । ब्रूयत—पूछत । नन्द-लाल—नन्दके लाल, प्यारे बेटे, लड़के, । नन्द—गोप जातिके एक प्रमुख सरदार, नेता, राजा, जिनके यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने बाल-क्रीडा की थी ।

कहते हैं कि—नन्दबाबाके पिताका नाम ‘पर्जन्य’ और ‘भारता’ का नाम ‘वरीयसी’ था और इनके पाँच भाई जैसे—

“उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सुनन्द और नन्दन तथा दो बहिनें “नंदनी और सुनंदा” थीं, जो “लीन” और “सुकाम” नामक एक प्रतिष्ठित गोपको व्याही गयी थीं। नन्दजीके बड़े भाई उपनन्दजीकी दो संतानोंका उल्लेख मिलता है—कन्या “स्याम देवी, जो श्रीकृष्णके ही समतुल्य रूप-रंगमें थी और पुत्र श्रीकृष्ण जो श्रीनन्दबाबा—द्वारा गोदमें बैठाये जानेके कारण आपके पुत्र कहलाये थे। उपनन्दसे छोटे अभिनन्दके “सुबाहु” नन्दबाबाके भगवान् श्रीकृष्ण, सुनन्दके “सुबल” और नन्दनके तोत्र वा तोक नामके पुत्र थे। श्रीनन्दबाबाका वर्ण गौर था और केशराशि कुछ काली और कुछ सफेद मिली हुई थी। तोंद कुछ बड़ी, छाती ऊँची और पेशानी विस्तृत थी तथा कपड़े नीले रंगके पहिरा करते थे। आपकी स्त्रीका नाम श्री “यशोदा” था। जो कि शरीरसे स्थूल व रंग कुछ साँवला-सा था और कपड़े सदा पीले रंगके पहिना करती थीं, श्रीयशोदा-मयाका दूसरा नाम “देवकी” भी मिलता है। श्रीनन्दबाबाको भाइयोंसे हिस्सेमें नौ लाख गौएँ मिली थीं, पर थीं इनके—बहत्तर करोड़। उपनन्दजीने और अभिनन्दजीने क्यों राज्य नहीं किया इसका कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता—कहीं भी इसका पता नहीं चलता, अस्तु श्रीनन्दराय यों ही राजा कहे जाते थे, अर्थात् ब्रजराज वा ब्रजरायके नामसे आप ही सम्बोधित किये जाते थे। आपके कुल देवता—नारायण, वेद शाम, शाखा कौथमी और हरिवंश पुराणानुसार वेद-यजुः, शाखा माध्यन्दिनी तथा कुल-पुरोहित शाण्डिल्य-ऋषि कहा जाता है। श्रीनन्दबाबाकी राजधानी गोकुल और नंदिग्राम थी आदि-आदि…………।

विहंसति—शुद्धरूप “विहंसत”, अर्थात् वह हास्य जो न बहुत उच्च हो और न इतना लघु ही हो जो मालूम न हो सके, मधुर-हास्य, वा मध्यम-हास ।

कोशकारोंने हास वा हास्यके तीन भेद माने हैं । जैसे कि—  
“सशब्द-हास, थोड़ा हास वा लघुहास और मध्यम हास । यथा—

“स्यादाच्छुरितकं हासः सोत्प्रासः समनाक् स्मितम् ।  
मध्यम स्याद्-विहसितं.....॥”

—अमरकोश १ । ७ । ३४

अर्थात्—सशब्द-हास, जो कि अधिकतःविशेष अलङ्कृत हो वह ‘आच्छुरितकं’ व ‘अविच्छतिं’ कहलाता है और जो कि न बहुत ज्यादा हो और न विशेष कम ही हो वह ‘स्मित’-हास, जिसे समनाक् होनेसे ‘स्मितं’ कहते हैं, यथा—

“ईषद्दृक्कसितेर्दन्तैः कटाक्षैः सौष्टवान्वितम् ।  
अलक्षित द्विजद्वारयुतमाना “स्मितं भवेत्” ॥”

इसी तरह जो हास अधिक और अल्प न हो, वह ‘विहसित’ कहलाता है, जैसे—

“आकुंचितं कमोलाक्षं सस्वनं निस्वनं तथाः ।  
प्रस्तावोत्थं सानुरागमाहुर्विहसतं बुधाः ॥”

श्रीविश्वनाथ कवि चक्रवर्तीजीने अपने “साहित्यदर्पण” में हास व हास्यके छः भेद विभूषित किये हैं, यथा—

“ज्येष्ठानां स्मितहासिते मध्वानां विहसितावहसिते च ।  
नीचानामविहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ॥”

“ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताधरम् ।  
किंचिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥”  
“मधुरस्वरं विहसितं सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।  
अपहसितं सस्त्राक्षं विक्षिप्ताङ्गं (च) भवत्यतिहसितम् ॥”

—साहित्यदर्पण ३ । २१७, १८-१९

अर्थात्—स्मित, हसित, विहसित, अविहसित, अप-हसित और अतिहसित । लेकिन—भाषा-साहित्य-सृजेता तीन प्रकारका ही हास मानते हैं, यथा—

“हँसनि खुलति नहिं ‘मंद’ में, धुनि ‘मद्धिम’ में होइ ।  
बहु-हँसिबौ ‘अति-हास’ में, हास तीनि-विधि जोइ ॥”

—रसप्रबोध

पण्डितराज जगन्नाथजीने अपने “रस-गंगाधर” में हासके उक्त छः भेद मानते हुए प्रथम—आत्मस्थ और परस्थ दो भेद और माने हैं, जैसे:—

“आत्मस्थः परसंस्थश्चेत्यस्य भेदद्वयं मतम् ।”

नीके—नीके, अर्थात् अच्छे प्रकार, राजी-खुशी, भलीभाँति अच्छी तरह । बल-बीरजू—बल, बलदाऊ, बलदेवजी, बीर—भाई अर्थात् बलदाऊके भाई श्रीकृष्ण । वचन—शुद्ध वचन, वाणी, वाक्य, यथा—

“व्याहार उक्तिर्लयितं भाषितं ‘वचनं’ वचः ।”

रसाल—रस-संयुक्त, रसभरे, रससे ओतप्रोत, सुन्दर, मनोहर, मीठे आदि-आदि..... ।

अरघासन, बहुरि, परिकंमा, स्याँम-सखा, हित, सेवा, नँदलाल, बिहँसति, ब्रज-बाल, नींके, बलवीर, बचन और रसालके सरस प्रयोग ।  
यथा—

‘अरघासन’ दै हित सों जुबती, धनि धनि दिन यह आज ,  
‘परमानँद’ प्रभु गरजै आए हरखत श्रीब्रजराज ॥ॐ

—परमानन्द

“आजु कुहू की राति, चलौ “परिकंमा” कीजै ।  
गिरि सनमुख निसि जागि, भोर बलि-पूजा दीजै ॥”

—ब्रज-जन

काल्हि “बहुरि” हम आइ हैं हो, गो-रस लै सब रबाल ।”

—श्रीहरिराय

“ऊधौ ! “स्याम-सखा” तुम साँचे ।”

—सूरदास

“हित” सों बात करति तब-गोरी ॥”

—विठ्ठल-विपुल

मैं “सेवा” बस भयौ तिहारे;

जो फल चाँहौ लेहु सवारे ।

—सूरदास

\* कुछ ऐसा ही भाव श्रीसूरने भी एक पदमें व्यक्त किया है, जैसे—  
“दै करि अरघ, लए भीतर ते, धनि-धनि कहि दिन आज ।

धनि-धनि “सूर” उमँग-सुत आए, मुदित कहत ब्रजराज ॥”

—सूरसागर: भ्रमरगीत

“नाँचति “नँदलाल” संग प्रेम-सहित रास-रंग-  
ताता-थेई, ता-ता-थेई करति घोष नागरी ।”

—कृष्णदास

जब “नँदलाल” चीर-गहि झटक्यौ, मन में बहुत डरी,

—कुंभनदास

“बिहँसति” भेंठे अंकवारी भरि, भल्यौ बन्धों हैं दाउ ।

“कहि भगवान हित रामराइ” प्रभु, राधा-रवन जाकौ नाउँ ॥”

—हित भगवान

“जुरि आई “ब्रज-बाल”, घेरि लए तबै कन्हआई ।

भाजि न इत-उत जाहिं, गहौ अब सबै लुगाई ॥”

—रामदास

“तू “नीकें” जानति री ? रस की रीति ।”

—हरनारायण-श्यामदास

“लै चलि री सखी ? मोहि जमुना-तीर, जहाँ हूँ हैं—

“बल-बीर” देखि-देखि दगन सिराऊँ ।”

—नंददास

“धाई सब गहन कों, रस “बचन” कहन कों,

भाँमिनी बनी अति-छबि सुधारत चरन ॥

—हित भगवान

“लाल-“रसाल” के बचन सुनि, कछु मुरि-मुसिक्याँनी ।”

—आसकरन

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकने भी कुछ ऐसी ही सुमधुर-सूक्ति कही  
है, यथा—

“शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः

प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।

## भ्रमर-गीत

पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्-

मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥”

“तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं—

सत्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।

रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने

विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । २, ३

एक पद इस भावपर श्रीसूरका भी देखिये, जैसे—

“आजु ब्रज कोऊ आयौ है ।

कैधों बहुरि अक्रूर क्रूर है, जियति, जानि उठि धायौ है ॥

मैं देख्यौ ताकौ रथ ठाड्यौ, तुम सखि ? सोध न पायौ है ।

कै करि कृपा, कै दुखित जानिकें, हरि-संदेश पठायौ है ॥

चलीं सिमटि सबै पृछन कों, ऊधौ-दरस दिखायौ है ।

तब पहिचाँनि सबै प्रभु कौ भृत, करन-जोरि सिर नायौ है ॥

हरि हैं कुसल, कुसल हौ तुम हूँ, कुसल लोग जिहिं भायौ है ।

है वह नगर कुसल “सूरज” प्रभु, करि सुदृष्टि जहँ छायाँ है ॥

—सूरसागर

अब तनिक—“पूँछति सुधि नँद-लाल की”……पर स्वर्गीय कवि

नवनीतजीकी भी एक सूक्ति निरखिये, यथा—

“जादव कौ बैरी-पित्र-द्रोही कंस मित्र-सुत-

मारयौ सो तौ सुजस पबित्र निरमल है ।

मामा-हत सिगरे हितू-जन जो बसायौ-

राज-पाट सो दिबायौ अरथ पायौ सो सकल है ॥

“नीतकवि” यारनं तौ चौरै ही बजार बीच,—

कुबजा कों सूधी करि डारी तौ असल है ।

एते सब सुहृद-समाज के सहित ऊधौ ?

कहि तेरौ अब तौ वह अच्युत कुसल है ॥”

—गो० प्रे० पी० प्र०

### उद्धव-वचन

( ५ )

कुसल—कुशल, राजी-खुशी, प्रसन्न, भलें, मंगल, कल्याण, क्षेम ।

“भावुकं भविकं भव्यं “कुशलं” क्षेममस्त्रियाम् ।”

राम—बलभद्र, बलदाऊ, बलदेव, व भगवान्‌के बड़े भाईका नाम-विशेष, जैसे—

“बलभद्रः प्रलम्बघ्नो बलदेवोऽच्युताग्रजः ।

रेवतीरमणो “रामः” कामपालो हलायुधः ॥”

—अमरकोश

संगी—साथी, साथवाले, साथके, संग-साथ रहनेवाले, पासके, हमेशा पास रहनेवाले, मित्र, बन्धु । जदु-कुल—यादव-कुल अर्थात् यादवोंका कुल, वंश ।

कहते हैं—‘यदु’ महाराज ययातिके बड़े पुत्र थे । आपकी माताका नाम देवयानी जो श्रीशुक्राचार्यकी पुत्री थी । ‘महाभारत’में लिखा है कि पिता महाराज ययातिके शापके कारण आपको राज्य नहीं मिला, लेकिन पुनः इन्द्र जो देवताओंके राजा हैं, उनके कारण आपको राज्य मिला । भगवान् श्रीकृष्ण इसी पावन वंशमें उत्पन्न हुए थे, जैसे—

“दुष्यन्तः स पुनर्भजे स्वं वंशं राज्यकामुकः ।  
 ययातेर्ज्यैष्ठपुत्रस्य यदोर्वंशं नरर्षभः ॥  
 वर्णयामि महापुण्यं सर्वपापहरं नृणाम् ।  
 यदोर्वंशं नरः श्रुत्वा सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥  
 यत्रावतीर्णो भगवान्परमात्मा नराकृतिः ।  
 यदोः सहस्रजित्क्रोष्टा नलो रिपुरिति श्रुताः ॥”

—श्रीमद्भागवत ९।२३।१८, १९, २०

ब्रज—शुद्ध ब्रज, अर्थात् गौ और गोपोंका निवास-स्थल, गाँव, गोष्ठ । ब्रज शब्द समूह या झुंडके अर्थमें भी आता है, यथा—

समूह-निबह-व्यूह-संदोह-विसर “ब्रजाः ।”

—अमरकोश २।५।३९

और ‘ब्रज’ ब्रज+‘गतौ’ धातुके अनुसार जाने वा गमनके अर्थमें भी प्रयुक्त होता है । तीर—समीप, पास, निकट अथवा—तीर, कूल, किनारा, तट अथवा—बाण, सरको भी कहते हैं ।

“कूलं रोधश्च “तीरं च” प्रतीरं च तटं त्रिषु ॥”

थोरे—थोड़े, अल्प । जनि—मत, नहीं, निषेधार्थक सर्वनाम ।

कुसल, राँम, संगी, जदुकुल, ब्रज, तीर, थोरे और जनि—शब्दोंके सुन्दर प्रयोग ।

“ऊधौ” ? “कुसल अहै दोउ भैया ।”

—सूरदास

“राँम” स्याँम दोउ आगें करिकें, पूंजत गिरि गोबरधन ब्रज-राइ ।”

—छीतिस्वामी

“संगी” हैं, सलूकी हैं, सलाही है..... ।

—रसरूप

“धीर-धरौ अहौ गोपिका, धारौ प्रान-समाज ।  
कछू काल बीतैं इतैं, अइहैं “जदुकुल” राज ॥”

—नवनीत

“ब्रज” भयौ महरि कैं पूत, जब बै बात सुनीं ।”

—सूरदास

“नेक मेरे “तीर” आइ जा, अहौ साँवरे कन्हैया ?”

—नागरीदास

“थोरे”—ई गुन रीझिवौ बिसराई वह बानि ।”

—बिहारी

“अब “जनि” करहु विलंब लाड़िली, दया-दीठि टुक हेरौ . . . . ।”

—व्यासजी

कुछ यही बात श्रीशुक भी उद्धवजीसे कहलाते हैं, यथा—

“आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।  
प्रियं वधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः ॥”

श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ३४

इसी भावपर अब जरा श्रीसूरकी भी बानगी निरखिये, जैसे—

गोपी, सुनों हरि-कुसलात ।

कंस-नृप कों मारि छोरे, आपुने पित्त-मात ॥

बौहौत-बिधि व्यौहार करि दयौ, उग्रसेन कों राज ।

नगर-लोग सुखी बसत हैं, भए सुख के काज ॥

इहै पाती लिखी, अरु कछु कह्यौ मुख-संदेस ।

“सूर” निरगुन-ब्रह्म धरि कैं तजहु सकल अंदेस ॥

अथवा—

गोपी, सुनों हरि-संदेस ।

गए सँग-अक्रूर-मधुवन, हत्यौ कंस-नरेस ॥

रजक-मारयौ, बसन-पैहरे, धनुष-तोरयौ जाइ ।  
 कुबलिया-चादूर-मुष्टक, दए धरनि-गिराइ ॥  
 मात-पित के बंद छोरे, बासुदेव-कुमार ।  
 राज दीन्हों उग्रसेनहिं, चँमर निज-कर-ठार ॥  
 कछौ तुम कों ब्रह्म-ध्यावौ, छाँड़ि-बिषै-बिकारि ।  
 “सूर” पाती दई लिखि मोहि, पदौ गोप-कुमारि ॥

### कवि-वचन

( ६ )

मोहन—शुद्ध मोहन अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका नामविशेष  
 अथवा—मोहन, मोहनेवाले, अपनी ओर आकर्षित करनेवाले—  
 खींचनेवाले । अथवा मोहन, अर्थात् जिसे मोह न हो, प्यार न हो,  
 मुहब्बत न हो आदि-आदि ।

मोहन शब्दपर जरा ‘रस-निधि’जीकी फवती भी सुन  
 लीजिये, जैसे—

“मोहन तेरे नाम कौ, लख्यौ वा दिना घोर ।  
 ब्रजबासिन कों मोहि कें, चले मधुपुरी-ओर ॥”

अथवा—

“रसनिधि’ मोहन नाम कौ, अरथ न लिय निरधार ।  
 प्रथम समझि तब कीजयो, वासों प्रीति-बिचार ॥”

—रतन हजारा

सुमरन है आयौ—स्मरण हो आया, याद आ गया सुमरन—  
 याद, ध्यान ।

“चिन्ता तु स्मृतिराध्यानं ‘स्मरणं’ सस्पृहं पुनः ।  
 उत्कण्ठोत्कलिके तस्मिन्नभिध्यातृभयोरपि ॥

—शब्दार्णव

आँनन—मुख, मुँह, चहरा, बदन, आस्य ।

वक्त्रास्ये वदनं तुंडं 'आननं' लपनं मुखम् ।

—अमरकोश

कमल—पुष्प-विशेष, कमलको पद्म, अंबुज, जलज आदि भी कहते हैं । यथा—

वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम् ।

सहस्रपत्रं "कमलं" शतपत्रं कुशेशयम् ॥

—अमरकोश १ । १० । ३९

कमल पानीसे उत्पन्न एक पुष्प, जो संसारके सभी देशोंमें प्रायः पाया जाता है । यह पुष्प झीलों, तालाबों और कवि-कथनोंसे नदियों तथा गड़होंमें जो कि पानीसे—जलसे पूर्ण हो, होता है । रंग और आकारके भेदसे इसकी अनेकानेक जातियाँ होती हैं, किंतु विशेष रूपसे लाल, सफेद, पीला और नीला ही अधिक देखनेमें आता है । कमलकी पीढ़ पानीमें जड़से पाँच वा छः अंगुलसे ज्यादा ऊपर नहीं आती । कमलकी पत्तियाँ गोल थाली-सदृश होती हैं और बीचके डंठलमें पतले तनेके साथ जुड़ी रहती हैं । इन पत्तियोंको 'पुरइन' भी कहा जाता है, आदि-आदि ।

अंग—शरीर, अथवा शरीरका कोई हिस्सा, अवयव, वदन, देह, तन, गात्र, जिस्म ।

“अङ्गं” प्रतीकोऽवयवोऽपघनोऽथ कलेवरम् ।

गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः ॥”

—अमरकोश २ । ६ । २१

अङ्गके और भी अर्थ होते हैं । जैसे—भाग, अंश, टुकड़ा,

खण्ड, उपाय, सहायक, तरफदार, सुहृद्, प्रत्यययुक्त शब्दका प्रत्यय-रहित भाग, प्रकृति, जन्म-लग्न, वह साधन जिसके द्वारा कार्य सम्पादित किया जाय, देशविशेषका नाम, ध्रुववंशी एक राजा, एक भक्तका नाम, एक सरस सम्बोधन, प्रिय, प्रियवर, ६ की संख्या, ओर, तरफ, नाटकके शृंगार और गीत छोड़कर अन्य अप्रधान रस, नाटकके नायक व अङ्गीका कार्य साधक-पात्र, वेदके छः अङ्ग, जैसे—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द । सेनाके चार विभाग व अङ्ग जैसे—हाथी, घोड़े, रथ और पैदल । योगके आठ अङ्ग, जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि । राजनीतिके सात अङ्ग, जैसे—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना । फिर पुनः को भी अङ्ग कहते हैं । जैसे—

“पुनरर्थेऽङ्ग,” निन्दायां दुष्टं सुष्टं प्रशंसने ॥”

आवेश—शुद्ध आवेश, अर्थात् आतुरता, व्याप्ति, संचार, दौरा, जोश, चित्तकी प्रेरणा, झोंक, आवेग, वेग, प्रवेश, बिह्वल—शुद्ध विह्वल, अर्थात् घबराकर, व्याकुल, किसी मनोवेगके कारण चंचल होना । जैसे—

व्यसनात्तोपरक्तौ द्वौ विहस्तव्याकुलौ समौ ।

विह्वलो “विह्वलः” स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टधीः ॥

—अमरकोश

धरनी—शुद्ध धरणी, पृथ्वी, भूमि, जमीन । ब्रज-बनिता—ब्रजकी स्त्रियाँ व स्त्री । मुरझाइ—मुरझाकर, उदास होकर, निष्प्रभ होकर सूखकर । प्रबोध—ज्ञान, चेतावनी, यथार्थ ज्ञान, पूर्णबोध, सान्त्वना, आश्वासन, ढाढ़स, तसल्ली, दिलासा ।

मोंहन, सुँमरन, आँनन, कँमल, अंग, आवेस, बिहवल, धरनी,  
मुरझाइ, प्रबोध आदिके सरस प्रयोग ।

“गोबरधन की सिखर तें हो “मोंहन” दीनीं है टेर ।”

—रसिकराय

“राम-नाम ‘सुँमरन’ नहिँ कियो, वृथाँ ही जनम गँवायौ हो ।”

—रामदास

“नित-प्रति पून्यों हीं रहति ‘आँनन’ ओप-उपास ।”

—बिहारी

“बन सों आवत, ‘कँमल’ फिरावत तापै गावत तान-तान—

“घोंधी के प्रभु हाथ दूरि राखौ, दूटैगी मोंतिन की माल ॥”

—नैघी

अथवा—

कहा कहौं सखी ! “आँनन-कमल” की सोभा !

—बृन्दावनदास

“अंग” अमित कछु भरी माधुरी, सोभा सहज निकार्ई ।”

—परमानन्ददास

“वा मूरति के देखति कछु मो-मन अति “आवेस” जनायौ ।”

—खेमरसिक

“बिहवल” हैं गई बाल, लाल सों अलबल बोलें ।”

—नन्ददास

‘भूषन-बसन उतारि तू नाहक, बैठि रही चुप ‘धरनी’ ।’

—रसिक-प्रीतम

‘मन हरि लीनों स्याम, परी राधे ‘मुरझाई’ ।

बहुत सिथिल भई देह, बात कछु कही न जाई ॥’

—नन्ददास

‘कछु ‘प्रबोध’ उनहूँ कों दीजै ।’

—ज्ञानदास

‘ब्रजबनिता’ अति प्रबल, रुकत नहिं नेंकौ रोकेँ ।

—गोपालदास

## उद्धव-वचन

( ७ )

दूरि—दूर, पृथक्, अलग । ग्यान—ज्ञान, बोध, जानकारी, प्रतीति, अथवा आत्माका गुण-विशेष । मोक्षके विषयमें जो बुद्धि उसे भी ज्ञान कहा जाता है । यथा—

‘मोक्षे धीर्ज्ञानं..... ।’

—अमरकोश १ । ५ । १५

अथवा—वस्तुओं और विषयोंकी वह भावना जो मन वा आत्माको हो ।

न्याय और दर्शनकार—‘जब विषयोंका इंद्रियोंके साथ इंद्रियोंका मनके साथ और मनका आत्माके साथ संपूर्ण संबंध स्थापित हो तब ‘ज्ञान’की उत्पत्ति मानते हैं, क्योंकि न्यायमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—आदि चार प्रमाण ज्ञानके—ज्ञान होनेके माने गये हैं । प्राणि-विज्ञानानुसार मस्तकके भीतर जो मज्जा-तन्तु-जाल वा नाड़ियाँ अथवा कोश है, चेतन-व्यापार वा ‘ज्ञान’ उन्हींकी क्रियाओंसे संबंधित है, इसलिये इनमें क्रियाओंको ग्रहण और उत्पन्न करनेकी शक्ति है । अतः यह शक्ति ही इंद्रियोंके साथ विषय-

---

१ सांख्य—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण मानता है, क्योंकि उपमान इनके अंतर्गत आ जाता है ।

संयोग-द्वारा अथवा उक्त शक्तिसंचालित-नाड़ियोंके द्वारा भीतर जाती है और कोशोंको प्रोत्साहित करती हुई परमाणुओंमें उत्तेजना उत्पन्न कर बाहर आती है और यही शक्ति कहलाती है । भूतवादियोंके अनुसार उक्त शक्ति ही नाड़ियों और कोशोंकी क्रिया 'चेतना' कहलाती है ? पर है वह एक स्वतन्त्र शक्ति ही ।

पाश्चात्य दर्शनोंमें भी—विषयोंके साथ इंद्रियोंके संयोगरूप प्रत्यक्ष-ज्ञानको ही 'ज्ञान'का मूल वा प्रथम रूप माना जाता है । किसी वस्तु—ज्ञानके लिये यह भावना आवश्यक है कि जिसका ज्ञान करना है वह वस्तु कुछ वस्तुओंके समान है—अथवा भिन्न, क्योंकि बिना साधर्म्य और वैधर्म्यकी भावनाके किसी प्रकारका ज्ञान हो ही नहीं सकता—असंभव-सा है और इस साक्षात्करणरूप ज्ञानसे ही आगे चलकर सिद्धान्तरूप ज्ञानके लिये संयोग, सहकालत्वकी भावनाएँ होती हैं, जो स्थापित्वरूपसे ज्ञान कहलाता है । अस्तु उक्त ज्ञान—प्रमा और अप्रमा, अर्थात् यथार्थ-ज्ञान और अयथार्थ-ज्ञानरूप दो भेदोंमें विभक्त है । वेदान्तमें ब्रह्मको ही ज्ञानस्वरूप माना है, अतएव उक्त मतानुसार सबका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं हो सकता । एक वस्तुसे दूसरी वस्तुओंमें अथवा एकके ज्ञानसे दूसरेके ज्ञानमें जो विभिन्नता विभूषित है, वह विषय-रूप उपाधिका कारण है, वास्तविक-ज्ञान तो एक ही है जिसके अनुसार सब विभिन्नता-भूषित पदार्थोंके मध्य केवल एक चित्स्वरूपकी सत्ता वा ब्रह्मका ही बोध होता है, आदि—आदि..... ।

अखिल-विश्व-भरिपूरि—ओर ( आदि ) से आखीर ( अंत ) तक सारा ब्रह्माण्ड । अखिल—संपूर्ण, समग्र, सब, पूरा, बिल्कुल

‘त्रिख’ अथवा विश्वः—चौदहों भुवनोंका समूह, समस्त ब्रह्माण्ड, सारा संसार, जगत्, दुनियाँ । विश्व, सबको भी कहते हैं । यथा—

‘विश्वमशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम् ।’

भर-पूर—पूरी तरहसे भरा, पूरा-पूरा, जिसमें कुछ भी कमी न हो । पूर्णरूपसे, अच्छी तरह । त्रिसेखौ—प्रतीत होना, भाषित । लोह—लोहा, धातुविशेष । दारु—लकड़ी, काष्ठ वा काठ । पाषाण—शुद्ध पाषाण, पत्थर वा फत्तर ।

‘पाषाण प्रस्तरघ्रावोपलाश्मानः शिला दृषत् ।’

मही—पृथ्वी, जमीन, धरती । अकास—शुद्ध आकाश, अर्थात् गगन, अंबर, शून्य । सचर—सचल, अर्थात् संपूर्ण चल—चलनेवाली वस्तु, चर, जंगम ।

अचर—अचल, अर्थात् न चलनेवाली वस्तु, जड़-पदार्थ ।

जोति—शुद्ध ज्योति, अर्थात् प्रकाश, उजाला, लौ । ब्रह्म—वह चेतन-सत्ता जो कि जगत्का कारण है । वह सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप तत्त्व जिसके अतिरिक्त और जो प्रतीति होता है वह सत्र मिथ्या है—असत् है । ईश्वर, जगत्-कर्ता आदि आदि…………।’

१ ब्रह्म प्रति श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

“बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च सत्यादिलक्षणं—ब्रह्मः ।”

अर्थात्—बड़े तथा बढ़ानेवाले होनेसे भगवान् सत्यादि-लक्षण-विशिष्ट ब्रह्म हैं, जैसा कि श्रुति प्रतिपादन करती है—

“सत्त्वं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।” ( तैत्तिरीयोपनिषद् २ । १ )

विष्णुपुराणमें कहा है—

“प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम् ।

वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं “ब्रह्म” संज्ञितम् ॥”

( विष्णुपुराण ६ । ७ । ५३ )

कहते हैं—ब्रह्म जगत्का कारण है और यही उसके तटस्थताका लक्षण है । ब्रह्म सच्चिदानन्द, अखण्ड, नित्य, निर्विकार, निर्गुण, निर्लेप, निःसंग और अद्वितीय है, जो उसके स्वरूप-लक्षणका द्योतक है । जगत्का कारण होनेपर भी जैसी कि सांख्यकी प्रकृति या वैशेषिकका परमाणु है, उस प्रकार ब्रह्मपरिणामी वा आरंभक नहीं । वह जगत्का अभिन्न—निमित्तोपादान विवर्ति-कारण है । अस्तु, ब्रह्मपरिणाम वा विकार नहीं, अपितु विवर्ति है । किसी वस्तुका कुछ और ही हो जाना—उसका रूपान्तर हो जाना जिससे उसका असली स्वरूप ज्ञात न हो वह विकार वा परिणाम कहा जाता है और उसका उस जैसी आवृत्तिवाला कुछ और प्रतीति होना 'विवर्ति' कहा जाता है । यों तो नाम और रूपकी उत्पत्ति ही नाम-सृष्टि कही जाती है, पर ये दोनों नाम और रूप ब्रह्मके कोई अवयव नहीं, क्योंकि वह उक्त तीनों प्रकारके भेदोंसे पृथक् है—रहित है । ब्रह्मका सम्यक्-निरूपण करनेवाले आदि-ग्रन्थ वेद और उपनिषद् हैं । किंतु वे भी उसे 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, यह नहीं' कहकर उसे प्रपञ्चोंसे परे—अलग मानते हैं । कोई-कोई जीवात्माको ब्रह्मका अंश मानते हैं ? पर शुद्ध-अद्वैत-दृष्टिमें जीवात्मा ब्रह्मका अंश वा कोई स्वगत-भेद नहीं, अपितु अपनेको परिच्छिन्न और माया-विशिष्ट समझता हुआ ब्रह्म ही है, इसीसे 'तत्त्वमसि' वाक्य-द्वारा आत्मा और ब्रह्मका अभेद व्यञ्जित किया जाता है । शुद्ध और अद्वैत क्या ?

“एतन्मते सुनिष्पन्नं सुनिष्पन्नं साङ्कर्यं कार्यकारणे ।”

“तन्निवृत्त्यर्थमाचार्यैः परं “शुद्धं” विशेषितम् ।”<sup>१</sup>

“द्विधाज्ञानं तु यद्यत्स्यान्नामरूपात्मना मुहुः ।  
ईशजीवात्मना वापि कार्यकारणतोऽथवा ॥”

“द्वैतं तदेव “द्वैतं” स्यादद्वैतं” तु ततोऽन्यथा ।”

अस्तु—

“शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः ।

अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः पष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ॥”

—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

परकाश—शुद्ध प्रकाश, अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओंका स्वरूप दृष्टिगोचर हो अथवा जिसके भीतर पड़कर चीजें दिखलायी पड़ें । दीप्ति, आभा, आलोक, ज्योति, चमक, तेज ।

“स्युः प्रभारुगरुचिर्त्विभाभाश्छविद्युन्निदीप्तयः ।

रोचिः शान्तिः रुभेच्छीवे “प्रकाशो घेतिआलयः ॥”

—अमरकोश १ । ३ । ३५ । ३६

वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस प्रकार, ताप गतिशक्तिका एक स्वरूप है उसी प्रकार प्रकाश भी गतिशक्तिका एक रूप है । प्रकाश कोई पृथक् द्रव्य नहीं, जिसमें कि गुरुत्व हो । प्रकाश पड़नेपर भी कोई वस्तु उतनी ही भारी रहेगी जितनी कि अंधकारमें थी । प्रकाशके संबंधमें इधर वैज्ञानिकोंका एक और अभिमत है कि प्रकाश एक प्रकारकी तरंगवत् गति है, जो कि किसी ज्योतिष्मान्—पदार्थसे इधर और आकाश-द्रव्यमें उत्पन्न होती है और चारों तरफ बढ़ती

१ ‘शुद्ध’ शब्दका एक दूसरा अर्थ भी माना जाता है, यथा—

“मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।”

है । जलमें यदि पत्थर फेंका जाय तो जहाँ पत्थर गिरेगा वहाँ जलमें एक प्रकारका क्षोभ उत्पन्न होगा जिसमें तरंगें उठकर चारों ओर बढ़ने लगती हैं । ठीक इसी प्रकार ज्योतिष्मान्-पदार्थद्वारा 'ईथर' और आकाश-द्रव्यमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह प्रकाशकी तरंगोंके रूपमें चलता है । अतः यह आकाश-द्रव्य त्रिभु वा सर्वव्यापक पदार्थ है जो कि प्रकाशके वाहकका यथार्थ कार्य करता है । प्रकाश—तरंगोंकी कल्पनातीत है । वे एक सेकिंडमें हजारों मील वा कोसके हिसाब चलती हैं । प्रकाशकी उक्त तरंगें वा किरणें जो निकलती हैं, यद्यपि वे सब एक ही गतिसे गमन करती हैं, पर तरंगोंकी लंबाईके कारण उनमें भेद समुपस्थित हो जाता है, जिससे उनकी लंबाई भी भिन्न-भिन्न हो जाती है । इससे किसी एक प्रकारकी तरंगोंसे बनी हुई किरणें अन्य प्रकारसे बनी हुई किरणोंसे भिन्न हो जाती हैं । यह भेद ही रंगोंके विविध भेदोंका कारण है । जैसे—किसी तरंगकी लंबाई' ००००१६ इंच है, तो वह बैगनी रंग देगी—प्रकट करेगी । और जिसकी लंबाई' ००००३४ इंच होगी वह लाल रंग देगी, अर्थात् प्रकट करेगी । इसी तरह अनेक भेद हैं, पर उनमेंसे कुछ ही हमारी चक्षुरिन्द्रियोंको ग्राह्य है, बाकी नहीं । पहिले 'न्यूटन' आदि पुराने तत्त्वविदोंने प्रकाशको अणुमय वस्तु माना था, पर पीछे वह अखंड—वस्तुकी तरंगोंके रूपमें माना जाने लगा । इधर फिर थोड़े दिनोंसे अणुमय माननेकी वही पुरानी प्रवृत्ति वैज्ञानिकोंमें दिखायी पड़ने लगी है ।

प्रकाशके अन्य अर्थ भी होते हैं जैसे—'विकाश, स्फुटन, विस्तार, अभिव्यक्ति, प्रकटन, प्रकट होना, गोचर होना, देखनेमें

आना, प्रसिद्धि, ख्याति, स्पष्ट होना, खुलना, साफ समझमें आना, आदि-आदि..... ।

ग्यॉन, अखिल, विश्व, भरपूर, बिसेखौ, लोह-दारु-पाखानमें, जल-थल, मही, अकास, सचर-अचर, जोति और ब्रह्म-प्रकासके सरस प्रयोग । यथा—

‘अरी गुन—‘ग्यॉन’ गठीली प्यारी, एतौ न कीजै मान ।’

—चतुर्भुजदास

‘आखिल’ लोक कौ पालक जुबुधा, सो तेरे—घर आयौ ।’

—परमानंद

‘द्वै-द्वै चले असीस सबै मिलि, सकल बिस्व’ के प्राँन ।’

—कृष्णदास

मैं हों बबा, तिहारौ ढाढ़ी, मान भिख्यौ ‘भरिपूरि ।’

—विठ्ठलगिरिधरन

हरखे हिणें जुबुधाइ नंद सुत, पूरन-प्रेम—‘बिसेखौ ।’

—रघुवीरदास

‘लोह, दारु पाखान में’ तुम देखौ आई ।

‘जल-थल’ ‘मही-अकास’ कहौ प्रभु कहाँ जु नाँई ॥’

—परमानंददास

‘सचर-अचर’ में प्रघट जु देखौ..... ।’

—सुंदरदास

सुंदर-मुख की ‘जोति’ थिरकि रही यों अचनीपर ।’

—नंददास

सुनों नंद-उपनंद कथा यै, आयौ छीर-सुसुद्र कौ बासी ।

बसुधा-भार-उतारन कारन प्रगट ‘ब्रम्ह’ बैकुंठ-निवासी ॥’

—परमानंददास

देति डिठोंना सुधर लाल कें, बढ़्यौ सुधरनि 'परकास ।'

—द्वारिकेश

श्रीनंददासजीकी उक्त सरस-सूक्तिपर यह श्रुति-सूक्ति वरत्रस याद आ जाती है, जैसे—

‘ओं ईशावास्यमिदं० सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।’

—ईशोपनिषद् १ सू०

नंददासजीकी उक्त सूक्तिपर श्रीसूरका भव्य-भाव भी देखिये ।

यथा—

गोपी, सुनों हरि संदेस ।

करि समाधि अंतरगति ध्यावौ, यह उन कौ उपदेस ॥  
वे अविगत, अविनासी, पूरन, सब घट रहे समाई ।  
निरगुन-ग्याँन बिनु मुकति नाहिं हैं, बेद-पुराँनन गाई ॥  
सगुन-रूप-तजि निरगुन-ध्यावौ, इक-चित, इक-मन ल्याई ।  
इहि उपाइ करि बिरह तरौ तुम्ह, मिलें ब्रह्म तब आई ॥  
दुसह-सँदेस सुनति माधौ कौ, गोपी-जन बिलखाँनी ।  
‘सूर’ बिरह की कौन चलावै, बुढ़त मीन बिनु-पाँनी ॥

अथवा—

‘ग्याँन-बिनाँ कहुँ हूँ सुख-नाँहीं ।

घट-घट-ब्यापक दारु-अग्नि ज्यौं, सदाँ बसै उर माँहीं ॥  
निरगुन-छाँड़ि सगुन कों दौरति, सोचि कहौं किहि बाँहीं ।  
तख भजौ जो निकट न छूटै, ज्यौं तन के सँग छाँहीं ॥  
तिन कौ कहौं कौन सुख पायौ, जे अबलों अवगाँहीं ।  
‘सूरदास’ ऐसैं कर लागत, ज्यौं कृषि कीन्हें पाँहीं ॥”

उक्त भावपर “आलम” व विकी सूझ भी देखिये, यथा—

“सोई स्याँम सुनहुँ अगाध कै समाधि-साधै,  
सोई स्याँम रेंनि जामें नित ही समाति है ।

सोई स्याँम पलक लगे तें स्याँम ताही मैं—  
तन-मै होत तब कत पछिताति है ॥

“आलम” सुकवि कहै सोई स्याँम बन, घन,  
तारन तें न्यारे नाहिँ कत बिललाति है ।

तुमहीं में स्याँम, तुम स्याँम ही में रमि रहीं,  
बादि-ही विकल-बिहवल भई जाति है ॥”

अथवा—

“कोटि-घटन में बिदित ज्यों, रबि-प्रतिबिंब दिखाइ ।  
घट-घट में त्यों ही छिप्यौ—स्वर्ष-प्रकासी भाइ ॥”

—रसनिधि

सुंदरदासजी कहते हैं—

“जैसेँ ईख-रस की मिठाई भाँति-भाँति भई,  
फेरि करि गारें ईख-रस ही लहतु है ।

जैसेँ घृत थीज कें डरा सों बाँधि जात पुनि—  
फेरि विचले तें वह घृत ही रहतु है ॥

जैसेँ पाँनी जम कें पखान हूँ सौ देखियतु,  
सो पधान फेरि पाँनी है बहतु है ।

तैसेँ हीं ‘सुंदर’ यह जगत है ब्रह्ममय,  
ब्रह्म सो जगतमय बेद सो कहतु है ॥”

—सुन्दरविलास

यही बात “रसरूपजी” भी कहते हैं, किंतु दूसरे दूसरे ढंगसे, जैसे—

“नीर-भरि धरिए अनेक-घट आँनि जैसेँ,  
सूरज-प्रकास एकु सब में सुहायौ है ।

निसि के सदन बीच एकु ही कौ प्रतिबिंब, जहाँ—  
 तहाँ देखिऐ अनेक ह्वै दिखायौ है ॥  
 मानों परिमान कहँ भ्रमत अयाँन ह्वै कैं—  
 एही बात, एही बिधि बेदन बतायौ है ।  
 चारि-बिधि जीव-जंतु जगत बिचारि देख्यौ  
 'रसरूप' एकै रूप घट-घट छाथौ है ॥”

अब इस सूक्तिपर 'रत्नाकरजी' की बानगी देखिये, कैसी  
 जँची-तुथी बात कहते हैं—

“पंच-तत्त्व में जो सच्चिदानंद की सत्ता सोतों—  
 हम-तुम उनमें सँमान ही सँमोई है ।  
 कहै 'रत्नाकर' बिभूति पंच-भूत हूँ की,  
 एकु ही-सी सकल प्रभूतनि में पोई है ।  
 माया के प्रपंच ही सों भासत प्रमेद सबै  
 काँच-फलकनि ज्यों अनेकु एकु सोई है ।  
 देखौ भ्रम-पटल-उघारि ग्याँन-अँखिन तें  
 काँन्ह सबही में, काँन्हही में सब कोई है ॥”

एक बात और—

श्रीनंददासजीने अपने इस छंदमें 'थल' और 'मही' तथा  
 'जोति' और 'परकास' आदि समानार्थवाची शब्दों-जैसा प्रयोग  
 किया है पर 'थल' का जलके साथ सम्बन्ध होनेसे यहाँ थल शब्दका  
 अर्थ स्थान, जगह, ठिकाना न होकर सूखी-धरती, जो कि जलके  
 भीतर किसी प्रकारसे रह गयी हो अथवा जिसके चारों ओर जल हो  
 ऐसी जमीन मानना चाहिये, अथवा वह जमीन जिसपर पानी न फिरा  
 हो, अर्थात् ऊँची जिसे कि टीला आदि कहते हैं अथवा थल उसे

कहते हैं, जहाँ बहुत रेत जमा हो गया हो । भूड, थली, रेगिस्तान भी थल ही कहलाता है । और मही समतल भूमिको कहते हैं । जैसे—

गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वीक्ष्माऽवनिर्मेदनी 'मही'

—अमरकोश

इसी प्रकार ज्योति ( जोति ) और प्रकाश ( परकाश ) में भी यही बात है । यहाँ ज्योति और प्रकाशका ब्रह्मसे संबंध होनेके कारण इस पद्यांश—'जोति-ब्रह्म-परकाश' का अर्थ ब्रह्मकी ज्योतिका प्रकाश होगा । यानी समानार्थी होते हुए भी भिन्न अर्थ होगा, क्योंकि प्रकाश तेजको कहते हैं, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है और ज्योतिको 'लौ' आदि यथा—

“अग्नौ दिवाकरे च ज्योतिः ।”

गोपी-वचन

( ८ )

मारग—शुद्ध मार्ग, अर्थात् पंथ, रास्ता, राह । सूधौ—शुद्ध सीधा, सरल, जो टेढ़ा न हो, कपट-रहित, जो ठीक साधारण स्थिति-में हो, जिसमें वक्रता न हो । नैन—नयन शब्दका भाषामय अल्प और मनोहर रूप, लोचन, नेत्र, आँख, चक्षु ।

“लोचनं “नयनं” नेत्राभीक्षणं चक्षुरक्षिणी ।”

—अमरकोश २ । ६ । ४४

आँख, देखनेकी वह इंद्रिय जिससे स्थावर और जंगमोंके रूप, आकार, वर्ण और विस्तारका यथार्थ ज्ञान होता हो । मनुष्य-शरीरमें यही एक ऐसी इंद्रिय है जिसपर आलोकके द्वारा पदार्थोंका बिम्ब खिंच जाता है, आदि-आदि.....।

नैन ( नयन )—शब्दकी एक सुन्दर व्युत्पत्ति करते हुए रसनिधिजीने बड़ा गजब ढाया है,—देखिये न जैसे—

“आपु लगति बेचति मनहिं ‘रसनिधि’—कर बिनु दाम ।  
नैननि में नै नाहिं नें या तें “नैना” नाम ॥”  
छींर्ना छबि मृग, मीन की, कहौ कहाँ की रीति ।  
नामहिं में “नै” नाहिं तौ करें “नैन” का नीति ॥

अथवा—

“जो कछु उपजत आइ उर, सो बे “आँखें” देति ।  
‘रसनिधि’ आँखें नाम इन्ह, पाथौ अरथ समेति ॥”

और चख ( आँख )—

“और रसन लै जान हीं, रसना हूँ अभिराम ।  
चाखत जे इक रूप-रस, तातें है ‘चख’ नाम ॥”

स्रुति—शुद्ध श्रुति, अर्थात् कान, श्रवण, अथवा शरीरकी वह इंद्रिय जिससे सुना जाता है ।

“कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं ‘श्रुति’ स्त्री श्रवणं श्रवः ।”

( अमरकोश २ । ६ । ४५ )

स्रुति—शब्दको श्लेषमें पागकर—सजाकर कविवर विहारी-लालजीने बड़ी ऊँची उड़ान उड़ी है, यथा—

“अजौ तरौनाहीं रखौ “स्रुति” सेबत इक अंग ।

नाँक-बास बेसर लहौ, रहि मुक्कन के संग ॥”

नासिका—घ्राणेन्द्रिय, अर्थात् जिससे सूँघा जाय, वा सुगन्ध-दुर्गन्ध मान्दम हो वह इंद्रिय, नाक, नासा । यथा—

“कृीवे घ्राणं गन्धवहा घोणा नासा च “नासिका ।”

१. यहाँ “आँखें” शब्द—कहने वा अंकित कर देनेके अर्थमें प्रयुक्त है ।

मुरली—वंशी, बाँसुरी, अर्थात् बाँसकी कोमल नलीसे बननेवाला वह बाजा जो कि फूँकसे बजता है। इसीको “वेणु” भी कहते हैं—

मुरली वाद्य-विशेषका विश्लेषण करते हुए संगीत-रत्नाकरके कर्ता फर्मते हैं—

“हस्तद्वयाधिका माने मुखरन्ध्रसमन्विता ।

चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता “मुरली” चारुनादिनी ॥

—संगीतरत्नाकर ६ । ७८४

और “वेणु” जैसे—

“वैणवः खादिरो दांतश्चादनो रक्तचंदनः ।

आयसः कांस्यतो रौप्यो वंशः स्यात्कांचनोऽथवा ॥

वर्तुलः सरलः श्लक्ष्णो ग्रंथिभेदव्रणोज्झितः ।

कनिष्ठांगुलविस्तारं गर्भे च सुषिरं दधत् ॥

स्वदैर्घ्यमानदैर्घ्यं च समाकृति समन्ततः ।

तस्य द्वे त्रीणि चत्वारि चांगुलानि शिरःस्थलात् ॥

त्यक्त्वा ।फूत्कारसुषिरं कार्यमंगुलसंमितम् ।

मुखरंध्रांतरे रंध्रं भवेदेकांगुलांतरम् ॥

अर्धांगुलांतराणि स्यू रंध्राप्यन्यानि सत्य च ।’

तान्यष्टौ बदरीबीजसंकाशानि प्रचक्षते ॥

—संगीतरत्नाकर वाद्याध्याय, ६

इस छोटी-सी ‘मुरली’ की मधुरतापर रीझकर व्रजभाषाके कवि-  
कोविदोंने बड़ी ऊँची और अनूठी उड़ानें उड़ी हैं—जमीन और  
आसमानके कुलबू भिड़ाये हैं, जैसे—

“ध्यानं बलात्परमहंसकुलस्य भिन्दन्-

निन्दन्सुधामधुरिमानमधीरधर्मा ।

कन्दर्पशासनधुरां मुद्दुरेव शंसन्  
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिषूदनस्य ॥”

—भक्तिरसामृतसिंधु

“भिन्दन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपदं कुर्वन्मुद्दुस्तुम्बरु  
ध्यानादन्तरयन्सतन्दनमुखान्संस्तम्भयत्वेधसम् ।  
औत्सुक्यां बलिभिर्बलिं विवलयन्भोगीन्द्रमाघूर्णयन्  
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥”

—श्रीरूपगोस्वामी

मुरली, हरि तें न छूटति है ।

वाही के बस भए निरंतर, वौ अधरन-रस लूटति है ॥  
हम तें निदुर भई वह बोलति, तन तें मन उचटावति है ।  
आरज-पथ, कुल-काँनि मिटावति, सब काँ निलज करावति है ॥  
निडरी रहति, डरति नहिं काहू, सुख पाएँ बहु फूलति है ।  
अब यै हरि तें होति न न्यारी, तू काहे काँ भूलति है ॥  
रोंम-रोंम-नख-सिख-रस-पागी, अनुरागिनि हरि प्यारी ।  
“सूर” स्याम वाके रस-लुबधे, माँनी सौत हमारी ॥

मुरली, काँन तप तें कियौ ।

रहति गिरधर-मुखहिं लागी, अधरँन कौ रस पियौ ॥  
सुंदर-स्याम-कमल-दल-लोचन, तोहि तन-मन दियौ ।  
“सूर” सिरी गोपाल बस भए, जगत में जस लियौ ॥

“मुरली, हरि काँ नॉच नचावति ।

एते पै यह बाँस-बसुरिया, नंद-नँदन काँ भावति ॥  
ठाड़े रहति सुबस ताके है, सकुचि न बोलति बात ।  
वौ निधरक आग्या करवावति, नेकहुँ नाहिं लजात ॥  
जब जानति आधीन भए ए, देखति ग्रीव-नवावति ।  
पौढ़ति अधर, चलत कर-पल्लव-रंध्र-चरन लपटावति ॥

हम पै रिस करि-करि अवलोकति, नासा-पुट फरकावति ।  
 'सूर' स्याँम जब-जब रीझति हैं, तब-तब सीस डुलावति ॥”

—सूरसागर

“बंसी, हम सों बैर कियौ ।

पिय कौ अधर-सुधा-रस बन में, निधरक जाइ पियौ ॥  
 या बेदन कौ दुख जानें जब, देखै पैठि हियौ ।  
 'नागरिया' ब्रज-जुबतिन कौ तें सरबसु छीन लियौ ॥”

—नागर-समुच्चय

“किधौं हैं बसीकर की सीकर करति कैद-  
 जानि नहिं देति कहुँ मनके पतंग कों ।  
 किधौं हैं उचाटन भुलाबै हाट-बाटन तें-  
 हाटन तें धाबें बधू छॉरि सब संग कों ॥  
 किधौं नेह-घटा छीजै दंत छन-छटा छोरि,  
 ए री बीर बरखै सरस-रस-रंग कों ।  
 किधौं यह मोंहन की बाँसुरी बिमोहत है,  
 सोंहन लगति लएँ गोंहन अनंग कों ॥”

—कोई कवि

“जनी जड़-बंस तें अधर-अबतेस ठनी,  
 बनी हैं असारन में है हिणु की अति खाली री ।  
 हरै मन-धन कों, करै है माधुरी सों बात,  
 उटै उतपात याके कुल तें दवाली री ॥  
 छिद्रन कों लिऐं, हिऐं गाँठि तें भरी कठोर  
 बोलै मुँहजोर बरजोर यै कुचाली री ।  
 काली के दँमन कहुँ कैसेँ प्रतिपाली यातें-  
 कहैं बनमाली जग में प्रबीन आली री !॥”

—शृंगारसंग्रह

“सही सीत-भीत बरखातप की उतपात-  
 रात-दिन यातें बहु-भाँत तप कों किया ।  
 जनम तें बाढ़ी प्रीति, एकु पग ठाढ़ी रही,  
 डाढ़ी गई गाढ़ी नहिं नेंकु कसक्यौ हिया ॥  
 कीजै नहिं रोख यापै, दीजै नहिं दोख बीर,  
 देह कों सुखाइ धीर नेह-व्रत कों लिया ।  
 परखि सुलाखि ताइ लीन्हीं ब्रजराइ याकों-  
 तातें यह बंसी आइ भई स्याँम की प्रिया ॥”

—हजारा

“खोइ कें सुबंस-बंसी ऐसैं हीं कछुक-दिन-  
 मारी-फिरी ऐसैं हीं कछुक-दिन नाँगी री ।  
 छेद करवाइ निज छातीं में छ-सात गई-  
 कारीगर-हाथेंन अनेक-बिधि दागी री ॥  
 ताहि मन-मोहन किते दिन तें राखि-संग-  
 ‘द्विज-देव’ साँहैं सुराग अनुरागी री ।  
 ढीठ ह्वै कें क्यों न ब्रज-बालँन सताबै सोई-  
 बाँसुरी सुन्यों मैं अब हरि-मुख लागी री ॥”

—द्विजदेव-अयोध्या

“जेते सुर लींने उर, तेते-छेद कींने औरु—  
 जेते राग, तेते दाग रॉम-रॉम छीजिए ।  
 ताँनन के तीखे जँनु बाँनन चलाइ देति,  
 चीर-चीर अंगनु तुनीर तनु कीजिए ॥  
 अंतर की सूनी घर-सूने करै ‘सेख’ कहै—  
 सुनि-सुनि सबद बसेरौ बन लीजिए ।  
 हम ब्रज बसिहैं तो बाँसुरी न बसिहै अब,  
 बाँसुरी बसाइ काँन्ह, हमैं बिदा दीजिए ॥”

—शेख आलमकवि

“बाँसुरी, बिसारौ, नाँ तौ ब्रज ना बसैगौ अब  
 विधि-बाँधि बाँसुरी के बस करि दर्ई हैं ।  
 ‘आलम’ कहै हो न्याइ नैन देखें मेंन तबै-  
 काँनि सुनि काँन्ह ऐसे तेई तन तई हैं ॥  
 चित-अनचेते तुम तातें मुसिकात हौ जू,  
 रीझि-मुरझाइ कें सुकेती गिरि गई हैं ।  
 धूमें लागीं गाँसी सी उसाँसनि की आसु नहीं,  
 रावरे की हाँसी है निसाँसी औरें भई हैं ॥”

—आलम कवि

पंगुन कों पग होत, अंधन कों आसा-मग,  
 एकै जानि ह्वै कें जग-कीरति चलाई है ।  
 बिरचें बितौन बैजयंती बारि गहैं थाहैं—  
 बास-सी बिनासी बिस्व-बिदित बड़ाई है ॥  
 छाया करै जग कौ, थहाया करै ऊंचौ-नींचौ—  
 पाया जेहि बंस मैं यों बढत सदाई है ।  
 काँन्ह-मुख-लागि करै करम कसाईन कौ—  
 वाही बंस “बाँसुरी” जनम-जरी जाई है ॥

—दास

“और बिष जेते, तेते प्राँन के हरैया होत,  
 बंसी के कढ़े की कभू जाइ ना लहर है ।  
 सुनति हीं रोंम-रोँम रीझ जाइ ऐरी दैया,  
 जोंम जा रि डारै, पारै बेकली गहर है ॥  
 ‘ग्वाल कवि’ लाल तोसों जोरि-कर पूँछति हों—  
 साँचु कहि दीजै जो पै मो पै महर है ।  
 बाँस में, कि बेधमें, कि होठ में, कि फूँक में  
 कि आँगुरी की दाबमें, कि धुन में जहर है ॥

देख्यौ-देख्यौ सब ही सहूर तेरौ उतपाती !

जाती है न रेंन 'बंसी' अब तौ रहन दै ।

तारन कौ बृंद थक्यौ, चंद्र मति-मंद्र थक्यौ—

सिसुमार-फंद थक्यौ, मारग-बहन दै ॥

'ग्वाल कवि' अब अरबिंदन कों फूलन दै

मंजुल-मल्लिंदन कों मधुता लहन दै ।

हॉन दै रे हॉन दै सबेरौ निरदई-काँह,

रई कों चलन दै, गैयँन दुहन दै ॥\*

—ग्वाल

'ब्रज-जीवन-ओठँन के तकिया—

कर-फूलँन-सेज बिछावति हैं ।

अति-सुंदर कोंमल "नीत" मनो—

अलिकावलि-पीन दुरावति हैं ॥

अँगुरीन तें चाँपत पाँइ जेई—

तू तऊ मन-मोद न लावति है ।

इतने सुख सों मतवारी अरी,

बँसुरी तोहि नींद न आवत है ॥

—नवनीत

"बैठे भंग छानति अनंग-अरि रंग-रँमे—

अंग-अंग आँनद-तरंग-छबि छाबै है ।

कहै 'रतनाकर' कछुक रंग-ढंग औरें—

एकाएक मत्त है भुजंग दरसाबै है ॥

तूबा-तोरि, स्वाफी-छोरि, मुख-बिजया तें मोरि,

जैसैं कंज-गंध पै मल्लिंद-बृंद धाबै है ।

\* ग्वाल कविने 'बंसी-बीसा' नामसे एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ रचा है, जो कि तोलमें तो नहीं, पर मोलमें अवश्य भारी है ।

बैल पै सबार संग सैल-तनया लै बेगि—

कहति चले आवें काँन्ह 'बाँसुरी' बजावै है ॥”

“होत चल अचल, अचल चल होत अहो ?

होत जल पाहन, पखाँन जल-खाता है ।

कहै 'रतनाकर' अनंग अंग धारि नथौ—

सुर-सर साधत न जाकौ जग-त्राता है ॥

रहति न रूँधी ब्रज-बाँम चलें सूधीं धाइ—

त्यागौ पति पतिनी, स्व-पूत त्यागौ माता है ।

संचि-संचि मूरछना प्रपंच-षट्-राग-पागि

काँन्ह-मुख लागि भई 'बाँसुरी' बिधाता है ॥

—जगन्नाथदास ( रत्नाकर )

सवैया

“अंग त्रिभंग किएँ मन-मोहन, वे मन काँम के कोटि हरें ।

चितचाह-चुभ्यौ वृषभाँनु-सुता-तन आँगुरी बाँसुरि देह धरें ॥

चंचल चारु चलें कर पल्लव, 'भालम' नेंकु न नेंन टरें ।

तजि रोस सुचारु सुधाकर पै, मनोँ नीरद के दल नृत्या करें ॥”

—आलम

“पान किएँ हू दवानल कौ, जिहि के अधरा-रस रास बढै री ।

ताके लगी मुख सों यह जाइ तौ, ज्वाल की ताँतन क्यों न गढ़ै री ॥

'गोकुल' नाथ के हाथ सुबसि है बिसासिनि नाथिवे ही कों बढै री ।

छेदति या हिय कों 'बाँसुरी' सखि पाँहन फोरि कें बाँस कढ़ै री ॥”

—गोकुल

“फूँकि कें आई सबै बन कों हिय-फूँकि कें मँनकी आगि जगावति ।

तू तौ रसातल बेधि गई, उर-बेधति औरु दया नहिँ ल्यावति ॥

आपु गई अरु औरनु खोवति, सौति के काम भली-बिधि आवति ।

ज्यौँ बड़े-बंस तें छूटी है त्यों, बड़े-बंस सों औरनु हू कों छुटावति ॥”

—कोई कवि

## भ्रमर-गीत

कौन ठगोरी भरी हरि आजु, बजाई है बाँसुरिया रस-भीनी ।  
ताँन सुनीं जिनहीं-जिनहीं, तिनहीं-तिन्ह लाज बिदा करि दीनी ॥  
घूँमें खरी-खरी नंद के बारन, बीनीं कहा अस बाल-प्रबीनी ।  
या ब्रज-मंडल में 'रसखॉनि' सु कौन भद्र जो लट्ट नहिं कीनी ॥

—रसखान

“अधर-धरति हरि के परति, ओठ, दीठि, पट-जोति ।  
हरित-बाँस की 'बाँसुरी' इंद्र-धनुष-रँग होति ॥”

—बिहारी

“दुरी दुराएँ हूँ हिऐं, झीने-पट बंसी न  
सखि तिय-दिसि-लखि हँसि कहयौ, है पै बीन नबीन ॥”

—कोई कवि

“बिछुरति मोंहन-अधर तें, रहति न जिहि घट साँस ।  
बंसी-सम पायौ न हँम, प्रेम-प्रीति कौ आँस ॥”

—कोई कवि

“पोर-पोर तन आपुनों, प्रथम छिदायौ जाइ ।  
तब 'बंसी' नँदलाल पै, भई सुहागिनि आइ ॥”

—कोई कवि

“बंसी, बंसी नाम तब, राख्यौ कोउ प्रबीन ।  
ताँन-ताँन की डोर तें, खैचि लेति मन-मीन ॥”

—रसलीन

“अरी-बाँसुरिया, बाँसकी, तू है निहचै आँच ।  
फूँकि-फूँकि कर पिय-भरत, तऊ अँगुरिया नाँच ॥”

—कोई कवि

ठगोरी—वह शक्ति जिससे कोई भी आदमी—मनुष्य अपने  
आधीन किया जाता है । ठगों-जैसी माया, मोहिनी-शक्ति, मोहित

करनेवाला प्रयोग, सुधि-बुधि भुजानेवाली शक्ति, मोहिनी-माया, जादू, टोना ।

मारग, सूधौ, नैन, बैन, स्तुति, नासिका, मुरली और ठगोरी—  
आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयोग ।

“या ‘मारग’ हम नित गईं हो, कबहुँ न दीन्हों दौंन ।”

—रसिकराय

“कहियो ‘सूधौ’\* इहै—सँदेसवा !”

—माधुरीदास

“नैन”-छबि बनी आजु कछु औरें ।”

—ललित-किसोरी-प्राचीन

“काजर दीऐं रँगमँगौ, बोलति उलटे-‘बैन’ ।

कर-पल्लव दऐं बदन पै, लटकै नचावति नैन ॥”

—माधौदास

“स्तुति”-कुंडल अति-झलमलें—सोभा कही न जाइ ।”

—कुम्भनदास

“नासिका”-गिरिधर सोहति मोंती”

—गोविंदस्वामी

“सुनि, धुनि ‘मुरली’ बाजै हरि रास-रच्यौ ।

कुंज-द्रुम-बेली प्रफुलित, मंडल-कंचन-मनिन खच्यौ ॥”

—हरिदासस्वामी

\* ब्रज-भाषामें इस शब्दके दो प्रकारसे प्रयोग और मिलते हैं ।

यथा—

“सूधे” बचनन माँगिऐ हो, लालन गोरस-दौंन ।

—रसिकराय

“सूधैं” दौंन लेहु किनि मो पै, और कहा कछु पाँइ परोंगी ॥

—नंददास

“मुसकि-ठगोरी” डारि कें प्यारे, सकति लई रति-जोरि ।”

—रसिकराय,

श्रीनंददासजीकी तरह “श्रीसूर” ने भी उद्धवके उस अद्वैत-वादका कुछ ऐसा ही सुन्दर जवाब दिया है, जैसे—

ऊधौ, और कछुक कहिबे कों ।

मन-मानें सोऊ कहि डारौ, पाँ-लागें हम सब सहिबे कों ॥

बै उपदेस आजु लों ऐसौ, कौनन सुन्यो न देख्यौ ।

निरपति पटै कटुक अति-जीरन, चाँहति महि उर लेख्यौ ॥

निसि-दिन बसत नेंकु नहिं निसरति, हृदै-मनोहर-ऐन ।

या कों यहाँ ठौर है नाहीं, लै राखौ जहँ चैन ॥

ब्रजबासी गोपाल-उपासी, सो बातें हम छाँडि ।

‘सूर’ जोग-धन राख मधुपुरी, कुबिजा के घर गाडि ॥”

अथवा—

‘काहे कों रोकत मारग-सूधौ ।

सुनों मधुप ? निरगुन कंटक ते, राज-पंथ कों खूंधौ ॥

कै तुम सिखै पठाए कुबिजा, कही स्याँम-धनजू धों ।

बेद-पुराँन, इस्मृति सब हूँदे, जुबतिन जोग कहूँ धों ॥

ता कौ कहा परेखौ कीजै, माँगत छाछ न दूधौ ।

‘सूर’ मूर अकूर गयौ लै, व्याज-निबेरत ऊधौ ॥”

१ अद्वैत-वादियोंका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्मके अतिरिक्त और जो कुछ है वह सब मिथ्या है—सब जग झूठा है। वह कहते हैं कि जिस तरह रस्सीके स्वरूपको न जानकर सर्पका भान होता है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मके सुस्वरूपको न जाननेसे संसार और सांसारिक वस्तुएँ ब्रह्मसे भिन्न—पृथक् जान पड़ती हैं। लेकिन अन्तमें ज्ञान-प्राप्ति होनेपर यह स्थावर-जङ्गम-मय सारा संसार ब्रह्म-मय प्रतीत होने लगता है ?

अथवा उद्धव—

‘जित देखों, तित स्याँम-मई है ।

स्याँम कुंज, बन, जमुनाँ स्याँमा, स्याँम-गगन-घन-घटा छई है ॥  
 सब रंगन में स्याँम भरयौ है, लोग कहति यह बात नई है ।  
 मैं बौरी, कै लोगनु ही की, स्याँम-पुतरिया बदल गई है ॥  
 चंद्रसार, रवि-सार, स्याँम है, मृग-मद स्याँम काँम बिजई है ।  
 नीलकंठ कौ कंठ स्याँम है, मनों स्याँमता बेलि बई हैं ॥  
 नुति कौ अच्छर स्याँम देखियतु, दीप-सिखा पै स्याँम तई है ।  
 नर-देबनकी कहा चलैयतु, अलख-ब्रह्म-छबि स्याँम मई है ॥

कुछ ऐसी ही बात ‘कबीरदास’ भी कहते हैं, जैसे—

‘पीतम कों पतियाँ लिखूं, जौ कहूँ होइ बिदेस ।

तन में, मन में, नैन में, ताकों कहा सँदेस ॥’

श्रीनागरीदासजी कहते हैं कि—प्रिय-उद्धव ! एक बात बतलाओ, जैसे—

हा-हा ऊधौ ? कहिये बात ।

सुर-मुरली सों मोहीं सब हम, अब सुर-संख बजात ॥  
 रँग-रस तजि रन-रस बस भए, कछु मृदु, कुलिस लखात ।  
 सहि न सके सर-नेन हमारे, क्यों सर-सार सुहात ॥  
 पीत-झगा कौ लगत भार तब, कबच कसत क्यों गात ।  
 मूँठि-गुलाल लगत अबला कर, अब न गदा डर पात ॥  
 सुनि-सुनि हम पै सहि न सकति हैं, होति दगन जल पात ।  
 जगत कहत हम भई बावरी, प्रीति-रीतिके नात ॥  
 मुरली-मुकट, लटकि है छबि की, हिय तें नाँहिन जात ।  
 ‘राजसिंह’ प्रभु करयौ कहा पै धरी दया नहिं गात ॥

१ यह महाराज कृष्ण-गढ़के राजाका दूसरा उपनाम है ।

आलम कवि कहते हैं—

तरनिजा-तट, बंसीबट, कुंज-पुंज, बीथी,  
 बन-घन जहाँ-तहाँ आँनद-उपजोगी हैं ।  
 सोई रह्यौ ध्यान, उधौ ? ग्यान कौ न काज कीजै,  
 ए तौ ब्रजबासी ब्रजराज के बियोगी हैं ॥  
 'आलम' सुकवि कहै तन-बीच कान्ह-छबि—  
 जोग-देन आए तुम कहा हम जोगी हैं ।  
 जोग तौ सिखैए ताहि जोग की जुगति जानें,  
 जोग कौ न काज हम बंसी-रस भोगी हैं ॥

श्री घन आँनन्दजी भी कुछ ऐसी ही सरस-सूक्ति कहते हैं यथा—

वह मुसिकानि, वह मृदु-बतरानि, वह—  
 लड़बौरी-बाँनि आँनि उर में अरति है ।  
 वह गति लेंन औ बजावनि ललित-बेंन,  
 वह हँसि-देन हियरा तें न टरति है ॥  
 वह चतुराई सों चिताइ चाँहिबे की छबि—  
 वह छलताई न छिनकि बिसरति है ।  
 आँनद-निधौन प्राँन, पीतम सुजाँन जू की,  
 सुधि सब भाँतिन सों बेसुधि करति है ॥

कुछ ऐसा ही श्रीभारतेन्दुजी भी कहते हैं, यथा—

पहिलें ही जाइ मिले गुन में सबन फेरि—  
 रूप-सुधा-मधि कीन्हों नेंन हूं पयाँन है ।  
 हँसनि, नटनि, चितबनि, मुसिकाँनि सुध—  
 राई, रसिकाई मिलि मति पय-पाँन है ॥  
 मोहि-मोहि मोहन-मई री मन मेरौ भयौ—  
 'हरीचंद' भेद ना परत कछु जाँन है ।

काँन्ह भए प्राँन-मय, प्राँन भए काँन्ह-मय,  
हिए में न जानि परै, काँन्ह है कि प्राँन हैं ॥'

अब जरा 'रत्नाकर'जीकी भी वानगी श्रीनंददासजी इस उक्त-  
उक्तिपर देखिये, आप फर्माते हैं कि उद्धव जू—

कीजै ग्याँन-भाँनु कौ प्रकास गिरि-सृंगनि पै  
ब्रज में तिहारी कला नेंकु खटि है नहीं ।

कहै 'रतनाकर' न प्रेम-तरु पैहै सूखि—

याकी डार-पात तृन-तूला घटिहै नहीं ॥  
रसनाँ हमारी चारु चातकी बनीं हैं ऊधौ ?

पी-पी की बिहाइ औरु रट रहि है नहीं ।  
लौटि-पौटि बात कौ बबंडर बनावत क्यों

हिय तें हमारे वनस्याँम हटि हैं नहीं ॥'

क्योंकि—

'हम परतच्छ में प्रमाँन अनुमाँनें नाँहि—

तुम भ्रम-भौर मों भलें हीं बहिबौ करौ ।

कहै 'रतनाकर' गुबिंद-ध्याँन धारें हम—

तुम मन-माँनों ससा-सिंग गहिबौ करौ ॥

देखति सौ माँनति हैं सूधौ-न्याव जाँनति हैं,

ऊधौ ? तुम देखि हूँ अदेख रहिबौ करौ ।

लखि ब्रज-भूप-रूप, अलख, अरूप, ब्रह्म—

हम न कहेंगी तुम लाख कहिबौ करौ ॥'

श्रीनंददासकी उक्त-उक्तिपर—'हमारे सुंदर स्याँम प्रेम कौ  
मारग-सूधौ' पर घन-आनंद वा आँनदघनजीकी एक सरस-उक्ति याद  
आ गयी है । देखिये न कितनी बाँकपन है, यथा—

'अति-सूधौ सनेह कौ मारग है, जहाँ नेंकु सयाँन कौ काम नहीं ।

तहाँ साँचे चलें तजि आपुनपौ, झिझिकें कपटी, जे निसाँक नहीं ॥

‘घनआँनद’ प्यारे सुजान सुनों ? इत एकु ही दूसरौ—आँक नहीं ।  
तुम कौन धों पाटी पढ़े हौ लला, मन लेति हौ, देति छटाँक नहीं ॥

—शृंगार-संग्रह, १०३

## उद्धव उवाच

( ९ )

स-गुण—शुद्ध सर्गुन, वा सगुण, अथवा सरगुन, अर्थात् सत्त्व, रज और तमरूप तीनों गुणोंसे युक्त, साकार ब्रह्म, गुणों-सहित, उपाधि—लक्षण और वस्तुको और बतलानेवाला छल, कपट, अथवा ‘उपाधि’ वह जिसके संयोगसे कोई वस्तु किसी विशेषरूपमें और की और दिखलायी दे ।

सांख्यानुसार बुद्धिकी उपाधिसे ब्रह्म कर्ताके रूपमें देख पड़ता है पर वास्तवमें है नहीं । अस्तु, इसी तरह वेदान्तमें मायाके सम्बन्धसे वा असम्बन्धसे चेतनके दो—सोपाधि और निरुपाधि, अर्थात् उपाधिसहित ( जीव ) वा उपाधिरहित ( ब्रह्म ) भेद माने गये हैं ।

निरगुन—शुद्ध निर्गुण, अर्थात् सत्त्व, रज और तम नाम तीनों गुणों-रहित, दूर पृथक् । त्रिगुणातीत, अथवा जिसमें कोई गुण न हो । निराकार—जिसका कोई ‘आकार’ न हो—स्वरूप न हो । अथवा जिसके आकारकी कोई भावना न हो । निरलेप—शुद्ध निर्लेप, अर्थात् लेप-शून्य, जो विषयोंसे दूर हो, संग-रहित, पाप-पुण्यसे परे—पृथक् । स्वतन्त्र, निर्लिप्त । तीनों-गुन—तीन-गुण, अर्थात्

सत्त्व, रज और तम—आदि । अच्युत—शुद्ध अच्युत—जो कभी ‘च्युत’ न हो, अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, स्थिर, अमर, सदा सर्वदा रहनेवाला, अविनाशी, ( जिसका कभी नाश न हो ) ।

‘स्वरूपसामर्थ्यान्न ‘च्युतो’, न च्यवते, न—च्यविष्यते— इति ‘अच्युतः’ ।’ —विष्णुसहस्रनाम, शाङ्करभाष्य

अर्थात्—अपनी स्वरूप-शक्तिसे कभी च्युत नहीं हुए, न होते हैं और न होंगे—इसलिये—‘अच्युत’ ।

‘शाश्वत ५ शिवमच्युतम् ।’ —ना० उ० १३ । १

भगवान् भी यही कहते हैं:—

“यस्मान्न च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा ।”

विस्व—शुद्ध विश्व, सारा संसार, सम्पूर्ण जगत्, चौदह भुवनों का समूह, सब, जैसे:—

“विश्वं अशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम् ।”

—अमरकोश ३ । २ । १४

सगुन, उपाधि, निरगुन, निराकार, निरलेप, अच्युत और बिखके सरस प्रयोग:—

“गोविन्द” प्रभु गिरिधर जसुमति के “सगुन” रूप है आप ।

—गोविन्ददास

“बीर, कहु उपजी नई “उपाधि” ।” —कृष्णदास

“ऊधौ, लै “निरगुन” उत राखौ ।” —सूरदास

१ चौदह-भुवन—“भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यः, अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमत्, महातल, रसातल और पाताल ।

“निरंजन, “निराकार”, परब्रह्म, परमेस्वर—

एकुही अनेकु होइ व्यापौ बिस्वंबर” ।” —चैजू बावरा

निराकार “निरलेप” निरंजन ‘आँनदघन’ निस्तरणं ।”

—आनँदघन

घट-घट में व्यापि रह्यौ “अच्युत” सोई—

भूलै मति मतिमंद वृथाँ जनम जाइगौ” ।” —तानसेन

“बिस्व” कुसल कारन बिधिना, बिनती करि आँने ।”””

—नंददास

श्रीनंददासकी उक्त उक्तिपर यह श्रुति-वाक्य कितना फिट

बैठता है । जैसे:—

“यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि-  
पादम्.....।,” —मुण्डकोपनिषद् १ । १ । ६

अथवा श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं:—

“सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।  
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ४०

श्रीसूर कहते हैं:—

वे हरि, सकल-ठौर के बासी ।

पूरन ब्रह्म, अखंडित, मंडित, पंडित, मुनिन, बिलासी, ॥

सप्त-पताल, अध, अरध पृथ्वी, जल, नभ बरुन, बयारी ।

अर्भंतर-दृष्टी देखनि कों, कारन-रूप-मुरारी ॥

मन, बुधि, अहंकार, दस-इंद्री, प्रेरक रथ-मनकारी ।

ताके काजु बियोगु बिचारति, ए अबला ब्रज-नारी ॥

जाकों जैसौ रूप रुचै मन, सो अपबस-करि लीजै ।

आसन, बैसन, ध्यान, धारनाँ मन आरोहन कीजै ॥

षट्-दल, अष्ट, द्वादस-दल निरमल, अजपाजाप जयाली ।  
त्रिकुटी-संगम ब्रह्म-द्वार-भिदि, यों मिलि हैं बनमाली ॥  
एकादस गीता, स्रुति साखी, जिहि बिधि मुनि समुझाए ।  
ते सँदेस श्रीमुख गोपिन कों “सूर” सुमधुप जनाए ॥

कबीर साहब फर्माते हैं:—

“जाके मुँह-माथा नहीं, नाँहीं रूप-अरूप ।

पुहुप-बास तें पातरा, ऐसा तत्त्व अनूप ॥ —साखी

यारी-साहिब कहते हैं:—

“जोति-सरूपी आतमा, घट-घट रहो समाइ ।

परम-तत्त मन-भावनों, नैकु न इत उत जाइ ॥”

“रूप-रेख बरनों कहा, कोटि-सूर्ज परगास ।

अगम-अगोचर रूप है, कोउ पावै हरि कौ दास ॥”

नेनन-आगें देखिऐ, तेज-पुंज जगदीस ।

बाहर भीतर रमि रहा, सो धरि राखौ सीस ॥”

सहजोबाई कहती हैं:—

“निराकार-आकार सब, निरगुन औ गुनबंत ।

है, नाहीं सूं रहित है, “सहजो” सो भगवंत ॥”

नाम नहीं औ नाम सब, रूप नहीं सब रूप ।

“सहजो” सब कछु ब्रह्म हौ, हरि परघट, हरिगूप ॥”

## गोपी-वचन

( १० )

गो—गौ, घेनु, गैया, गाय, पशु ।

गो-शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे:—किरण, दिशा,  
वचन, पृथ्वी, माता, वृष-राशि, इन्द्रिय, सरस्वती, वागीश, आँख आदि ।

वन—जंगल । अंजन—काजल, सुरमा-वगैरह ।

कवि—संसारमें अंजन-अलंकृत आँखोंका भी बड़ा बोलबाला है । इस तीन अक्षरके “अंजन” शब्दपर कवि-कोविदोंने अपने-अपने कलेजे निकाल-निकालकर रख दिये हैं । कहते हैं—काजल, दृष्टिको साफ करता है, पर यहाँ तो इस कलमुँहे “काजल” ने कवि-दृष्टियोंको और भी काला बना दिया है—एकदम धुँधला कर दिया है । देखिये न, जैसे—

“कंचन के पिँजरा-परे खंजन तलफात किधों—

बाँधे जुग मीन नाग-फाँस सों मँदँन हैं ।

काँम के कछारँन में फूलँन की कनूका किधों—

त्रायुज-तिलक सिंगार के सँदँन हैं ॥

बिषिख पुलिंद मैंन मँजे हैं प्रदीपँन सों,

“बलभद्र” मुनिँन-हूँ भे मनके हरँन हैं ।

काजर की रेख अवरेख लोचँन में मँनों—

कीँन्हे चित-चोरँन के मेचक बँदँन हैं ॥”

×

×

×

“मँन-मोंहिनी सूरत राधिका की,—लखि मोंहन के मँन प्रेम पग्यौ ।

चहुँ ओर तें फौली है चंद्रिका-सी, मुख की छबि नंद-कुँमार रँग्यौ ॥

दोड नैनन-बीचमें काजर-रेख, बिराजत रूप अँनूप जग्यौ ।

रबि कों तजि चंद-सों नेह कियौ, अरबिंदन मँनों कलंक-लग्यौ ॥”

×

×

×

“रूप-ठगोरी डारि कें, मोंहन गौ चित-चोर ।

अंजन-मिस जँनु नैन ए, पीयतु हलाहल-घोर ॥”

गोबरधन—गोवर्धन, गोरधन अर्थात् ब्रजका पर्वत विशेष ।

यों तो 'गोवर्धन' का विस्तार गोलोकमें बारह-हजार कोसका कहा जाता है और गोलोक-बिहारी भगवान्के आनंदसे उक्त गोवर्द्धनकी उत्पत्ति कही जाती है, पर गर्ग-संहिताके कर्त्ता गोवर्धनकी उत्पत्ति ब्रजमें इस प्रकार कहते हैं—

‘एक समय श्रीपुलस्त्य ऋषि पृथ्वी-पर्यटन करते हुए अतुल-प्रतापशाली शाल्मली-द्वीपमें द्रोणाचलके यहाँ आये और वहाँ ऋषिने सुंदर रत्नमयी शिखरोंसे सुशोभित, सुगंधसे संयुक्त, वृक्षोंसे परिपूर्ण और दिव्य-पुष्पोंसे प्रफुल्लित, कंदराओंसे कलित, ऋषि-मुनियोंके उपयुक्त अनेक स्थान तथा पशु-पक्षियोंसे भरपूर उसके पुत्र 'गोवर्धन' को देखकर उसे काशी ले जानेके लिये याचना की । ऋषिके अनुनय-विनयसे गोवर्धनने मार्गमें कहीं भी न रखनेकी प्रतिज्ञापर ऋषिके साथ जाना कबूल किया, क्योंकि उस ( गोवर्धन ) का कहना था कि जहाँ भी आप रख देंगे वहाँसे पुनः मैं अगाड़ी न जाऊँगा, वहीं रह जाऊँगा । अस्तु; इस शर्तनामेके अनुसार ऋषि गोवर्धनको ब्रजके रास्ते काशी ले जाने लगे तो भगवत्कृपासे ऋषिको इस स्थानपर जहाँ कि अब गोवर्धन-पर्वत वर्तमान है—लघुशंकाकी आवश्यकता प्रतीत हुई और गोवर्धनको वहाँ रख अपनी शंका निवृत्त करने लगे, तदुपरान्त जब आप पुनः काशी चलनेको उद्यत हुए और गोवर्धनको उठाने लगे तो 'गोवर्धन' कहने लगा कि महाराज ! अब क्षमा कीजिये, बस मेरा और आपका करार पूरा हो गया, मैं अब अगाड़ी नहीं जा सकता आदि-आदि । अतएव श्री-

पुलस्त्य ऋषि अपनी आगे मनोवाञ्छा पूरी पड़ती न देख झुंझलाकर बोले कि—‘जा दुष्ट ! तू तिल-तिल नित्य-प्रति यहाँ घटता रहेगा और कलियुगमें तेरा इस तरह नाश हो जायगा, इत्यादि ।’

—गर्गसंहिता ‘गिरिगोवर्धनखण्ड’

गोवर्धन-धारणकी कमनीय-कथा श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार लिखी है—‘ब्रजवासी गोप-गण प्रतिवर्ष अच्छी वर्षा होनेके लिये शरदकालमें इन्द्रकी पूजा किया करते थे । उन लोगोंका दृढ़ विश्वास था कि उक्त पूजा करनेसे हम सब तरहसे सुखी रहेंगे, जैसे—

नंद-महर सों कहति जसोधा, सुर-पति-पूजा क्यों बिसराई ।  
जाकी कृपा बसत ब्रज-भीतर, जाकी दई भई ठकुराई ॥  
जाकी कृपा अन्न-धन पूरन, जाकी कृपा तें नव-निधि पाई ।  
जाकी कृपा दूध-दधि बहुतक, सहस-मँथानी मँथत सदाई ॥  
जाकी कृपा पुत्र भयौ मेरें, कुसल रहौ बलराम-कन्हाराई ।  
‘सूर’ घरनि यों कहति नंद सों, दिन आयौ अब करौ सजाई ॥’

अस्तु, यशोदाके इस प्रकार याद दिलानेपर बड़े उत्साहके साथ इन्द्रपूजाका आयोजन होने लगा । उसी समय कहींसे खेलते-कूदते कृष्ण आ गये और लगे पूछने कि बाबा ! यह आज क्या हो रहा है ! बाबा नंदके सब कहनेपर आपने इन्द्र-पूजाके लिये मना करते हुए गोवर्धन-पूजाकी सलाह दी, यथा—

‘बाबा, गोबरधन पूंजौ आज ।

जातें गाय, गुवाल, गोपिका, सुखी सबन कौ राज ॥

जाकों रुचि-रुचि बलिहि बनावत, कहा सक सों काज ।

‘गिरि’ के बल बैठे घर अपने, कोटि-इंद्र बै गाज ॥

मेरौ कह्यौ मॉनि अब लीजै, भरि-भरि सकटँन साज ।  
‘परमानंद’ चलौ सग अरपें, बृथाँ करत क्यों नाज ॥’

बाबाके लाड़िले तो थे ही, फिर इनकी बात क्यों न मानी जाती, अस्तु, नंद बाबा सब गोपोंसे कहने लगे—

“हमारौ कान्ह कहै सो कीजै ।

आवौ सिमटि सकल ब्रज-वासी, परबत कों बलि दीजै ॥

मधु, मेवा, पकवाँन, मिठाई, घट्-रस-बिंजन लीजै ।

“आसकरन” प्रभु मोंहन नागर, पानि पछावरि पीजै ॥”

अतएव इस आज्ञाके अनुसार गोपवर्गने इन्द्र-पूजनको विलगकर गोवर्धन-पूजा की, जैसे:—

“गोवरधन पूंजति हैं ब्रजराई ।

बल-मोंहन आगें दै लीने, गोप-बधूँ संग लाई ॥

दूध-दही भाजन भरि लीन्हें, पाइस बहुत बनाई ।

बैठे हैं गोपाल सिखर पै, भोजन करत दिखाई ॥

दीपमालिका-महा-महोच्छव, ग्वालँन लए बुलाई ।

बिबिध-भाँति सग सखा सजाए, जो जाके मन-भाई ॥

फूले फिरत सकल ब्रज-वासी, खिरक खिलावत गाई ।

“लालदास” के प्रभु गिरि पूज्यौ, भई भक्तँन मन-भाई ॥”

इन्द्र, इन ( गोपों ) के इस नये व्यवहारको देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और अपने मेघ-गणोंको बुलाकर ब्रजको डुबा देनेकी आज्ञा दी ।

मेघँन सों बोले सुर-राई । अहीरँन मोसों करी दिठाई ॥

मेरी दीनीं करत बढ़ाई । जाँन बूझि मोहि दियौ भुलाई ॥

सदाँ करत मेरी सिबकाई । अब सेवत परबत कों जाई ॥

इही काज तुमकों हंकराए । भली करी सेना लै आए ॥

बेगि-बेगि सब ब्रज पै जावौ । पहिलें परबत खोद-बहावौ ॥

जब इहि सुनी इंद्रकी बाँनी । मेघन के मन धीरज आँनी ॥

“सूरदास” प्रभु सुनि घनतमके । कापर क्रोध करत प्रभु जमके ॥”

सुर-पतिके इस आदेशानुसार मेघ व्रजपर आकर भीषण-उत्पात करने लगे । इसे न सह सकनेवाले उत्पातोंसे डरकर गोपवर्ग असहाय-सा रोता-कलपता कृष्णसे सहायताकी पुकार मचाने लगा—

“माधौ जू, राखौ अपनी ओट ।

वे देखौ गोबरधन-ऊपर, उठे हैं मेघ के कोट ॥

तुम जु सक्र की पूजा मेंटी, बैर कियौ उन भोट ।

नाहिन नाथ महातम जान्यों, भयौ है खरे तें खोट ॥

सात-घौस जल बरख सिरानों, अचयौ एकुहिं घोट ;

लयौ उठाइ गिर गरुबौ कर पै, कीन्हों निपट निघोट ॥

गिरिधारयौ, तिरनावत-मारयौ, जियौ नंद के डोट ।

“परमानंद” प्रभु इंद्र खिस्यानो, मुकट चरन-तर लोट ॥”

उसी समय इस पदानुसार भगवान् श्रीकृष्णने गोप और गोकुल-की रक्षाके निमित्त गोवर्धन-गिरिको अपने बाँये हाथकी कन्नी—सबसे छोटी उँगलीपर उठा लिया और सत्रको इसके नीचे बुलाकर आश्रय दिया । जैसे कोई बालक कमलनालको अपनी उँगलीपर नँचाता है उस तरह सात दिनतक आप गोवर्धन पर्वतको लिये रहे अपनी उस नाजुक और कोमल कन्नी उँगलीपर । श्रीनंददासजीने उक्त अवसरका एक बड़ा सुंदर भावपूर्ण पद कहा है, जैसे—

“काँन्ह-कुँवर के कर-पल्लव पै, मनो गोबरधन नृत्य करै ।

ज्यों-ज्यों तौं उठति मुरली की, त्यों-त्यों लालँन अधर धरै ॥

मेघ-मृदंगी मृदंग बजावत, दामिनि-दमक मानों दीप जरै ।

श्वाल ताल दै नीकें गावत, गायन के संग सुर जो भरै ॥

देति असीस सकल गोपी-जन, बरखा कौ जल अमित झरै ।  
अति अद्भुत अबस गिरिधर प्रभु, 'नंददास' के दुःख हरै ॥”

मेघोंने सात-दिन और सात रात्रि महान् वृष्टि की, पर गोकुल-निवासियोंका वे कुछ भी न बिगाड़ सके और थककर भाग गये । तदुपरान्त इन्द्र भी भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णावतार मान गोकुलमें आया और पूजा-अर्चनाके पश्चात् स्तुतिकर अपने लोकको चला गया तथा इधर गोप-तथा गोप-बालाएँ उनके इस अपरिमित कृत्यपर आशीर्ष देने लगा । जैसे:—

“जीवौ जसोधा पूत तिहारौ, जिन गोबरधँन धार्यौ ।  
बाँम-पाँनि पै राखि लयौ गिरि, बूड़त सबँन उबार्यौ ॥  
सात दिवस अति-वृष्टि लगाई, प्रबल मेघ बहु डार्यौ ।  
बूँद न परसी काहू देखत, सुर-पति-मन लाचार्यौ ॥  
लै सुरभी अभिषेक कियौ है, तन, मन, धन सब बार्यौ ।  
“ब्रजपति” की अति करत बीनती, पाँइ पर्यौ-बस हार्यौ ॥

पूत—बेटा, लड़का, पुत्र, अपत्य अथवा पूत—पवित्र वा साफको भी कहते हैं, जैसे:—

“पूतं पवित्रं मेध्यं च.....।”

—अमरकोश ३।२।५

ब्रजनाथ—ब्रजके नाथ, मालिक, प्रभु, स्वामी, कर्ता, प्रतिपालक—आदि ।

गो, बन, अंजन, गोबरधन, पूत और ब्रजनाथके सुंदर व सरस प्रयोग ।

“भाछी—“गो” ग्वालन सिंगारी, दीनी द्विजन बुलाइ ।”

—विह्वलेशजी

“भूलि परी संकेत-सघन “बन” हों अबला कित जाऊँ ।”

—हित भगवान

“अंजन” ऊपर खंजन वारौ नैन-चपलता मीन ।”

—हरिदास दूसरे

“गोबरधन” की सघन-कंदरा, रेंनि-निवास कियौ पिय-प्यारी ।”

—कृष्णदास

“ब्रज भयौ महरि कें “पूत” जब यै बात सुनीं ।” —सूर

“लालदास” प्रमुदित गिरि पूज्यौ, आगें करि ‘ब्रजनाथ ।”

—लालदास

श्रीसूरने भी नंददासजीकी तरह उद्धवके निर्गुण कथनकी खिल्ली उड़ायी है, “हाथ, पाँइ नहिं नासिका, नैन, बेंन नहिं काँन-रूप वर्णनका भरपूर-मजाक उड़ाया है, यथा—

“मधुकर, वह जाँनी तुम साँची ।

पूरन-ब्रह्म तिहारौ ठाकुर, आगें माया नाँची ॥

इहै गाँउँ न समझति कोऊ, कैसौ निरगुन होत ।

गोकुल बाँट परे नँद-नंदन, उहै तिहारौ पोत ॥

को जसुमति ऊखल सों बाँध्यौ, को दधि-माँखन चोर्यौ ।

को ए दोऊ-रूख हमारे, जमलार्जुन कों तोर्यौ ॥

को लै बसन चढ़्यौ तरु-साखा, मुरली-मन-आकरषे ।

को रस-रास-रच्यौ बृंदावन, हरखि सुमन सुर बरषे ॥

ज्यौं ढाक्यौ तब कत बिन बूड़े, काहे जीभ पिरावत ।

तब जु ‘सूर’ प्रभु गए क्रूर लै, अब कथों नैन सिरावत ॥

अथवा:—

निरगुन, कौन देस कौ बासी ।

मधुकर, कहि समुझाइ, सोह दै, बूझति-साँच न हाँसी ॥

कोहै जनक ? कोन है जननी ? कोन नारि कौ दासी ।  
 कैसौ बरन ? भेष है कैसौ ? किहि रस कौ अभिलासी ॥  
 पावैगौ पुनि कियौ आपुनों जोरि करैगौ गाँसी ।  
 सुनति मॉन है रह्यौ बाचरौ, “सूर” सबै मति नाँसी ॥”

अथवा—

फिरि-फिरि कहा बनावति बातें ।  
 प्रातकाल उठि देखति ऊधौ, घर-घर माँखन खातें ॥  
 जिनकी बात कहति हौ हम सों, सो है अब तौ दूरि ।  
 इहाँ न निकट जसोधा-नंदन, प्रान-सँजीवनि-मूरि ॥  
 बालक-संग लएँ दधि-चोरत, खात, खबावत, डोलत ।  
 “सूर” सीस क्यों नीँच्यौ नावत, अब काहे नहिँ बोलत ॥”

अथवा—

“ए अलि, जनम-करम-गुन गाए ।  
 हम अनुरागी जसुमति-सुतकी, नीरस-कथा बहाए ॥  
 कैसेँ कर-गोबरधन धार्यौ ? कैसेँ कैसेँ-मार्यौ ।  
 कालि-दमन कियौ कैसेँ अस बक काँ बदन बिहार्यौ ॥  
 कैसेँ नंद महोच्छव कीनों ? कैसेँ गोप जु धाए ।  
 पट-भूषन, नाँना-भाँतन के, ब्रज-जुबतिन पहिराए ॥  
 दधि-माँखन के भाजन कैसेँ, गोप-सखा लै धाए ।  
 को बन-धातु चित्र अँग कीएँ, नाँचत भेष-सुहाए ॥  
 तब तें कछु न सुहाइ स्याँम-बिन, जुग सम बीतत जाँम ।  
 “सूर” मरैगी बिरह-बियोगिनि, रटि-रटि भाधौ-नाँम ॥

यही बात श्रीरामदासजी कहते हैं । जैसे—

ऊधौ, सो मूरत हम देखी ।  
 सिब-सनकादि सकल-मुनि-दुरलभ, ब्रह्म, इंद्र नहिँ पेखी ॥

खोजत फिरत जुगौ-जुग जोगी, जोग-जुगत तें न्यारी ।  
 सिद्धि-समाधि, सपन नहीं दरसी, मोंहन-मूरत प्यारी ॥  
 निगम, अगम, बिमला जस गावें, रहत सदाँ दरबारी ।  
 तिल-भरि बार-पार नहीं पायौ, कहि-कहि नेति पुकारी ॥  
 नाथ, जती, जोगी औ जंगम, हँड रहे बन माँही ।  
 भेष धरें धरती-भ्रमि हारे, तिनहूँ दरसौ नाँहीं ॥  
 सो हम घर-वर नाँच-नचायौ, तनक-तनक दधि दै कै ।  
 'रामदास' हम रँगी-स्याँम-रँग, जाहु जोग घर लै कै ॥”

एक कवि कहता है—

जनम कौ पत्रा है हमारे-कर प्यारे-ऊधौ ?  
 जानें हम जसुधा के बार, गुन, नाँम कों ।  
 लाखन उपाइ दही-माँखन चुराइ प्रात—  
 चाखि भजि जात हुते तुरत नंद-धौम कों ॥  
 सोदर हली के वे दमोदर कहाइ इत,  
 आठों जाँम माँनि हित पूजें उहि दौम कों ।  
 अगुन, अनामी, अज कहौ किमि बार-बार,  
 अहो हो लबार, कहा बंचौ ब्रज-बौम कों ॥”

—हजारा

निर्गुणसे सगुणकी स्थापना करते हुए श्री“रसरूप” कुछ नयी  
 उक्ति उपस्थित करते हैं, जैसे—

पाँइ-बिन धावै, करें कर-बिन भावै जॉन,  
 “रसरूप” गुने-बिन गुन बहु गूनाँ है ।  
 तुचा बिना परसि, दरसि बिना नेंन, बिना  
 रसनाँ रसग्या, सुनेँ काँन बिना दूनाँ हैं ॥  
 नाँक बिना ओलै बास, बुद्धि बिना खोलै फाँस,  
 दूरि औ पास बयापै आप मैं अपूनाँ हैं ।

ऊधव अदेखा कैसें उर अवेखा जाइ—

‘रूप है न रेखा, काहूँ देखा नहिं सूनाँ हैं ॥’

—उपालम्भ-शतक

इस त्रिपयपर—नंददासजी उक्त निर्गुण-निरूपणरूप खंड-  
नोक्तिपर जरा ‘ग्वाल’ कविकी सरस-सूक्तिका मनोहर मजा देखिये,  
यथा—

‘जैसे काँन्ह तैसे ही उद्धव-सुजाँन आए,

हैं तौ मैहमाँन पै प्राँनन निकारें लेति ।

लाख-बेरि ‘अंजन’ अँजायौ उन आँखिन में

तिन कों निरंजन कहि झूठ निरधारें लेति ॥

‘ग्वाल’ कवि हाल ही तमालन में, बालन में

ख्यालन में खेले हे किलोल-किलकारें लेति ।

झाँ न परचेरी-जोग, चेरी-संग परचेरी,

जोग-परचेरी भेजि परचे हमारें लेति ॥’

‘हम अपने कर सों दियौ, ऊधौ अंजन जोइ ।

दासी-सुख रासी करी, भयौ निरंजन सोइ ॥’

—नवनीत

श्रीनवनीतजीकी इस सरस-सूक्तिपर एक सुन्दर संस्कृत-सूक्ति  
और याद आ गयी है, जैसे—

धन्या गोकुलकन्या वयमिह मन्यामहे जगति ।

यासां नयनसरोजे अंजनभूतो निरंजनो वसति ॥

अन्तमें जरा जगन्नाथदास रत्नाकरजीकी बानगी भी नंददासजी-  
की इस उक्तिके साथ देखिये । आप फर्मते हैं कि उद्धव—

‘कर बिनु कैसें गाय दुहिहै हमारी वह,

पद बिनु कैसें नाँचि थिरकि रिझाइ है ।

कहै 'रतनाकर' बदन-बिनु कैसें चाखि—

माँखन, बजाइ बेंनु गोधन गवाइ है ॥

देखै, सुनें, कैसें दग-खवन बिनाँ हीं हाइ,

भोरे ब्रज-बासिनि की बिपत बराइ है ।

रावरौ अनूप कोऊ अलख-अरूप ब्रह्म,

ऊधौ ? कहौ कौन धों हमारे काँम आइ है ॥'

### उद्धव-वचन

( ११ )

अंड—लोक-मंडल अथवा गोलाकार-संसार—लोक-पिंड, ब्रह्मांड, विश्व । ब्रह्मांड—ब्रह्मांडका कोमलरूप अर्थात् जगत्, संसार, विश्व-गोलक, संपूर्ण-विश्व जिसके भीतर अनंत लोक हैं । चौदह-भुवनोंका समूह आदि-आदि ।

मनु भगवान् कहते हैं—स्वयंभू भगवान् ने प्रजा-सृष्टिकी इच्छासे पहिले जलकी सृष्टि की और उसमें बीज फेंका । अस्तु, उस बीजके पड़ते ही जलसे सूर्यके समान प्रकाशवाला एक स्वर्णाभ—अंड वा गोला उत्पन्न हुआ, जिससे पितामह ब्रह्माका जन्म हुआ । उसमें आपने एक संवत्सरतक निवास करके उस अंड वा ज्योतिर्गोलकमें एक वर्ष रहकर उसके दो—आधे-आधे विभाग किये और फिर उस ऊर्ध्व-खंडमें स्वर्ग आदि लोकोंकी और अधोखंडमें पृथ्वी-आदिकी रचना की । अतः यह विश्व-गोलक इसीसे 'ब्रह्मांड' कहा जाता है—आदि-आदि ।

लीला—क्रीड़ा, विहार, खेल, कौतुक…………आदि ।

‘द्रवकेलिपरीहासाः क्रीडा ‘लीला’ च नर्म च ।’

—अमरकोश १ । ७ । ३२

और विलासको भी ‘लीला’ कहते हैं, जैसे—

‘लीला’ विलास-क्रिययोः..... ।’

—अमरकोश ३ । ४ । २०१

अर्थात् विलास, स्त्रियोंकी शृंगार-चेष्टा, वा भेद, वा चेष्टा विशेष अथवा क्रिया—आदि ‘लीला’ कही जाती हैं ।

‘लीलां विदुः केलिविलासखेला-

शृंगारभावप्रभवक्रिया स्वः ।’

—विश्वप्रकाशः

हाव—अंतर्गत ‘लीला’ शब्दकी व्युत्पत्ति साहित्य-दर्पणमें श्री-विश्वनाथ चक्रवर्ती इस प्रकार करते हैं—

‘अंगैर्वैरलंकारैः प्रेमभिर्वचनैरपि ।

प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ॥’

अस्तु, लीला—वह व्यापार जो कि चित्तकी उमंगसे केवल मनोरंजनके अर्थ किया जाय । रहस्य-पूर्ण व्यापार, विचित्र-काम । प्रेमयुक्त खिलवाड़, प्रेम-विनोद आदि-आदि ।

अवतार—देहान्तर धारण, मनुष्यरूपमें देव-विशेषका प्रकट होना—प्रकाशित होना, भगवान्का लीलार्थ प्रकट होना, उतरना, नीचे आना, जन्म लेना, शरीर-ग्रहण करना ।

पुराणानुसार भगवान्के—पूर्ण-पुरुषोत्तमके चौबीस अवतार कहे जाते हैं, जैसे—

ब्रह्मा, वाराह, नारद, नर-नारायण, कपिल, दत्तात्रेय, यज्ञऋषभ, पृथु, मत्स्य, कूर्म, धन्वन्तरि, मोहिनी, नृसिंह, वामन, परशुराम, वेद-व्यास, राम, बलराम, कृष्ण, बुध, कल्कि, हंस और हय-ग्रीव— आदि……” लेकिन मुख्य “दस” ही है ।

इन अवतारोंपर पीयूषवर्षी कवि श्रीजयदेवकी एक बड़ी सुंदर “अष्टपदी” है, जैसे—

“प्रलयपयोधिजले धृतवानसि वेदं,  
 विहित वहित्र चरित्रमखेदं…… ।  
 केशवधृत मीन-शरीर, जय जगदीश हरेः ॥  
 क्षितिरति विपुलतरे तव तिष्ठति पृष्ठे  
 धरणि धरण क्षिण चक्र गरिष्ठे ।  
 केशवधृत कच्छप रूप, जय जगदीश हरेः ॥  
 वसति दशन-शिखरे, धरणी तव लग्ना,  
 शशिनिकलंक कलेवनिमग्ना…… ।  
 केशवधृत शूकररूप, जय जगदीश हरेः ॥  
 तव कर-कमल वरे नखमद्भुत शृंगं,  
 दलित हिरण्यकशिपु तनु भृंगं ।  
 केशवधृत नरहरिरूप, जय जगदीश हरेः ॥  
 छलयसि विक्रमणे बलिमद्भुतवामन,  
 पद्-नख-नीर-जनित-जन पावन ।  
 केशवधृत वामनरूप, जय जगदीश हरेः ॥  
 क्षत्रियरुधिरमये जगदपगत पापं,  
 स्तपयसि पयसिशसितभव-तापं ।  
 केशवधृत भृगुपतिरूप, जय जगदीश हरेः ॥

वितरसि दिक्षुरणे दिक्पति कमनीयं,  
 दशमुखमौलि बलिं रमणीयं..... ।  
 केशवधृत रघुपतिरूप, जय जगदीश हरेः ॥  
 बहसि वपुसि विशदेव जलदाभं;  
 हल हति भीति मिलित यमुनाभं ।  
 केशवधृत हलधररूप, जय जगदीश हरेः ॥  
 निदसियज्ञविधेरहह-श्रुतिजातं,  
 सदय हृदय दर्शितपशुघातं... ।  
 केशवधृत बुद्ध शरीर, जय जगदीश हरेः ॥  
 म्लेच्छनिवहनिधने कलयसि करवालं;  
 धूमकेतुमिव किमपि करालं..... ।  
 केशवधृत कल्किशरीर, जय जगदीश हरेः ॥  
 श्रीजयदेवकवेरिदमुदितमुदारं...  
 शृणु सुखदं शुभदं भवसारं—  
 केशवधृत दशविधिरूप, जय जगदीश हरेः ॥”

तन—शरीर, देह, काया, अंग, शुद्ध-तन ।

“कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः ।”

—अमरकोश २ । ६ । २२

जोग—शुद्ध-योग, अर्थात् चित्तकी चंचल-वृत्तियोंको बाहरी वस्तुओंसे हटाकर उस ( मन ) को अंतर्मुख करना, ज्ञान प्राप्त करनेका साधन, भगवत्-प्राप्तिका उपाय । तप, ध्यान, वैराग्य अथवा योग, वह उपाय जिसके द्वारा जीवात्मा परमात्मामें मिल जाता है । मुक्ति वा मोक्षका साधन । दर्शनकार पतंजलिके अनुसार जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है—चित्तकी विविध वृत्तियोंको चंचल होनेसे

रोकना—मनको इधर-उधर भटकनेसे रोकना और केवल एक ही वस्तुमें स्थिर करना—योग कहा है ।

“योगः सन्नहतोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु ।”

अथवा—

“योगः कर्मसु कौशलम् ।”

—गीता २ । ५०

जुगति—शुद्ध युक्ति, अर्थात् रीति, तरकीब, उपाय, ढंग, तदबीर । साधनकी क्रिया ।

योगकी युक्तियोंका—साधनों व उपायोंका विश्लेषण करते हुए दर्शनकार कहते हैं कि पहिले स्थूल-शरीरका—विषयका आधार लेकर सब विषयोंको त्यागता हुआ सूक्ष्मका ध्यान कर अपना चित्त स्थिर करना चाहिये । इसके बाह्य उपादान ये कहे जाते हैं—अभ्यास, वैराग्य, ईश्वरका प्रणिधान, प्राणायाम, समाधि । कोई-कोई इन बाह्य उपकरणोंको अदल-बदलकर योग-साधनके आठ अंग मानता हुआ इनका विभाग इस प्रकार करता है—सिद्धिके यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अंग हैं । इन आठों अंगोंको लेकर कवि “रसरूप” ने गोपियोंको योगकी जो समुचित शिक्षा दी है वह अपूर्व है, जैसे—

आसन—

‘असी चार-लच्छ जाति, असी चार-लच्छ-भाँति,

(आसन) सुनाए सिब सिबा के प्रसँन हैं ।

तामें असी-चार बसी क्रम कै कसी है देह—

ताहू में सरोज सिद्ध, सिद्ध के प्रसँन हैं ॥

दुहू के सरूप तुम्हें दृगन दिखाइ दैहें,  
 'सरूप' जासों हैहै जोग में जसँन हैं ।  
 तागे के बसन, तोष, त्रिषा के त्रसँन यहाँ—  
 आसनेँ असँन सोम छुधा के नसँन हैं ॥'

### यम-नियम—

'आरजब, अहिंसा, छिमा, दया धृति, सत्याचार,  
 सौच, ब्रम्हचरज, हार संजम के रच्छी हैं ।  
 वृषा, तप, तोष, असत्य-मति सुद्ध-सत्व,  
 पूजा, दाँन, जप, होंम, नेम-पथ गच्छी हैं ॥  
 'सरूप' दोऊ दस-दस-भाँति भाख्यौ जाकों,  
 दरस, तरस, स्वाँति विधिनि अलच्छी हैं ।  
 साधन सकल इन्हें साधि-साधि सिद्ध होत,  
 इन-बिन जोग जैसेँ पंख बिना पच्छी हैं ॥

### प्राणायाम—

'नासिका की नारी तींन भरेँ राखै करै छींन—  
 बीज-मंत्र लींन बिधि बेदँन बताए तें ।  
 क्रम हूँ बितक्रम सों होत बस दसों-पोंन,  
 स्रोत-सुख पावै दस-भाँति धुनि ध्याए तें ॥  
 आधारादि षट्-चक्र भेद हिणें खेद करि—  
 खेचरी-सहित मुद्रा दसों बनि आए तें ।  
 'सरूप' याही रीती जोगी हैं अमर-काइ,  
 औरु कहा प्राँनार्याँम आँगुरी बजाए तें ॥'

### प्रत्याहार—

'रूप तें पतंग के, परस तें मतंग के—  
 सुगंध हू तें अंग के दुखँन में भरे रहैं ।  
 सबद तें कुरंग छति, रस, तेज, मच्छ, गति,  
 सुधि कै सँकोच अंग कच्छ के करे रहैं ॥

दूसरौ न रहै काँम, जागि-जागि आठों-जाँम,  
 'रसरूप' जामें जोगी जीव सों अरे रहैं ।  
 हारें हियौ हठि कें, न इन्द्रिन कों अहार देंइ,  
 हार लों हिण् में 'प्रत्याहार' कों धरे रहैं ॥'

धारणा—

'थंभनि पुहुमि हियौ ब्रह्म ते न चलै चित्त—  
 द्राविनी उदक कंठ कैसौ बिष माँनैं हैं ।  
 दहनी दहँन माँल, काँम-रुद्र लाइ है सो—  
 भ्रामिनी पवन भोंह मेघ गति मानैं हैं ॥  
 सोखिनी अकास ब्रह्म-रंध्र सदाँ सिब पास,  
 जामें महा-मुक्ति कौ उपाइ उर आँनैं हैं ।  
 पाँच-पाँच घरी प्राँन, लीन करै पाँचौ-ठौर,  
 पाँचौ-तश्व धारना कों 'धारना' बखाँनैं हैं ॥'

ध्यान—

'प्रथमै पदस्थ ध्यावें अच्छर कों स्वस्थ है कें,  
 दूसरौ तनस्थ ध्यान गुरु कौ गनंत हैं ।  
 त्रिकुटी में देखिए स्वयं-प्रकास-जोति-रूप,  
 रूप में अखेद-भेद तीसरौ भनंत हैं ॥  
 'रसरूप' दसों-दिसि पूरँन-परस नाँहि,  
 चौथौ रूपातीत रूप रहत नितंत हैं ।  
 नभ कैसौ पंछी मन फेर में रहत जाँ के—  
 आवत है फेर, जात पावत न अंत है ॥'

समाधि—

'हरख, सोग, माँनामाँन, निंदन, प्रसंसा जाँन,  
 ऊंच-नींच रचन प्रपंच की कहाँनी मैं ।

देवादेव, दुःख, दर्प, भूत, प्रेत, सिंघ, सर्प,  
 काहू तें न भै जो अनेक-दुख-दाता मैं ॥  
 ब्रम्ह, जीव, पाप, धर्म, बरनास्रम, क्रिया कर्म,  
 सब सों रहित ह्वै सयाँनी ना अयाँनी मैं ।  
 इंद्री, आत्मा, एकता सों अचल समाधि मिलै—  
 पॉन-पॉन मिलै जैसें पाँनी मिलै पाँनी मैं ॥’

पर-ब्रम्हपुर-धॉमः—परब्रम्हके पुर—नगरका धाम, अर्थात्  
 ‘मुक्ति’ । धॉम—आश्रय, अवलंब, वास आदि…………… ।

‘धाम रश्मो गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः ।’ —हेमचंद्र  
 अंड, ब्रह्मंड, लीला, अवतार, तन, जोग, जुगति, परब्रह्म और  
 धॉम-आदि शब्दोंके सरस प्रयोग—

“बिस्व “अंड” मैं रमि रह्यौ, बहै ब्रह्म-परकास ।”

—श्रीनिधि

“सम “ब्रह्मंड” लख्यौ ता भीतर, जसुमति-मति बौराँनी ।”

—वृन्दावनदास

“नित-नई “लीला” करत मनोहर, स्याँम-सकल गुन-धॉम ।”

—चतुर्भुजदास

“धनि गोकुल, धनि नंद-जसोदा जाकेँ हरि “अवतार” लयौ ।”

—सूरदास

जाके लियेँ सुनीं मेरी सजनी ! लाज गई सब “तन” की ।”

—कुंभनदास

“जोग” लियौ किहि कारेँ, दग दरसत अनुराग ।”

वृन्दावनदास

“जुगति” कछू चलै न बीर चलाई ।”

—श्यामदास

“आयौ सोई महर-घर, “परब्रह्म” धर देह ।”

—मानदास

“स्यौंम “धौंम” सरसुती सकुचि रही—

या बानिक बरनत नहिं कोउ—कवि ।”

—हित हरिवंश

श्रीनंददासजीकी इस उक्ति—

“जाहि कहौ तुँम्ह कान्ह, ताहि कोउ पिता न माता”

—पर श्रीमद्भागवतकी यह सूक्ति याद आ जाती है, यथा—

न माता न पिता तस्य न भायां न सुतादयः ।

नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥

न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।

क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥

श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ३८-३९

अथवा—

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।

सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिण्णुर्महदल्पकं च ।

विनाच्युताद्भस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥

—श्रीमद्भागवत १० । ४६ । ४२-४३

श्रुतियाँ भी यही कहती हैं—

“दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।”

—मुण्डकोपनिषद् २ । १ । २

“न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा—  
 नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।  
 ज्ञानप्रसादेन विशुद्धतत्त्व-  
 स्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥”

—मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । ८

अब जरा श्रीसूरकी भी इस विषयपर बानगी देखिये, आप फर्माते हैं—

“जाकेँ रूप, बरन, बपु नाहीं । नैन-मूँदि चितवौ, चित-माँहीं ॥  
 हृदे-कमल में जोति बिराजै । अनहद-नाँद निरंतर बाजै ॥  
 इड़ा, पिंगला, सुखम्ना-नारी । सहज सु तामें बसैं मुरारी ॥  
 माता, पिता न दारा, भाई । जल, थल, घट-घट रह्यौ समाई ॥  
 इहि प्रकार भव-दुख-सरितरिहौ । जोग-पंथ क्रम-क्रम अनुसरिहौ ॥”

अथवा—

मैं, तुम पै ब्रज-नाथ पठायौ । आतम-ग्याँन सिखावन आयौ ॥  
 आपुहिं पुरुष, आपु-हीं नारी । आपुहिं बाँनप्रस्थ ब्रह्मचारी ॥  
 आपुहिं पिता, आपु-हीं माता । आपुहिं भगिनी आपुहिं भ्राता ॥  
 आपुहिं पंडित, आपुहिं ग्याँनी । आपुहिं राजा, आपुहिं राँनी ॥  
 आपुहिं धरती, आपु अकासा । आपुहिं स्वाँमी, आपुहिं दासा ॥  
 आपुहिं ग्वाल, आपुहिं गाई । आपुहिं आप, चरावन जाई ॥  
 आपुहिं भँवर, आपुहीं फूल । आतम-ग्याँन, बिनाँ जग-मूल ॥  
 राव-रंक दूजा नहिं कोई । आपुहिं आपु निरंजन सोई ॥  
 इहि प्रकार जाकौ मन लागै । जरा-मरन औ भव-भै भागै ॥  
 जोग-समाधि, ब्रह्म चित ल्यावौ । ब्रह्मानंद तबहिं सुख पावौ ॥”

कुछ ऐसा ही निर्गुण-परमात्माका निरूपण करती हुई  
'सहजो' बाई कहती हैं—

'नया-पुराना होइ ना, धुँन नहिं लागै जासु ।  
'सहजो' मारा ना मरै, भै नहिं ब्यापै तासु ॥'  
'किरै, घटै, छीजै नहीं. नाहिंन भिंजवै नीर ।  
ना काहू के आसरें, ना काहू के सीर ॥'  
'रूप-बरन वाकें नहीं, 'सहजो' रंग न देह ।  
मीत-इष्ट वाकें नहीं, जाति-पाँति ना गोह ॥'  
'सहजो' उपजै ना मरै, सद-बासी ना होइ ।  
रात-दिवस ता में नहीं, सीत-उस्र ना सोइ ॥'  
'आगि जराइ सकै नहिं, सस्तर सकै न काटि ।  
धूप सुखाइ सकै नहीं, पवन सकै नहिं आटि ॥'  
'मात-पिता वाकें नहीं, नहीं कुटँब कौ साज ।  
'सहजो' वाहि न रंकता, ना काहू कौ राज ॥'  
'आदि-अंत ताकें नहीं, मध्य नहीं तेहि माँहिं ।  
बार-पार नहिं 'सहजिया' लघु-दीरघ भी नाँहिं ॥'

—आदि-आदि.....

'लीला कौ अवतार लै धरि आए तँन-स्याँम' पर रस-निधिजीकी  
यह सृक्ति बरबस हृदय अपनी तरफ खींच लेती है, जैसे—

'नेति-नेति कहि निगम पुनि, जाहि सके नहिं जाँन ।  
भयौ मनोहर भाइ ब्रज, वही सो हरि-हर आँन ॥'

अथवा—

'नमो निरंजन निरंकार, अविगत पुरुष अलेख ।  
जिन संतन के हित धरयौ, जुग-जुग नाना-भेख ॥'

—बाबा मल्लकदास

## गोपी-वचन

( १२ )

जोग—योग्य, उपयुक्त, उचित, पात्र, अधिकारी, लायक, काबिल । प्राँन—शुद्ध प्राण, अर्थात् शरीरकी वह वायु,—हवा कि जिससे मनुष्य जीवित रहता है । हृदयस्थ वायु, जीव, अनिल, वायु, निश्वास ।

“समीरमारुतमरुज्जगत्प्राण” समीरणाः ।”

—अमरकोश १ । १ । ५८

सच्छास्त्रकारोंने देश-भेदसे प्राणके दस भेद माने हैं, जैसे—“प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनंजय”, पर इनमें मुख्य पूर्व-कथित पाँच ही माने जाते हैं और ये ही पञ्च-प्राण नाम प्रसिद्ध हैं । ये सब मनुष्य शरीरके भिन्न-भिन्न विभागोंमें कार्य किया करते हैं और इनके प्रकुपित होनेसे ही शरीरमें अनेकानेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं । इन सबमें उक्त—“प्राण” ही सर्वोपर माना जाता है । जिस वायुको हम अपने नथुने-द्वारा—नाकके छिद्र-द्वारा साँस-रूप भीतर ले जाते हैं वही ‘प्राण’ कहलाता है । इसीपर मनुष्य और पशु-आदिका जीवन है । इस वायुका मुख्य-स्थान हृदय माना जाता है और प्राण धारण करनेके कारण ही साँस लेते मनुष्य और जन्तुओंको प्राणी कहा जाता है । क्योंकि मरनेपर श्वास-प्रश्वासका—अथवा इस वायुका गमनागमन बंद हो जाता है और लोग कहने लगते हैं कि इसके प्राण निकल गये । शास्त्रमें प्राण निकलनेके मार्ग—आँख, कान, नाक, मुँह, नाभी,

गुदा, मूत्रेन्द्रिय और ब्रह्म-रंध—आदि माने गये हैं । लोगोंका कथन है कि मरनेके समय मनुष्य-शरीरसे जिस इंद्रिय-द्वारा प्राण निकलते हैं, वह कुछ अधिक फैल जाती है और ब्रह्म-रंध-द्वारा निकलनेपर खोपड़ी चटख जाती है । जैन-शास्त्रानुसार प्राण—मनोबल, वाक्बल और कायबलनामक त्रिविध बलोंके साथ उच्छ्वास, निश्वास और आयुके समूहको कहते हैं । छांदोग्य ब्राह्मणके अनुसार प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनको कहते हैं । वाराहमिहिर और आर्यभट्ट-आदिके मतानुसार प्राण, कालका वह विभाग जिसमें दस दीर्घ-मात्राओंका उच्चारण हो सके । यह त्रिनाडिकाका छठा भाग है—आदि-आदि.... ।

पियूख—शुद्ध पीयूष, अर्थात् अमृत, सुधा, अमी आदि । वह तरल पदार्थ जिसके किञ्चिन्मात्र पड़नेसे मृतक जीव जी उठता है ।

“पीयूषममृतं सुधा ।”—कोश

धूरि—शुद्ध धूलि, अर्थात् रज, रेत, खाक, गर्द, मिट्टी, रेणु—आदि ।

“रेणुर्द्रयोः स्त्रियां “धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः ।”

—अमरकोश २ । ८ । ६६

धूरि पर “अब्दुल-रहीम खानखाना”की सरस-सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

“धूरि” उड़ावत सीस पै, कहु “रहीम” किहिं काज ।

जिहिं रज मुनि-पतनी तरी, सो हूँदत गजराज ॥”

—रहीमरत्नावली

जोग, प्राँन, पियूख और धूरिके सरस प्रयोग—

“तुम इकले, हम हूँ इकल हो, बात नहीं कछु “जोग” ।

तुम तौ चतुर-प्रबीन हौ लाला ? कहा कहैंगे लोग ॥”

—सूरदास

“गोबरधन-घर-स्याम-सिंध में, पर्यौ “प्राँन” कौ बेरौ ।”

—चतुर्भुजदास

“अति-गंभीर, बुद्धि कौ आलइ, प्रेम—“पियूख” भरयौ ॥”

—परमानंददास

“धूरि” भरे अँग खेलत मोहन, आछी बनी सिर सुंदर चोटी ।”

—सूरदास

जोग—उपदेशके अनन्तर श्रीसूरने भी प्रेमकी महत्ता दिखलाते हुए कुछ ऐसा ही कहा है, यथा—

ऊधौ, हमहिं न जोग सिखैए ।

जिहि उपदेस मिलै हरि हमकों, सो व्रत-नेम बतैए ॥

मुक्ति रहौ घर-बैठि आपुने, निरगुन सुनि दुख पैए ।

जिहि सिर-केस कुसुम-भरि गूँधे, तिहि कैसैं भसम चढ़ैए ॥

जाँनि-जाँनि सब मगन भए हैं, आपुन-आपु लखैए ।

“सूरदास” प्रभु सुनों नवौ-निधि, बहुरि कबौ ब्रज पैए ॥

सूरके इस कमनीय खप्पर पर किसी उर्दू कविकी यह उक्ति भी

सुन्दर है, जैसे—

“भाँखें नहीं हैं चहरे पर तेरे फकीर के ।

दो ठीकड़े हैं भीख के, दीदार के लिये ॥”

अथवा—

“ऊधौ, करि रहैं हम जोग ।

कहा ऐतौ बाद ठाँनें, देखि गोपी-भोग ॥

सीस सेली, केस मुद्रा, कनक-बीरी बीर ।

बिरह-भसम चढ़ाइ बैठीं, सहज कंथाचीर ॥

हृदै सिंगी, टेर-मुरली, नैन खप्पर हाथ ।

चँहत हँम हरि-दरस-भिच्छा, दँह दीनानाथ ॥

जोग की गति जुक्ति हम पै, “सूर” देखौ जोइ ।  
कहत हम कों करन जोग, सँजोग कैसौ होइ ॥”

अथवा—

हमारें, कोंन बेद-बिधि साधै ।  
बटुवा, झोरी, दंड अधारा, इतनेन को आराधै ॥  
जाकी कहुँ थाह नहिँ पैयतु, अगम, अपार अगाधै ।  
गिरिधरलाल छबीले कौ इहि, कहा पठायौ पाधै ॥  
सुनि मधुकर जिन सरबसु चाख्यौ, सो सचुपावत आधै ।  
“सूरदास” मनि-स्यौंम छाँड़िकें, धुँधुचि-गाँठिको बाँधै ॥”

कृष्णगढ़के महाराज “नागरीदासजी” कहते हैं—

ऊधौ, मुझहिँ आवति गारि ।  
कहा करौं नँद-नंद की करि काँनि देति हों टारि ॥  
वह मनोहर-माधुरी लखि, भेद-मृद-मुसिकात ।  
तुम्हें फिर सुधि रही कैसें, निपट निरगुन बात ॥  
जानियतु हैं यह तिहारे, कहन ही के बेंन ।  
कल्प बीतें पल-परन में, होत तहँ क्यों चेंन ॥  
नवल-नागर रूप-निधि में, हूँ रह्यौ जो लीन ।  
मरुस्थल में डारिऐ क्यों, कहे तें मन-मीन ॥”

पुनः—

“ऊधौ, तुम न जाँनत प्रेम ।  
बसौ मधुरा-राजधौनी, तहाँ ब्यापक नेम ॥  
कथा-निरगुन-न्याँन-सूकौ, राज-नीति प्रबंध ।  
प्रीति-नेँननि, रूप-रीझनि, कहा जाँनें अंध ॥  
इहाँ ब्रज में वृथाँ कीजै, जोग-नीरस-पाठ ।  
छाँड़ि ‘नटनागर’-मधुर-फल, कोंन चाबै काठ ॥”

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

“ऊधौ, कह्यौ तिहारौई कीबौ ।

नीकें जिय की जानि अपनपौ, समुझि सिखावन दीबौ ॥  
 स्याँम-बियोगी ब्रज के लोगनु, जोग-जोग जो जानों ।  
 तौ संकोच परिहरि पाँ-लागों, परमारथ हि बखानों ॥  
 गोपी, ग्वाल, गाय, गो-सुत सब, रहत रूप अनुरागे ।  
 दीन-मलीन-छीन-तन डोलतु, मीन-मज्ञा सों लागे ॥  
 “तुलसी” है सनेह दुखदायक, जानति नहिं ऐसौ कोहै ।  
 तऊ न होत काँन्ह कौ सौ मन, सबै साहिबहिं सोहै ॥”

आलम कवि कहते हैं—

“बूझि कें अबूझ होत ऊधौ, ऐसी बूझिए रे,  
 जो पै ऐसी बूझ तौ अबूझ किन बूझै जू ।  
 झखत, झुरत झखकेतुऊ खिझावै झुकि—  
 तुम झुकवत झूठौ जूझ कौन जूझै जू ॥  
 राजिव-नयन मेरे “आलम” रहे कै ध्याँन,  
 रीझि की रहनि में अबूझ कहा सूझै जू ।  
 झघट जुगति जाहि जीजियतु ऐसी सुनि—  
 भोगकी भुगत पाएँ जोग काहि सूझै जू ॥”

शेख कहती हैं—

“जब सुधि आवै तब तन विनु-सुधि होत,  
 बन-सुधि आँएँ मन होत पात-पात है ।  
 “सेख” कहै सरद-सहेट के वे गीत गुनि,  
 बाँसुरी की धुनि टसाल गात-गात है ॥  
 तुम कह्यौ मानों उपदेस हम नाहीं कह्यौ—  
 जैसी एकु नाँहीं तैसी नाँहीं सौक-सात है ।  
 प्रेम सों बिरुधौ जिनि हा-हा हियौ रूधौ जिनि,  
 ऊधौ, लाख-बातनि की सूधी एक-बात है ॥”

क्योंकि—

“धिक काँन जो दूसरी बात सुनें, यहाँ एकु ही रंग रह्यौ मिलि डोरौ ।  
दूसरौ-नाम कुजात कढ़ें, रसना जो कहै तौ हलाहल-बोरौ ॥  
“ठाकुर” यों कहती ब्रज-बाल, सु ह्यौं बनितान कौ सुभाव है भोरौ ।  
ऊधौ जू, वे अँखियाँ जरि जाउ, जो साँवरौ छाँड़ि निहारतीं गोरौ ॥

—ठाकर-शतक

अथवा—

“पारसै-परसि लोह सोहति है हेंम होइ-  
ते न फिरि चुंबक सों जाइ लपटावहीं ।  
जाकी मन-बीन सुर-लीन है प्रवीन भयौ,  
सो न सुनि कींगरी की धुनि हरषावहीं ॥  
सुधा-सिंधु-रासि जासु, द्युधा-तृषा भागि गई  
सौ तौ मृग-बारि लागि नहीं मुधा धावहीं ।  
स्याँमकी सँजोगी हम गोरस की भोगी ऊधौ,  
कैसेँ बनेँ जोगी जोग-माँहि मन लावहीं ॥”  
“स्याँम के पठाए आए सखा हैं सुहाए ऊधौ,  
लागे मन तोलन तौ आछी बिधि तोलिये ।  
प्रेम-धारमें ठिकान ग्याँन कौ न हैं सुजाँन  
लैहै कोऊ जती बरानसी बीच डोलिये ॥  
जानें हम कहा भोरी बसी हैं बिबोग-टोळी,  
सीखौ तुम जोग ऐसी बोळी मति बोलिये ।  
होहु जनि दाहक, सिखावौ जोग चाँहक कों,  
गाहक के बिनाँ नग नाँहक न खोलिये ॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

ऐहि उर हरि-रस पूरि गयौ ।  
तन मैं, मन मैं, जिय मैं सब ठाँ, कृष्ण-हिं-कृष्ण भयौ ॥

भरयौ सकल तन-मन तौहूँ नहिं, माँन्यौ उमड़ि बहयौ ।  
 नैननि सों, बेंननि सों रोक्यौ, नाहिन परत रहयौ ॥  
 लघु-घट ता में रूप-समुद रहयौ, क्यों न उमँगि निकरै ।  
 ता पै लाए ग्याँन कहौ तेहि जिय कित लाइ धरै ॥  
 कौन कहै रखिबे की उलटौ बहि जैहै या धार ।  
 “हरीचंद” मधुपुरी जाहु तुम, ह्याँ नहि पैहौ पार ॥

रत्नाकरजी कहते हैं—

“चुप रहौ ऊधौ, सूधौ-पथ-मथुरा कौ गहौ,  
 कहौ ना कहाँनी जो बिबिध कहि आए हौ ।  
 कहै “रतनाकर” न बूझिहैं बुझाएँ हम,  
 करत उपाइ बृथाँ भारी भरमाए हौ ॥  
 सरल-सुभाँव-मृदु जाँनि परौ ऊपर तें,  
 पर उर घाइ करि लॉन सौ लगाए हौ ।  
 रावरी-सुधाई में भरी है कुटिलाई कूटि-  
 बात की मिठाई में लुनाई लाइ ल्याए हौ ॥

क्योंकि—

वे तौ बस बसन रँगावै मन रंगत ए-  
 भसम-रमावै वे, ए आपु हीं भसम हैं ।  
 साँस-साँस माँहि बहु बासर बितावै वे,  
 इनकै प्रत्तेक साँस जात ज्यों जनम हैं ॥  
 ह्वै कें जग-मुक्ति सों बिरक्त मुक्ति चाँहत वे,  
 जानत ए भुक्ति-मुक्ति दोऊ बिष-सम हैं ।  
 करिकें बिचार ऊधौ सूधौ मन-माँहि लखौ,  
 जोगी सों बियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं ॥”

अस्तु—

“जोग को रमाबै औ समाधि को जगाबै इहाँ,  
 दुख-सुख साधनि सों निपट निबेरी हैं ।  
 कहै “रतनाकर” न जानें क्यों इतै धौं आइ,  
 साँसनि की सासना की बासना-बिखेरी हैं ॥  
 हम जमराजा की धरावति जमा न कछु,  
 सुर-पति-संपति की चाँहनि न ढेरी हैं ।  
 चेरी हैं न ऊधौं, काहू ब्रह्म के बबा की हम-  
 सूधें कहैं देति एकु कौन्ह की कमेरी हैं ॥

अरे बावले, हम—

“सरग न चाहें, अपबरग हू न चाहें सुनि,  
 भुक्ति-मुक्ति दोऊ सों बिरक्ति उर आनें हम ।  
 कहै “रतनाकर” तिहारे जोग-रोग माँहि,  
 तन, मन, साँसनि की साँसति प्रमानें हम ॥  
 एकु ब्रजचंद-कृपा-भरे मुसकानि ही मैं,  
 लोक-परलोक कौ अनंद जिय जानें हम ।  
 जाके या बियोग-दुख हू मैं कछु ऐसौ सुख  
 जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू मैं दुख मानें हम ॥

अथवा—

ऊधौं, यह ग्यान कौ बखान सब बादि हमें—  
 सूधौं-बादि छाँड़ि बकवादिहिं बढ़ाबै कौन ।  
 कहै “रतनाकर” बिलाइ ब्रह्म-काइ माँहि,  
 आपुने सों आपुनौ कै आपुनो नसाबै कौन ॥  
 काहू तौ जनम में मिलेंगी स्यामसुंदर कौं,  
 याहू आस प्राँना जाँम साँस में उड़ाबै कौन ।  
 परि कें तिहारी जोति-ज्वाला की जगाजग में,  
 फेरि जग जाइबे की जुगति जराबै कौन ॥

क्योंकि—

बाही मुख-मंजुल की चँहतिं मरीचें सदाँ,  
 हम कों तिहारी ब्रह्म-जोति करिबौ कहा ।  
 कहै “रतनाकर” सुधाकर-उपासिनि कों  
 भाँनु की प्रभानिकौ जुहारि करिबौ कहा ॥  
 भोगि रहीं बिरचे बिरंच के सँजोग सबै  
 ताके सोग सारन कों जोग चरिबौ कहा ।  
 जब ब्रज-चंद कौ चकोर-चित, चारु भयौ,  
 बिरह-चिंगारिनि सों फेरि डरिबौ कहा ॥”

उद्धव-वचन

( १३ )

ईस—शुद्ध ईश, अर्थात् प्रभु, स्वामी, महादेव, ऐश्वर्यशाली—  
 आदि-आदि ।

“शम्भुः‘रीशः’ पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः ।”

ईश—शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—‘ग्यारहकी संख्या,  
 आर्द्रा-नक्षत्र, राजा, एक उपनिषद, ईशान-कोण’ पर यहाँ उक्त-शब्द  
 “शिव”के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इसका सम्बन्ध “धूलि”  
 शब्दसे जुड़ा हुआ है ।

धूरि-छेत्र—शुद्ध धूलि-क्षेत्र, अर्थात् पृथ्वी, जमीन, धरती ।  
 अथवा धूरि-छेत्र “मथुरा” का भी नाम है यथा—

“धूरि-छेत्र” मथुरा-पुरी, बसैं जहाँ भगवान ।” —हरलाल  
 करम—शुद्ध कर्म, अर्थात् जो किया जाय, अथवा जो करना हो ।

“कर्म” क्रिया—तत्सातत्ये.....।

वैशेषिकके अनुसार “कर्म” उन छै—पदार्थोंमेंसे एक है जो कि एक-द्रव्यमें हो, गुण न हो और संयोग तथा विभागमें अनपेक्षता-का कारण हो । कर्म पाँच-प्रकारके माने जाते हैं जैसे—“उत्क्षेपण अर्थात् ऊपर फेंकना, अवक्षेपण—नीचे फेंकना, आकुञ्चन—सिकोड़ना, प्रसारण—फैलाना और गमन, अर्थात् जाना । मीमांसक कर्मको दो प्रकारका मानते हैं जैसे—“गुण वा गौड़—कर्म और प्रधान वा अर्थ कर्म । गुण-कर्म वह है जिससे द्रव्यादिकी प्राप्ति हो—संस्कार हो और प्रधान वा अर्थ-कर्म वह कहलाता है जिससे द्रव्यकी उत्पत्ति वा शुद्धि न हो अपितु उसका उपयोग हो । उक्त प्रधान वा अर्थ-कर्मके मीमांसक इसे ही प्रधान, अर्थात् “प्रधान”को ही प्रधान मानकर “नित्य, नैमित्तिक और काम्य” रूपसे तीन भेद मानते हैं । नित्य कर्म वह जिसके न करनेसे पाप हो, अर्थात् जिसका करना परम कर्तव्य हो और नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं जो कि किसी विशेष अवसरपर किया जाय । इसी प्रकार जो कर्म किसी फल-विशेषकी कामनासे किया जाय वह “काम्य”—कर्म कहलाता है । योग-सूत्र-की वृत्तिमें भी भोजने कर्मके—“विहित, निषिद्ध और मिश्र” नामसे तीन ही भेद मानते हुए जाति, आयु और भोगको कर्मके विपाक-फल कहा है । जन्मके भेदसे भी कर्मके ‘संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण और “भावी” चार-भेद कहे हैं । जैन-दर्शनके अनुसार कर्म—पुद्गल और जीवके अनादि सम्बन्धसे उत्पन्न माना जाता है, वह इसीसे जैन इसे, अर्थात् कर्मको “पौद्गलिक” कहते हैं । कर्मके—घाति और अघाति दो भेद और भी कहे जाते हैं । घाति, अर्थात् मुक्तिका बाधक और “अघाति” मुक्तिका अबाधक माना जाता है । आदि-आदि.....।

हरि-पद—हरिका पद, अर्थात् मुक्ति । लोक-चतुरदस—शुद्ध चतुर्दश-लोक, अर्थात् चौदह-लोक । चौदह-भुवन, विश्व-विभाग ।

“.....“लोक”स्तु भुवने जने ।”—अमरकोश ३ । ४ । २

अथवा—

“.....“लोको”, विष्टपं भुवनं जगत् ।”

—अमरकोश २ । १ । ६

यों तो उपनिषदोंमें—“इह-लोक और पर-लोकरूप दो ही लोक माने हैं, पर निरुक्ति-शास्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक नामसे तीन-लोकोंका उल्लेख किया गया है । जिनका दूसरा नाम भूः, भुवः और स्वः है और ये ही महाव्याहृति कहलाते हैं । इन तीन, अर्थात् भूः भुवः और स्वः स्वरूप महाव्याहृतियोंकी भाँति और भी चार-महाव्याहृतियाँ कहलाती हैं जैसे—“महः, जनः, तपः और सत्यं—आदि । अस्तु, इन सप्त-व्याहृतियोंके नामसे ही सात-लोकोंकी कल्पना पुराण-कालमें की गयी है, यथा—भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपः लोक और सत्य-लोक आदि.....। इनके बाद फिर पातालके अंतर्गत सात लोकोंकी और भी सृष्टि हुई, जैसे—अतल, नितल, वितल, गर्भस्तिमान, तल, सुतल और पाताल आदि । परंतु पुराणोंमें इन नामोंके प्रति विभेद भी मिलता है, जैसे—पद्म-पुराणानुसार—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल । अग्नि-पुराणके अनुसार—अतल, वितल, सुतल, गर्भस्तिमान, महातल, रसातल और पाताल । विष्णु-पुराणानुसार—अतल, वितल, नितल, गर्भस्तिमान, महातल, सुतल और पाताल ।

“अतलं वितलं चैवं तितलं च गभस्तिमत् ।  
महाख्यं सुतलं चाश्र्यं पातालं चापि सप्तमम् ॥”

( विष्णुपुराण २ । ५ । २ )

सात-दीप—शुद्ध सप्त-द्वीप, अर्थात् स्थलके वह सात-विभाग जो चारों ओर जलसे घिरे हों, जल मध्यस्थ पृथ्वीके—जमीनके सात खण्ड—विभाग ।

“द्वीपो”ऽस्त्रियामन्तरीयं यदन्तर्वारिणस्तटम् ।”

—अमरकोश १ । १० । ८

पुराणानुसार सात द्वीपोंके नाम इस प्रकार हैं यथा—जम्बूद्वीप, कुशद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, क्रौञ्चद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप ।

“जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां” ॥”

—श्रीमद्भागवत ५ । २ । ३२

और इनकी कथा पुराणोंमें इस प्रकार कही जाती है कि ‘एक बार महाराज प्रियव्रतने यह सोचा सूर्य पृथ्वीके एक ओर ही उजेला करता है, अतः आपने एक चमचमाती हुई गाड़ीपर बैठकर सात बार पृथ्वी-प्रदक्षिणा की । गाड़ीके पहियोंके घँसनेके कारण पृथ्वीपर सात वर्तुलाकार गड्ढे पड़ गये जो कि समुद्र बन गये । इन्हीं सातों समुद्रोंसे परिवेष्टित होनेके कारण इन सात द्वीपोंकी सृष्टि हुई—आदि-आदि…………… ।

‘यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन्भगवानादित्यो वसु-  
धातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनो-  
पचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन्समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन  
रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय

इव पतङ्गः । ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त-  
सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो 'द्वीपाः ।'

श्रीमद्भागवत ५ । १ । ३०, ३१

नौ-खंड—शुद्ध नव-खंड, अर्थात् पृथ्वी नौ भाग, खंड, टुकड़े ।

'भित्तं शकल—'खण्डे' वा..... ।

अमरकोश १ । ३ । १७

उक्त नौ खंडोंके नाम इस प्रकार हैं—'भरत, इलावर्त,  
किंपुरुष, भद्र, केतुमाल, हिरण्य, हरि, रम्य और केतुमाल ।

ईस, धूरि-छेत्र, करम, हरि-पद, लोक-चतुरदस, सात दीप  
और नौ-खंड—आदि शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

'जुग-जुग जियौ 'गोकुल के 'ईस' ।'—गोविन्द स्वामी  
'प्रघट भए 'धूरि-छेत्र में आई ।'—भगवानहित  
'करम' गति टारी नाहिं टरै ।'—सूरदास  
'हरि-पद' जतन किएँ ही पावौ ।'—आसकरन  
'लोक—चतुरदस' ताहि रटें, वे ठाकुर केसबदेव हमारे ।'

—दत्त-कवि

'सबै हमारौ राज है हो 'सात-दीप' 'नौ खंड ।'

—कुंभनदास

नंददासजीकी इस उक्तिपर बुल्ला-शाहकी एक बानी याद आ  
गयी है, जैसे—

'माँटी, खुदी करें दी यार ।

माँटी जोड़ा, माँटी घोड़ा, माँटी दा असवार ॥

माँटी, माँटी-भारन लागी, माँटी दे हथियार ।

जिस माँटी पर बहुला माँटी, तिस माँटी हंकार ॥

माँटी बाग, बगीचा माँटी, माँटी दी गुलजार ।  
 माँटी, माँटी-देखण आई, माँटी दी बहार ॥  
 हँस-खेले फिर माँटी हों दी, पौंदी पाँव-पसार ।  
 'बुल्लासाह' बुझावे बुझ्शी, लाह सिरों भौं-भार ॥'

अथवा—

'इक-दिन मानता वे राजा, एक-दिन माँटी में मिल जाना ।  
 माँटी उढ़ैना, माँटी-बिछौंना माँटी ही कफन बनाना ॥  
 माँटी भाई, माँटी माई, माँटी जगत-लुभाना ।  
 इक दिन सुदरता सग माँटी, माँटी पै बौराना ॥

—कोई कवि

## गोपी-वचन

( १४ )

करँम-धूरि—शुद्ध कर्म-धूलि, अर्थात् कर्म-काण्ड, यज्ञादि वगैरह ।  
 आँनि—लेकर । प्रेम-अमृत—प्रेमरूपी अमृत । उर—हृदय,  
 छाती, हिय, वक्षःस्थल-आदि ।

'उरो'—वत्सञ्च वक्षश्च ..... ।'

—अमरकोश २ । ६ । २९

जीव—शुद्ध जीव, अर्थात् प्राणी, प्राणधारी, चेतन, जानदार ।

.....“जीवो”ऽसुधारणम् ।”

—अमरकोश २।८।८८

विमुख—विमुख, अर्थात् पराङ्मुख, मुख फेर लेना, विरोधी हो  
 जाना । उदासीन, विरक्त, विरत, अतत्पर आदि ।

करम-धूरि, आँनि,\* प्रेम-अमृत, उर, जीब और विमुख शब्दोंके सुन्दर प्रयोग ।

“करम-धूरि” मिलि को सुख पायौ ।”

—लालदास

बिषकों “आँनि” कहा रस मेलति ।

—ललित माधुरी प्रा०

बीर, मुख “प्रेम-अमृत” सौ चूअत ।”

—जानकीदास

जिनि गुपाल किए बस अपने, “उर” धरि स्याम-भुजा ।”

—परमानंददास

“जीब” बृथाँ कत भटकत डोलै ।”

—ज्ञानदास

तू कत “बिमुख” होति प्यारे सों.....।”

—मुरारीदास

### उद्धव-वचन

१५

निंदौ—बुरा, दूषित, अयश, कुत्सा, गर्हा, अपवाद, दुर्नाम, निंदहुसे बना है—निंदौ ।

.....“कुत्सा “निंदा” च गर्हणे ।”

सदगति—अच्छी, सुन्दर गति, उत्तम गति, मरण-उपरान्त उत्तम लोककी प्राप्ति । बली—बलवान्, समर्थ, पराक्रमी । त्रिभुवन—

\* आँनि शब्दके दो अर्थ और होते हैं—और तथा आना । जैसे—

कहति “आँनि-की-आँनि ।” —हरिरायजी

“आँनि” हैं कालि, बहुर पिय-प्यारी ।”

—कृष्णदास

तीन-भुवन, अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल । उतपत्ति—शुद्ध उत्पत्ति, अर्थात् पैदा होना, जन्म लेना । नास—शुद्ध, नाश अर्थात् क्षय, ध्वंस, लय, अदर्शन, पलायमान, गायब होना आदि ।

अन्तो, “नाशो” द्वयोर्मृत्युर्मरणं निधनौ स्त्रियाम् ।”

—अमरकोश २।८।८५

सांख्यवाले कहते हैं कि कारणमें लय होना ही नाश है, क्योंकि जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता । कारणमें लय हो जानेसे सूक्ष्मताके कारण वस्तुका बोध नहीं होता, अस्तु जब कोई कार्य कारणमें इस प्रकार लीन हो जाता है कि वह फिर कार्यरूपमें न आ सके तब नाश वा आत्यन्तिक नाश कहलाता है । नैयायिक नाशको ध्वंसाभाव मानते हैं ।

मुक्ति—आवागमनसे पृथक्, पुनः जन्म न लेना, अथवा दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और परम-नित्य सुखकी प्राप्ति । कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, मोक्ष, अपवर्ग और परित्राण आदि ।

“मुक्तिः” कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसाऽमृतम् ।”

—अमरकोश १।५।१५

मुक्ति, “.....सालोक्यादिचतुष्टयम्” के अनुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य” चार प्रकारकी कही जाती है, पर श्रीमद्भागवत पाँच प्रकारकी “मुक्ति” का भी उल्लेख करता है । जैसे—

“सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत”;

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।

—श्रीमद्भागवत ३।२९।१३

अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व यानी सायुज्य”, लेकिन मुख्य चार ही हैं । सालोक्य-मुक्ति उसे कहते हैं—जब जीव अपने आराध्यदेवके साथ एक-लोकमें—एक जगह वास करे । सामीप्य-मुक्ति, जीवका भगवान्के समीप—पास पहुँचनेको कहते हैं और सारूप्य—मुक्ति उसे कहते हैं जब कि उपासक अपने उपास्यके रूप-जैसा हो जाय, अर्थात् समान रूप हो जाय—एकरूपता ग्रहण कर ले तथा सायुज्य-मुक्ति वह कि उपासक उपास्यमें मिल जाय, एकरूप हो जाय, अर्थात् वह वही हो जाय ।

मुक्तिके विषयमें पुराण और साम्प्रदायिक—आचार्योंमें बड़ा विभेद है, कोई चार प्रकारकी मुक्ति मानते हैं तो कोई पाँच प्रकारकी । श्रीमद्भागवतमें भी चार प्रकारकी और पाँच प्रकारकी मुक्तिका उल्लेख मिलता है, जैसा उद्धृत किया जा चुका है । “ब्रह्मवैवर्त” दो प्रकारकी ही मुक्तिका उल्लेख करता है । यथा—

“मुक्तिस्तु” द्विविधा” साध्वि ! श्रुत्युक्ता सर्वसम्मता ।

निर्वाणपददात्री च हरिभक्तिपदानृणाम् ॥”

—प्रकृति-खण्डे

नामोल्लेखमें भी मतभेद है । कोई तो सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व, अर्थात् सायुज्यको पाँच प्रकारकी मुक्ति मानते हैं और कोई “सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सायुज्य ( एकत्व ) और निर्वाण”—आदि पाँच प्रकारकी मुक्ति मानकर श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकका ही पाठ बदल देते हैं । जैसे—

“सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।”

पाठान्तर—

सार्ष्टिसारूप्यसालोक्यनिर्वाणैकत्वमप्युत ।

चार प्रकारकी मुक्ति माननेवालोंमें भी मतभेद है। कोई “सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य आदिको—

.....“सालोक्यादिचतुष्टयम् ।”

—श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६७

मुक्ति-चतुष्टय मानता है, तो कोई सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सायुज्यरूप मुक्ति-चतुष्टयको मानता है। इसी प्रकार मुक्तिकी व्युत्पत्तिमें भी मतभेद देखनेको मिलता है। वेदान्तिक कहते हैं—

“नित्यसुखावाप्तिः “मुक्तिः ।”

अर्थात् नित्य-सुखकी प्राप्ति ही मुक्ति है। नैयायिक कहते हैं—

आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः “मुक्तिः” ।”

अर्थात्—अत्यन्त दुःख-निवृत्ति ही मुक्ति है। भरत-मुनि कहते हैं—

शरीरेन्द्रियाभ्यात्मात्मनो मुक्तत्वं “मुक्तिः ।”

परब्रह्म-पुर-वास—परब्रह्मके पुर—नगर, गाँवका वास, अर्थात् रहना। स्थान, वास-स्थान—रहनेका स्थान।

परब्रह्म—जगत्से परे, अर्थात् निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म।

पुर—

पुरोधिकमुपचर्यऽग्राप्य अगरे नगरे “पुरम्” ।”

—अमरकोश ३ । ४ । १८५

निंदौ, सदगति, बली, त्रिभुवन, उतपत्ति, नास, मुक्ति, परब्रह्म,  
पुर और वासके सरस प्रयोग ।

“निंदौ” का सुरपति की पूजा ।

—परमानन्ददास

“सदगति” होति चरन-चित लाएँ ।

—गुपालदास

“बली” जु ऐसे होहु, जाइ मारौ किनि कंसहिं ।

—कुम्भनदास

“त्रिभुवन”—सोभा लूटि मनो राधिका बनाई ।

—ग्वालदास

लै “उतपत्ति” कौ कारन वही ।”

—सूरदास

“भक्ति-विपति कौ “नास” करन मैं तनक बार नहिं लावत ।”

—जानकीदास

“सबै बैकुण्ठ “मुक्ति” मोच्छ पाए ।” —नानक

“सो “परब्रह्म” प्रघट है ब्रज मैं लूटि-लूटि दधि खायौ है ।”

—परमानन्ददास

“अब कहौ कैसें या “पुर” बसिए ।” —श्यामदास

“महरि, हम छाँड्यौ हो यह “बास” ।”

—नागरीदास प्राचीन

कुछ ऐसी ही कर्मकी महत्ता, श्रुतियाँ भी प्रतिपादित करती  
हैं, यथा—

“कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतःसमाः ।”

—ईशोपनिषद् २

“तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ—

यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतुः ।”

—बृहदारण्यकोपनिषद् ३ । २ । १३

“योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥”

—कठोपनिषद् ५ । ७

श्रीमद्भगवद्गीता भी यही कहती है—

“नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।

कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥”

“कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।

इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥”

अथवा—

“नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।

शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥”

“यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।

तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥ ९ ॥”

—श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ५ से ९

और भी—

“स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।

स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥”

“यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥”

—श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ४५-४६

श्रीमद्भागवत कहती है—

“कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वातदर्पणम् ।”

—अध्याय ३ । १०

श्रीविष्णुपुराणमें कहते हैं—

“कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम् ।”

—प्रथम अंश ३२

श्रीगोखामी तुलसीदासजी कहते हैं—

“करम प्रधान बिस्व रचि राखा । को करि तर्क बदावहिं साखा ॥”

—रामचरितमानस

## गोपी-वचन

( १६ )

पाप—वह कर्म, जिसका लोक-परलोकमें अशुभ फल हो । वह आचरण, जिसके करनेसे अदृष्टमें अशुभता उत्पन्न करे । वह कर्म, जो कर्ताका अधःपात करे अथवा ऐसा कार्य जिसका परिणाम कर्ताको दुःखप्रद हो । व्यक्ति और समाजके लिये अहितकर आचरण । धर्म और नीति-शास्त्रोंसे निर्दित आचरण । अनाचार, गुनाह, निर्दित काम, अकल्याणकर कर्म, अधर्म, कलुष, कल्मष, अघ—आदि ।

“अस्त्रीपङ्कं पुमान्पाप्मा “पापं” किल्बिषकल्मषम् ।”

—अमरकोश १ । ५ । ६

श्रीव्यास-वचनानुसार “पाप” और “पुण्य” की एक व्याख्या और भी है । जैसे—

“धरोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम् ।”

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

“काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥”

पुनः—शुद्ध पुण्य, अर्थात् वह कर्म जिसका फल शुभ हो ।

पवित्र कार्य, शुभ-कार्य, धर्म और नीतिविहित कार्य—काम । भले

काम, शुभ-अदृष्ट, सुकृत-आदि ।

“स्याद्धर्ममस्त्रियां ‘पुण्य’ श्रेयसी सुकृतं वृषः ।”

—अमरकोश १ । ५ । २

सरग—शुद्ध स्वर्ग, अर्थात् देवताओंका लोक—निवासस्थान ।

अन्तरिक्ष ।

“स्वरव्ययं ‘स्वर्ग’ नाकत्रिदिवत्रिदशालयाः ।”

भोग—सुख और दुःखोंका अनुभव । इन्द्रियजन्य विषयोंको

भोगना । कर्मानुसार फलोंको पाना । दुःख-सुख सहना आदि ।

“भोगः” सुखे स्रज्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः ।”

—अमरकोश ३ । ४ । २४

अथवा—

“पालनेऽभ्यवहारे च निर्वेशे पण्ययोषिताम् ॥”

—विश्व-कोश

विषै-वासना—शुद्ध विषय-वासना, अर्थात् विषयोंकी वासना ।

विषय—इन्द्रियार्थ वस्तु, पदार्थ, भोग-विलासादिक ।

“रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च ‘विषया’\*—अमी ।”

—अमरकोश १ । ५ । १६

\* यहाँ “विषया” बहुवचनात्मक है । एक वचन “विषय” ही होना ।

बासना—इच्छा, कामना, वाञ्छा, चाह, प्रत्याशा । अथवा किसी पूर्व स्थितिके जमे हुए प्रभावसे उत्पन्न मानसिक दशाविशेष । भावना, संस्कार, स्मृत हेतु । न्यायानुसार देहात्मबुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार ।

रोग—व्याधि, पीड़ा, दुःख, शारीरिक अस्वस्थता । अथवा वह अवस्था जिससे शरीर भले प्रकार न चल सके और बढ़नेपर जीनेमें संदेह हो । बीमारी, मर्ज आदि ।

“.....“रोग”—व्याधिगदामयाः ”

पाप, पुन्न, सरग, भोग, बिषै-बासना और रोगादि शब्दोंके सरस प्रयोग ।

“पाप” करति ही जनम गँवायौ, भज्यौ न नेंकु जगदीस ।”

—रामदास

“उदयौ “पुन्न” कौ पुंज साँवरौ, सकळ सिद्धि दातार ।”

—चतुर्भुजदास

“मारथौ भूमि पलोटि स्याँम नें, ततछिन “सरग” गयौ ।”

—सूरदास

“करम-अकरम करि-करि या जगमैं, भोगत है नितै “भोग ।”

—जानकीदास

“बिषै”—सन अबहूँ मुख ना मोरत ।”

—जनत्रिलोक

“बासना” अबहूँ नाहिं बुझानी ।”

—गदाधरभट्ट

“आजु उर उपज्यौ हो, नयौ “रोग” ।”

—रसिकदास

“करँम पाप औ पुन्न, लोह-सोने की बेरी”, अर्थात् कर्म रूप पाप और पुण्य, लोहे व सोनेकी बेड़ियाँ हैं। अच्छे वा बुरे दोनों प्रकारके ही कर्म, जीवात्माको बाँधनेवाली लोह और स्वर्ण जैसी बेड़ियाँ है। अस्तु: उक्त बेड़ियोंसे, अथवा कर्मरूप बंधनोंसे, जीवात्मा तब ही मुक्त होता है जब कि वह कर्मकाण्डका परित्यागकर, परमात्माको सच्चे प्रेमसे आराधना करने लगे। कर्म-अकर्मकी चिन्ता न कर, सच्चे दिलसे उसके ध्यानमें लग जाय। क्योंकि कर्म, स्वर्ग-नर्क, भोग-रोगके साधन हैं, भगवत्प्राप्तिके नहीं। जैसा कि श्रुतियाँ कहती हैं, यथा—

“एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनोषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते।”

—कौशितक्योपनिषद् ३।९

“.....। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। अथ खल्वाहुः काममयम् एवायं पुरुष इति स यथा-कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।”

—बृहदारण्योपनिषद् ४।४।५

गीतामें यही कर्मकी व्यवस्था, श्रीभगवान् भी अर्जुनके प्रति करते हुए कहते हैं:—

“युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।

अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥”

—गीता ५।१२

“सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत  
 कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥”  
 “तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।  
 असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥”  
 “तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।  
 गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥”  
 “प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।  
 तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥”

—गीता ३ । २५, १९, २८, २९\*

“कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।  
 अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥”  
 “कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।  
 स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥”  
 “त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।  
 कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥”  
 “निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।  
 शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥”  
 “यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।  
 समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्धयते ॥”

—गीता ४ । १७, १८, २०, २१, २२

कुल ऐसी ही बात श्रीमद्भागवतमें राजा-निमित्के प्रति ‘अन्तरिक्ष-’  
 द्वारा भी कइलायी गयी है, जैसे—

\* हमने गीताकी इन उक्त सूक्तियोंको क्रम-विपर्ययके साथ उद्धृत  
 किया है । लेकिन लाला कन्नोमलकृत “गीतादर्शन” के अनुसार उक्त  
 सूक्तियोंका अर्थ-क्रम ठीक है ।

“कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत् ।  
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम् ॥  
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान् ।  
आभूतसमप्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः ॥

—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । ६, ७

“एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम् ।  
स तुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम् ॥”

—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । २०

“कर्माणि दुःखोदकाणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः ।  
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः ॥”  
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान् ।  
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ ॥

—श्रीमद्भागवत ११ । १० । २९, ३१

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

“सुभ अरु असुभ करम अनुहारी ।  
ईस देइ फल हृदै बिचारी ॥  
काहु न कोइ सुख दुखकर दाता ।  
निज कृत करम भोग सब भ्राता ॥

—रामचरितमानस, अयोध्या०

दादू-दयालजी कहते हैं—

“राहु-गिलै ज्यों चंद कों, गहन गिलै ज्यों सूर ।  
करम गिलै यों जीव कों, नख-सिख लागै पूर ॥  
करम-कुहाड़ा अग-बन, काटत बारंबार,  
अपने हाथों आपको काटत है संसार ॥”

जगजीवन साहब फर्माते हैं—

कोउ बिनु भजन तरिहैं नाँहि ।

करें आइ अचार केतौ, प्रात नित अन्हबाँहि ॥

दान-पुन्ननि करि तपस्या, बरत बहुत रहाँहि ।

त्यागि बस्ती, बैठि बन मँहँ, कंद-मूरहिं खाँहि ॥

पाठ करि, पढ़ि बहुत बिद्या, रैन-दिनहिं बकाँहि ।

गाइ बहुत बनाइ बाजा, मनहिं समुझति नाँहि ॥

करहिं स्वासा बंद कष्टित, भाँडकी गति आँहि ।

साधि पवन चढ़ाइ गगनहिं, कमल उलटें नाँहि ॥

साध नहिं केहु कीन्हि ऐसैं, सीखि बहुत कहाँहि ।

प्रीति-रस मन नाँहि उपजत, परे ते भव माँहि ॥

जस सँजोग-बियोग तैसैं तत अच्छर दुइ आँहि ।

रत अंतर भेंटि गुरु तें, मंत्र अजया माँहि ॥

कहौ प्रगट पुकारि जिहि के प्रीति अंतर आँहि ।

‘जगजीवनदास’ रीति अस तब चरन मँह मिलि जाँहि ॥”

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कहते हैं—

“अहो, इन झूठेन मोहि भुलायौ ।

कबहुँ जगत के कबहुँ सरग के, स्वाद न मुहिं ललचायौ ॥

भलैं होइ किन लोह-हँमे की पुन्न-पाप दोउ बेरी ।

लोभ मूल परमारथ-स्वारथ, नामहिं में कछु फेरी ॥

इनमें भूलि कृपा-निधि तुमरौ चरन कमल बिसरायौ ।

तेहि सों भटकति फिरयौ जगत में, नाँहक जनम गँवायौ ॥

हाइ-हाइ करि मोहि छाँड़िकें कबहुँ न धीरज धारयौ ।

या जग जगती जोर अगिनि में आयुस-दिन सब जार्यौ ॥

करौ कृपा करुना-निधि केसब, जग के जाल-छुड़ाई ।

दीन-हीन “हरिचंद्र” दास कों बेगि लेहु अपनाई ॥

‘उद्धव’-वचन

( १७ )

पदमासन—पद्म—कमल-समान आसन । योगका आसन-विशेष जिसमें पालथी मारकर बैठा जाता है । अथवा—बाँई जाँघपर दाहिना पैर और दाँहिनी जाँघपर बाँयाँ पैर रखकर बाँये पैरका अँगूठा बाँये हाथसे और दाहिने पैरका अँगूठा दाहिने हाथसे पकड़कर नेत्र-द्वयको नाककी नोकपर रखनेसे—देखनेसे ‘पद्मासन’ होता है । कोई-कोई इसे ‘बद्ध-पद्मासन’ भी कहते हैं ।

योगके चौरासी आसन कहे जाते हैं, जैसे—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वीरासन, अर्द्धासन, बद्ध-पद्मासन, सिद्धासन, महामुद्रा पश्चिमोत्तानासन, मृतासन, गरुडासन, कमलासन, मयूरासन—आदि । पर अष्टाङ्गयोगमें मुख्यतया—‘पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन, वीरासन आदि पाँच प्रकारके आसनोंका ही उल्लेख मिलता है ।

इंद्री—वा इन्द्रिय, अर्थात् वे अवयव जिनके द्वारा विषयोंका ज्ञान हो । वह शक्तियाँ जिनसे बाहरी-विषयोंका बोध हो, अथवा भिन्न-भिन्न गुणोंके भिन्न-भिन्न रूपोंका अनुभव हो ।

“हृषीकं विषयीन्द्रियम् ।”

—अमरकोश १ । ५ । १०

सांख्यवालोंने कर्म करनेवाले अवयवोंको भी इन्द्रिय मानकर ‘इन्द्रियों’के दो विभाग—‘ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय’से किये हैं । ज्ञानेन्द्रिय—जिनसे केवल विषयोंके गुणोंका अनुभव हो, उन्हें कहते

हैं। जैसे—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वचा। कर्मेन्द्रिय उन्हें कहते हैं—जिनके द्वारा विविध कर्म किये जायँ और उनके नाम ये हैं—त्राणी, हाथ, गुदा, पैर और उपस्थ। वेदान्तवाले इनके अतिरिक्त एक उभयात्मक अन्तरेन्द्रिय—मनको, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तरूप चार विभाग कर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियमें जोड़ चौदह प्रकारकी मानते हैं।

“कर्मेन्द्रियं तु पायवादि मनोनेत्रादिधीन्द्रियम्।”

ब्रह्म-अग्नि—शुद्ध ब्रह्म-अग्नि, अर्थात् ब्रह्मरूप अग्निमें जलकर।  
ब्रह्म-अग्निमें कर्मोंको जलाकर।

श्रीनन्ददासजीने इस छन्दमें कर्मोंका हनन करनेके लिये—  
उनको त्यागनेके लिये ही अधिकरण बतलानेको ब्रह्मको अग्नि कहा है  
क्योंकि ब्रह्म-ज्ञानी, कर्मोंका ब्रह्ममें ही अधिकरण करनेसे तुष्टि लाभ  
करते हैं। जैसा श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं, यथा—

“ब्रह्माग्नौ सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।”

—तैत्तिरीयोपनिषद्

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

“ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।  
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना ॥”

अथवा—

“ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।”

( गीता ४। २४-२५ )

समाधि—ध्यान-योगकी क्रियाविशेष। सबसे पहिले समाधिके मुख्यतया दो—सातिशय और निरतिशय भेद होते हैं। सातिशय-

समाधिमें ध्याता और ध्येयका बोध होता है और निरतिशय-समाधिमें वेदान्तियोंका अन्तिम अनुभव ही वर्तमान रह जाता है ।

कहते हैं योगका चरम फल....समाधि है और यह आठ अंग—यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान-धारणा आदिमें मुख्यरूपसे अन्तिम अंग माना जाता है । समाधि-अवस्थामें साधक सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है, चित्तकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और बाह्य-जगत्से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उसे अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और अन्तमें 'कैवल्य' भी । योगदर्शनमें 'समाधि' के कई भेद बतलाये हैं ।

लीन—मिलना, समा जाना, डूबना, तन्मय, तत्पर—आदि ।  
साजुज्ज—शुद्ध सायुज्य अर्थात् एक प्रकारकी मुक्ति । जिसमें साधक वा भक्त साध्यमें—'ईश्वरमें मिल जाता है, एकत्वको प्राप्त हो जाता है, अभेदत्वको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वह वही हो जाता है ।

पदमाँसन, इंद्री, ब्रह्म-अगिन, समाधि, लीन और साजुज्जादि शब्दोंके सरस प्रयोग ।

“ना हम “पदमाँसन” कों मारें, जोग-जुगत ना सार्धे ।”

—रामदास

“इंद्री” अबहुँ न बिषै तजत ।” —उद्धवदास

“ब्रह्म-अगिन” जरि मुक्ती पावौ ।”

—गुपालदास

“सिद्ध-समाधि” स्वंत नहिँ दरसी, मोंहनी मूरत प्यारी ।”

—रामदास

मन अब ऐसौ “लीन” भयौ । —मुरारीदास

“साजुज्ज-मुक्ती” कहौं बखान ।

वेद-पुरान सबै परमान ॥” —हरलाल

गीतामें भगवान् भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

“योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।  
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥”  
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।  
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ॥

—गीता २ । ४८ । ५०

क्योंकि—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।  
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ॥  
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।  
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि ॥

—गीता ३ । ९, २०

श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है—

“नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः ।  
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः ॥  
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे ।  
नैष्कर्म्या लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥

( एकादश ३ । ४५-४६ )

श्रीसूर कहते हैं—

गोपीं पदमाँसन चित लावौ ।  
नेनि-मूँदि अंतर-गति ध्यावौ ॥  
हृदै-कँमल मम जोति प्रकासी ।  
सो अच्युत अवगति अबनासी ॥  
इहि उपाइ बिरहा-तन मेंटौ ।  
“सूर” जोग जगदीसहिँ भेंटौ ॥

गोपी-वचन

१८

भक्त—सेवा करनेवाला, भजन करनेवाला, भक्ति करनेवाला ।  
सेवक, तत्पर, अनुगत, उपासक । गीतानुसार भक्त, आर्त, जिज्ञासु,  
अर्थार्थी, ज्ञानी आदि\* । श्रीमद्भागवत-अनुसार भक्त नवधा-  
भक्ति:—

“श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।  
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥”

—के करनेसे नौ प्रकारका होता है । इसी तरह श्रीवल्लभाचार्यने  
भक्तोंको अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा नामसे प्रथम दो भेदकर पुनः  
उसके सात्त्विक, राजस और तामसादि अठारह भेद मान और एक निर्गुण  
मिला, अठारह—नहीं उन्नीस भेद माने हैं । यथा:—

“राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा ।  
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः ॥  
तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम् ।  
गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा ॥  
कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः ।

\* सकाम-भक्तोंके आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार भेद होते  
हैं, जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है । अस्तु, जो अपनेपर आये हुए  
संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये अथवा विपरीत संयोगसे छूटनेके निमित्त जो  
भक्ति की जाती है वह आर्त-भक्त कहलाता है । जिज्ञासु-भक्त ईश्वरके प्रति  
प्रारम्भिक प्रेम न होनेपर भी उनके गुण और कार्य जाननेकी आतुरता  
दिखलाता है और जो किसी निश्चितकी इच्छासे ईशकी प्रार्थना करता है  
वह अर्थार्थी-भक्त कहलाता है ।

अनन्यपूर्वाका एव पुनस्तिस्त्रो मुदा जगुः ॥  
 सात्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।  
 सपूर्वश्च ततस्तिस्त्रः तामसी राजसी परा ॥  
 पुनस्ता एव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः ।  
 राजसी तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः ॥  
 अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।  
 तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशति ॥”

—सुबोधिनी टीका

श्रीमद्भागवतमें भक्तके उत्तम, मध्यम और अधम रूप तीन भेद और मिलते हैं तथा उनके लक्षण इस प्रकार हैं:—

उत्तम—

“सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।  
 भूतानि भगवत्यात्मन्नेष भागवतोत्तमः ॥”

अथवा—

“गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।  
 विष्णोर्मायामिदं पश्यन्स वै भागवतोत्तमः ॥”

अथवा—

“न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः ।  
 वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥”

अथवा—

“देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो  
 जन्माप्ययश्चुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।  
 संसारधर्मैरविमुह्यमानः  
 स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥”

मध्यम—

“ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।  
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥”

अधम—

“अर्चयामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।  
नतद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥”

—एकादश २ । ४६, ४७

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अर्जुन-प्रति भगवान् उत्तम भक्तकी व्याख्या करते हुए कहते हैं:—

“अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।  
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥  
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।  
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥  
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।  
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥  
अनपेक्षः शुचिर्दक्षः उदासीनो गतव्यथः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥  
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।  
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥  
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।  
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥  
तुल्यनिन्दास्तुतिमौनी संतुष्टो येन केनचित् ।  
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥  
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।  
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

—गीता १२ वाँ अध्याय १३-२०

—और आप भक्तोंके लक्षण इस प्रकार कहते हुए—उनकी यों प्रशंसा करते हैं:—

“कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।  
 सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥  
 कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।  
 अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥  
 अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।  
 अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥  
 आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।  
 धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥  
 ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।  
 भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥

श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९, ३०, ३१, ३२, ३३

अथवा—

“वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं  
 रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।  
 विलज्ज उद्गायति नृत्यते च  
 मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥

—श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २४

अब जरा भक्तोंपर ब्रज-भाषा कवि-कोविदोंकी सरस-सूक्तियाँ भी देख लीजिये । यथा—

“ऊधौ, ऐसौ “भक्त” मोहि भावै ।

सब तजि आस, निरंतर मेरे जनम, करम-गुन गावै ॥

कथनी कथै निरंतर मेरी, सेवा मैं चित लावै ।

मृदुल-हास, अखियन-जल-धारा, करतल-ताल बजावै ॥

जहँ-जहँ भगत चरन निज राखै, तहँ तीरथ चलि आवै ।  
 तहँ की रज कों अंग लगावत, कोटि-ब्रह्म-सुख पावै ॥  
 मेरौ रूप हृदे में तिनके, मेरे हू उर आवै ।  
 बलि-बलि जाउँ श्रीमुखकी बानी, “सूरदास” जस गावै ॥

—सूरसागर

प्रथम सुनें भागवत, भक्त-मुख भगवत-बाँनी ।  
 दुतीय अराधै भक्ति, व्यास नौ-भाँति बखानी ॥  
 तृतीय करै गुरु समझि, दच्छ, सरबग्य, रसीले ।  
 चौथे होइ बिरक्त, बनें बनराज जसीले ॥  
 पाँचें भूलै देह निज, छठें-भावना रास की ।  
 सातें पावै रीति-रस, “श्रीस्वामी हरिदास” की ॥

—सिद्धान्तपद-मुक्तावली

श्रीव्यासजी कहते हैं—

जो सुख होत भगत-घर आएँ ।  
 सो सुख होत नाहिं बहु-संपति, बाँझहिं बेटा-जाएँ ॥  
 जो सुख होत भक्त-चरनोदक, पीबत, गात-लगाएँ ।  
 सो सुख सपनेहूँ नहिं पैयत, कोटँन तीरथ न्हाएँ ॥  
 जो सुख भक्तँन कौ मुख देखत, उपजति दुख बिसराएँ ।  
 सो सुख होत न काँमिहिं कबहूँ, काँमिनि उर लपटाएँ ॥  
 जो सुख कबहूँ न पैयतु पितु-वर, सुत कौ पूत खिलाएँ ।  
 सो सुख होत भक्त-बचननि सुनि, नैननि तीर-बहाएँ ॥  
 जो सुख मिलत रहत साधुँन सों, छिन-छिन रंग बढ़ाएँ ।  
 सो सुख होत न नेकु “व्यास” कों, लंक, सुमेरहुँ पाएँ ॥

नाग—सर्प, साँप, अहि, पन्नग, उरग—आदि ।

“.....” “नागाः” काद्रवेयस्तदीश्वराः ।”

बाँबी—साँपके रहनेका स्थान, बिल, छिद्र ।

भक्त, नाग और बाँबी-शब्दके सरस प्रयोग ।

“हँम भक्तन के “भक्त” हमारे ।”

—सूरदास

“नाग” नाथ प्रभु बाहर ल्याए, फँन-फँन निरत करे ।”

—मीराबाई

मानों निकसि खोंन-“बाँबी” तें नागिन करति किलोल ॥

—गंगाबाई

श्रीनन्ददासजीकी उक्त सरस-सूक्तिके साथ-साथ श्रीसूरकी भी इसी भावपर सुन्दर रचना देखने लायक है । जैसे—

अपने सगुन-गुपालै माई, इहि बिधि काहे देति ।

ऊधौ की इन मीठी-बातँन, निरगुन कैसें लेति ॥

धरम, अरथ, काँमना सुनावत, सब सुख मुक्ति समेति ।

काकी भूँख गई मन-लडुवँन, सो देखौ चित-चेति ॥

जाकों मोच्छ बिचारत, बरनत, निगम कहत हैं नेति ।

“सूर” स्याँम-तजि को भुस-फटिकै, मधुप तिहारे हेति ॥

जोगी होइ सो जोग-बखॉनँ । नौधा-भक्ति, दास-रति माँनँ ॥

भजनानंद अली हम प्यारौ । ब्रह्मानंद-सुख कौन बिचारौ ॥

बतिथॉ रचि-पचि कहत सयॉनी । अँखियाँ हरि के रूप-लुभाँनी ॥

ब्यावरि-बिथा न बँझा जाँनँ । बिन-देखँ कैसें रति माँनँ ॥

पुनि-पुनि, पुनि त्रौही सुधि आवै । कृष्ण-रूप विनु और न भावै ॥

नव-क्रिसोर जिहिँ नेन-निहारथौ । कोटि-जोग वा छवि पै बारथौ ॥

सीस, मुकट, कुंडल, बनमाला । क्यों बिसरें वे नेन-बिसाला ॥

मृगमद मलय अलक घुँघरारे । उन माँहन मन हरे हमारे ॥

भृकुटी कुटिल, नासिका राजै । अधर-अरुन मुरली कल-बाजै ॥

दाढ़िम-दसँन दाँमिनि-दुति सोहै । मृदु-मुसिकाँन सु तन-मन-मोहै ॥  
 चंद-झलक कंठा मनि-मोती । दूरि करत उडु-गन की जोती ॥  
 कंकन, किंकिनि, पदक बिराजै । गज-गति-चाल नूपुर-बल-बाजै ॥  
 बन के धातु चित्र तन किएँ । श्रीबछ-चिन्ह, राजत अति हिएँ ॥  
 पीत-बसन-छबि बरनि न जाई । नख-सिख सुंदर कुवँर-कन्हाई ॥  
 रूप-रासि ग्वालन के संगी । कब देखें वह ललित-त्रिभंगी ॥  
 जो तू हित की बात बतावै । मदन-गुपालहिँ क्योँ नमिलावै ॥

अथवा—

“नाहिँन रही मनमैं ठौर ।

नंद-नंदन अछत कैसेँ, आँनिएँ उर और ॥  
 चलत, चितबत, दिबस जागत, सुपन सोबत रात ।  
 हृदे तें वह स्याँम-मूरति, छिन न इत-उत जात ॥  
 स्याँम-गात, सरोज आँनन, ललित-गति मृदु-हास ।  
 “सूर” ऐसे रूप कारँन, मरत लोचन प्यास ॥”

दादूदयालजी कहते हैं—

“दादू” राता राम का, पीवै प्रेम बलाइ ।  
 मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाइ ॥  
 “दादू” पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ ।  
 बेद-पुराँन-पुस्तक पढ़ें, प्रेम बिना का होइ ॥  
 प्रीति जो है मो पीव की, पैठी पिंजर माँहिँ ।  
 रोंम-रोँम पिव-पिव करै, “दादू” दूसर नाँहिँ ॥”

सहजोबाई कहती हैं—

“जोगी पावै जोग सूँ, ग्याँनी लहै बिचार ।  
 “सहजो” पावै भक्ति सूँ, जोग-प्रेम आधार ॥”

भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

“कहौ, अद्वैत कहाँ तें आयौ ।

हमें छाँड़ि दूजौ है को जिहिं, सब-थल पिया लखायौ ॥

बिन वैसौ चित पाएँ झूठौ, यह क्यों जाल बनायौ ।

“हरीचंद्र” बिन परम-प्रेम के, यह अभेद नहिं पायौ ॥”

—जैनकुतूहल

रसरूपजी भी कुछ ऐसा ही प्रकारान्तरसे कहते हैं—

कॉमधेनु ऐन में अघानी रहै रैन-दिन,

आँधरे-अधम आक-दूध कों सिधारे हैं ।

पावन-तरंग आगें गंग कौ बिलोकि अंग-

आदती अपथ पाती पंथ में पवारे हैं ॥

भनें “रसरूप” सुचि सुंदर सरूप सेवा-

सगुन बिहाइ कें अगुन अनुसारे हैं ।

मौंती के सरोबर सराहि लेति सीप सुधा-

सागर समीप वे खनत कूप-खारे हैं ॥”

रत्नाकरजी कहते हैं—

जोगिनि की, भोगिनि की, बिकल-बियोगिनि की,

जग में न जागती जमातें रहि जाइँगी ।

कहै “रतनाकर” न सुख के रहे जौ दिन-

तौ ए दुख-दंदकी न रातें रहि जाइँगी ।

प्रेम-नेम छाँड़ि ग्यान-छेम जो बनावत सो-

भीति ही नहीं तौ कहा छातें रहि जाइँगी ।

घातें रहि जाइँगी न कान्हकी कृपा तें इती-

ऊधौ, कहिबे कों बस बातें रहि जाइँगी ।”

उद्धव-वचन

१९

हरि—भगवान्का नाम विशेष ।

“सहेतुकं संसारं हरतीति हरिः ।”

अर्थात्—अविद्यारूप कारणके सहित संसारको हरे, इसलिये हरि हैं ।

भगवान्के हरि नामपर कविवर “रहीम”की एक सरस-सूक्ति याद आ गयी है । जैसे—

“हरि” “रहीम” ऐसी करी, ज्यों कॅमान-सर-पूरि ।

खेंचि आपनी ओर कों, डारि देति पुनि दूरि ॥”

रसनिधिजी कहते हैं—

“भव-बाधा हरि लेति हैं, कहति नाम-अभिराम ।

“रसनिधि” यातें अरथ सह, नाम परथौ “हरि” स्याम ॥”

वेद—शुद्ध वेद, अर्थात् भारतीय आर्योंका सर्वप्रधान और सर्वमान्य धार्मिक ग्रन्थ जिसकी संख्या—ऋग्, यजु, साम और अथर्व-आदि चार है ।

“श्रुतिः स्त्री “वेद”-आम्नायस्त्रयी धर्मास्तु तद्विधिः ।

—अमरकोश १ । ६ । ३

कहते हैं वेद ब्रह्माके चारों मुखसे निकले हैं । आरम्भमें तो वेद तीन ही थे—ऋक्, यजु और साम । जैसे—

“स्त्रियां—“ऋक् साम यजुषी” इति वेदास्त्रयस्त्रयी ।”

अतः अथर्व बादमें बना। इन चारों वेदोंको प्राचीन साहित्यकारोंके साथ मनुने भी “वेदत्रयी” नामसे उल्लेख किया है। ऋग्वेद पद्यमें है, यजुर्वेद गद्यमें तथा ‘साम” गानेयोग्य गीतोंमें—पद्योंमें हैं। अथर्ववेद जो कि पीछेसे बना इसमें शान्ति तथा पौष्टिक-अभिचार, प्रायश्चित्त-विधियाँ, तन्त्र-मन्त्र आदि विषय हैं। वेद—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक वा उपनिषद् रूप तीन भागोंमें विभक्त है। संहिता अर्थात् संग्रह। वेदके संहिता-विभागमें स्तोत्र, प्रार्थना, मन्त्र-प्रयोग, आशीर्वादात्मक सूक्तियाँ यज्ञविधिसे सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रादि और अरिष्ट-निवारणात्मक प्रार्थनाएँ सम्मिलित हैं। वेदोंका यही विभाग “मन्त्र-भाग” कहलाता है। वेदका ब्राह्मण-विभाग गद्य-ग्रन्थात्मक है, जिसमें अनेक देवताओंकी कथाएँ, यज्ञ-सम्बन्धी विचार और भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें होनेवाले धार्मिक कृत्योंके व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वका निरूपण है। वनोंमें रहनेवाले यति और संन्यासी आदि परमेश्वर, जगत् और मनुष्य इन तीनोंके सम्बन्धमें जो-जो विचार-विनिमय किया करते थे, वह सब उपनिषदों और आरण्यकोंमें संगृहीत है। इन्हींमें भारतका प्राचीनतम तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है। यह विभाग वेदोंका अन्तिम भाग है, इसलिये ही यह वेदान्त कहलाता है। वेदोंका प्रचार बहुत कालसे है, अतः काल-भेद, देश-भेद और व्यक्ति-भेदोंके कारण वेद-मन्त्रोंके उच्चारणमें अनेक पाठ-भेद हो गये हैं। साथ ही पाठोंमें कहीं-कहीं कुछ न्यूनता और अधिकता भी हो गयी है। इन पाठ-भेदोंके कारण “संहिताओं” को जो रूप प्राप्त हुआ है वह ‘शाखा’ कहलाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक वेदकी कई शाखाएँ

हो गयी हैं । चारों वेदोंसे चार विद्याएँ निकली हुई कहते हैं, अतएव जिन ग्रन्थोंमें उक्त विद्याओंका वर्णन हो वे उपवेद कहलाते हैं । प्रत्येक वेदका एक-एक स्वतन्त्र उपवेद है । इसके अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ये छः वेदोंके अङ्ग कहे जाते हैं । जैसे—

“शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गणः ।

छंदो विचित्तिरित्येषः षडंगो वेद उच्यते ॥”

—कल्पसूत्र

वेदोंका स्थान संसारके प्राचीन-से-प्राचीन इतिहासोंमें बहुत उच्च है । इन वेदोंमें हम भारतीयोंकी आरम्भिक आध्यात्मिकता, सामाजिकता और नैतिक-सभ्यताका बड़ा सुन्दर दिग्दर्शन है । वेदोंको भारतीय जनता अपौरुषेय, अर्थात् ईश्वर-कृत मानते हैं और जैसा कि अभी लिखा जा चुका है—ब्रह्माने वेद चारों-मुखसे कहे । अतः जिन-जिन ऋषियोंने जो-जो मन्त्र सुनकर संगृहीत किये वे उनके ऋषि ( द्रष्टा ) कहलाये जाते हैं । प्रायः सभी साम्प्रदायिक आचार्य-वर्गोंने वेदोंको परम प्रामाण्य माना है । स्मृति और पुराण आदिमें वेद, देवतादिके मार्गदर्शक नित्य अपौरुषेय और अप्रमेय कहा है । ब्राह्मणों और उपनिषदादिमें कहा गया है कि वेद सृष्टिसे भी पहिले उत्पन्न हुए और उनका निर्माण प्रजापतिने किया । पर वेदोंका वर्तमानरूपसे संप्रह-विभाग और संकलन महर्षि व्यासजीने ही किया है, इसलिये आप ‘वेद-व्यास’ कहलाते हैं । विष्णु और वायु-पुराणमें कहा है—स्वयं विष्णु भगवान्ने ही वेद-व्यासजीका रूप धारणकर

वेदके उक्त चार विभाग क्रिये और क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनी और सुमंत आदि चार ऋषियोंको दिये । जैसे—

“वेदद्रुमस्य मैत्रेय शाखाभेदास्सहस्रशः ।  
न शक्तो विस्तराद्वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम् ॥”  
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने ।  
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः ॥  
वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामत्रेक्ष्य च ।  
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान्करोति सः ॥  
ययासौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः ।  
वेदव्यासाभिधाना तु सा च मूर्तिर्मधुद्विषः ॥”

—विष्णुपुराण ३ अंश ३ । ४, ५, ६, ७

वेदांतवादी वेदोंको ब्रह्मसे उत्पन्न मानते हैं । जैमिनि और कपिल वेदोंको स्वतः सिद्ध कहते हैं । वेदोंके रचना-काल-विषयमें आधुनिक विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है । मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि वेदोंकी रचना ईशासे प्रायः हजार वा डेढ़ हजार वर्ष पहिले हुई थी । उस समय ही आर्यजाति पंजाबमें आकर बसी थी, परंतु लोकमान्य बाल गंगाधर तिलकने ज्योतिष-शास्त्रके साथ अन्य कितने ही आधारोंसे यह प्रमाणित किया है कि वेद, ईशासे साढ़े चार हजार वर्ष पहिले स्थिर थे । बुहलर आदि विद्वानोंका अभिमत है कि आर्य-सभ्यता ईशासे प्रायः चार हजार वर्षसे भी पहिले थी और वैदिक साहित्यकी रचना ईशासे लगभग तीन हजार वर्ष पहिले हुई । अधिकांश विद्वान् यही अभिमत; स्वीकार करते हैं, आदि-आदि ।

नेति—जिसकी इति न हो, आदि हो, पर अंत न हो, अंतरहित, अनंत, बेहद ।

नेति—शब्द उपनिषदोंमें ब्रह्म वा ईश्वरकी अनन्तता सूचित करनेके लिये आता है ।

आत्मा—शुद्ध आत्मा, अर्थात् ब्रह्म, जीव, चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, देह, स्वभाव, यत्न और धृति आदि ।

“आत्मा” यत्नोधृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्म च ।”

—अमरकोश ३ । ४ । ११२

अथवा—

“आत्मा” कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि ।

चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्त्तनेऽपि च ॥”

—धरणि

अथवा—

“प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद्व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः ।

प्रथतेयः स “आत्मेति” प्राहुरात्मविदो बुधः ॥”

आत्मा—शब्दका प्रयोग प्रायः ब्रह्म और जीवके अर्थमें प्रयुक्त होता है, जैसा कि यहाँ अर्थ है । इसका यौगिक अर्थ ‘व्याप्त’ है । जिस प्रकार ब्रह्म संसारके प्रत्येक अणु और अवकाशमें व्याप्त है, उसी प्रकार जीव भी प्रत्येक प्राणीके अंग-अंगमें ‘व्याप्त’ है । इसलिये ‘आत्मा’ शब्दका व्यवहार प्राचीन शास्त्रकारोंने दोनोंके लिये किया है । साधारणतः जीव, ब्रह्म और प्रकृति इन तीनोंके लिये, अथवा अनिर्वचनीय पदार्थोंके लिये इस शब्दका व्यवहार करते आये हैं, परंतु

मुख्यतया इसका प्रयोग जीवके संबंधमें विशेष और ब्रह्म तथा प्रकृतिके अर्थमें गौणरूपसे किया गया है । संसारमें प्रायः दो भेद देखनेमें आते हैं—एक आत्मवादी और दूसरे अनात्मवादी । प्रकृतिसे पृथक् आत्माको पदार्थ-विशेष माननेवाले आत्मवादी और प्रकृति-विकार-विशेषको ही आत्मा माननेवाले अनात्मवादी कहलाते हैं । उनके मतमें आत्मा कोई पदार्थ नहीं, अपितु प्रकृतिका विकारमात्र है । अनात्मवादी यूरोपमें विशेष हैं । उनका कहना है—आत्मा, प्रकृति-के भिन्न-भिन्न वैकारिक अंशोंके संयोगसे समुत्पन्न एक शक्ति विशेष है, जो कि प्राणियोंमें गर्भावस्थासे ही उत्पन्न होकर मरणपर्यन्त रहती है और बादको जिन तत्त्वोंके विश्लेषणसे यह उत्पन्न हुई थी उन्हींमें मिश्रकर नष्ट हो जाती है । बहुत दिन हुए भारतवर्षमें यही बात प्रसिद्ध विद्वान् 'बृहस्पति' ने कही थी जो कि 'चार्वाक्' नामसे प्रख्यात था । चार्वाक्का कथन है—

“तच्चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात् ।”

अर्थात्—देहके अतिरिक्त अन्यत्र आत्माके होनेका कोई प्रमाण नहीं है, अतः चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है । इस मुख्य-मतके बाद कई और भेद उत्पन्न हो गये और क्रमशः शरीरकी स्थिति तथा ज्ञानकी प्राप्तिमें कारणभूत इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारको आत्मा मानने लगे । कोई इसे विज्ञानमात्र, अर्थात् क्षणिक मानने लगा, तो कोई कुछ और ही । वैशेषिक-दर्शन आत्माको एक द्रव्य मानकर लिखता है कि प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन, गति-

इन्द्रिय, अंतर्विकार जैसे—भूख-प्यास, ज्वर-पीड़ादि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्नादि आत्माके लिंग हैं, अर्थात् जहाँ प्राणादि लिंग वा चिह्न दीख पड़ें, वहाँ आत्मा रहती है; लेकिन न्यायकार गौतममुनिने—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञानादि ही को आत्माका चिह्न माना है । जैसे—

“इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम् ।”

—न्यायसूत्र १ । १०

सांख्य-शास्त्रानुसार आत्मा—अकर्ता, साक्षीभूत, असंग और प्रकृतिसे परे ( भिन्न ) अतीन्द्रिय पदार्थ माना जाता है । योगशास्त्रानुसार आत्मा—वह अतीन्द्रिय-पदार्थ है जिसमें क्लेश, कर्मविपाक और आशय हो । सांख्य और योग ये दोनों ही आत्माके स्थानपर पुरुष शब्दका प्रयोग करते हैं । मीमांसकोंके अनुसार आत्मा कर्मोंका कर्ता और फलोंका भोक्ता स्वतंत्र अतीन्द्रिय-पदार्थ है । पर मीमांसकोंमें प्रभाकर, कुमारिल्ल-भट्ट आत्माको अज्ञानोपहत-चैतन्य मानते हैं । वेदान्तानुसार आत्मा—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव ब्रह्मका अंशविशेष है । बौद्ध-मतसे आत्मा, अनिर्वचनीय पदार्थ जिसका आदि और अंत-अवस्था न हो माना जाता है । पर उत्तरीय बौद्ध आत्माको एक शून्य पदार्थ मानते हैं । जैनी आत्माको कर्मोंका कर्ता, फलोंका भोक्ता और अपने कर्मोंसे मोक्ष और बंधनको प्राप्त होनेवाला एक अरूपी-पदार्थ मानते हैं ।

उपनिषद्—वेदकी शाखा और ब्राह्मणोंका वह अंतिम भाग जिसमें ब्रह्मविद्या, अर्थात् आत्मा और परमात्माका सम्यक् निरूपण

हो । वेदांत-शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान, वेदका शिरोभाग, वेद-रहस्य, ब्रह्म-विद्या आदि ।

“धर्मे रहस्यु‘पनिषद्’.....।”

( अमरकोश ३ । ४ । ६५ )

“अत्र चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः ।

तच्छब्दावयवार्थस्य विद्यायामेव संभवान् ॥”

अथवा—

“उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचिसमाप्यते ।  
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रांतेः स्वात्मनीक्षणात् ॥”

“त्रिविधस्य सदर्थस्य निःशब्दोऽपि विशेषणम् ।  
उपनीयतमात्मानं ब्रह्मायास्तिद्भयं यतः ॥”

“निहन्त्यविद्यां तज्जंचवतस्मादुपनिषद् भवेत् ।  
निहत्यानर्थं मूलं स्वा विद्यां प्रत्यक्तयापरम् ॥”

“गमयत्यस्तसम्भेदं मतो वोपनिषद् भवेत् ।  
प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥”

“यतोवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत् ।  
यथोक्तविद्या हेतुत्वांग्रंथोऽपितदभेदतः ॥”

—शब्दार्थ-चिंतामणिः

वैसे तो—उपनिषदोंकी संख्या अठारह ही मानी जाती है, पर कोई-कोई अठारहके अतिरिक्त चौतीस, बावन, एक सौ आठ तथा एक हजारसे भी अधिक मानते हैं ।

“तत्राशीतिसहितशताधिकसहस्रसंख्याका उपनिषदश्चतुर्णां वेदानाम् ।”

पर प्रधानतः दस ही है और उनके नाम ये हैं—ईश वा वाजसनेय, केन वा तत्रल्कार, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य और बृहदारण्यक । इनसे अतिरिक्त उपनिषद् कौषीतकी, मैत्रायणी और श्वेताश्वतर—उपनिषदोंको आर्षप्रणीत मानते हैं तथा एक सौ छः उपनिषद् छपे हुए भी मिलते हैं ।

पुरान—शुद्ध पुराण, अर्थात् प्राचीन आख्यान, पुरानी कथा । भारतीय आर्य जातिके धर्म-सम्बन्धी आख्यान-ग्रंथ, जिनमें सृष्टि, लय, प्राचीन ऋषि-मुनियों और राजाओंके इतिवृत्त होते हैं । अथवा सृष्टि, मनुष्य-देव-दानव, राजा और महात्माओंके वृत्तांत जो परंपरागत चले आते हों । कहते हैं जिसमें यह पाँच लक्षण हों वह पुराण, जैसे—

“सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।

वशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥”

पुराण—अठारह हैं, जैसे—विष्णु<sup>१</sup>, पद्म, ब्रह्म, शिव, भौगवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, ऋग, वाराह<sup>२</sup>, स्कन्द<sup>३</sup>, वामन<sup>४</sup>, कूर्म<sup>५</sup>, मत्स्य<sup>६</sup>, गरुड<sup>७</sup>, ब्रह्माण्ड<sup>८</sup> और भविष्य<sup>९</sup>, जैसे:—

“ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवश्च शैवं भागवतं तथा ।

तथान्यं नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ॥

आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यन्नवमं स्मृतम् ।

दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैंगमेकादशं स्मृतम् ॥

वाराहं द्वादशं चैव स्कन्दं चात्र त्रयोदशम् ॥

चातुर्दशं वामनं च कौर्मं पंचदशं तथा ॥

मत्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ।

महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने ॥”

पर कहीं-कहीं इन नामोंमें मतभेद भी है । कोई श्रीमद्भागवत-को महापुराण मानकर उसके बाद वायु-पुराणको मानता है, तो कोई लिंग-पुराणके स्थानपर नृसिंह-पुराणकी सृष्टि करता है ।

हरि, वेद, नेति, आत्मा, उपनिषद् और पुराँन-आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग ।

“हरि” तेरी माया को न बिगोयौ ।”

—सूरदास

“वेद” रटत, ब्रह्मा रटत, नारद, सुक, ब्यास रटत.....।”

—तानसेन

“ललित-वचन समुझति भई प्यारी, “नेति-नेति” ए बेंन ”

—हरिराय

.....“आत्मा” असंग लखि देह कौ बिहार है ।”

—सुन्दरदास

मोहि भुरावत वेद “उपनिषद्”, भरमि करम के भेद ।

—ज्ञानदास

ब्रह्म में दूब्यौ “पुराननि” वेदनि, भेद सुन्यौ चित-चौगुने चायन ।

—रसखान

## गोपी-वचन

२०

बीज—रूलवाले वृक्षोंका गर्भांड जिससे वृक्ष अंकुरित होकर उत्पन्न होता है । यह गर्भांड एक छिलकेके भीतर बंद रहता है, और इसीमें अव्यक्तरूपसे भावी वृक्षका भ्रण रहता है । जब यह गर्भांडको उपयुक्त जल, वायु और स्थान मिलता है तब वह भ्रण जिसमें अंकुर अव्यक्त रहता है प्रबुद्ध होकर बढ़ता है और अंकुररूपमें

परिणत हो जाता है । यही अंकुर समयानुसार बढ़कर वैसा ही पेड़ हो जाता जैसे पेड़के गर्भाडसे वह स्वयं निकला था । आदि-आदि

तरु—वृक्ष, द्रुम, पेड़, गाछ आदि

“वृक्षोमहीरुहशास्त्री विटपीपादपः—“तरुः”

—अमरकोश २।४।५

माया—ईश्वरकी वह शक्ति जिसके द्वारा सब कार्य होता है । सृष्टिकी उत्पत्तिका मुख्य कारण । अविद्या, अज्ञानता, भ्रम आदि ।

वेदान्तवादियोंका कथन है कि माया ऐसी वस्तु है जो न सत् है, न असत् है, अपितु अनिर्वचनीय है और उसमें सत्त्व, रज और तम तीनों गुण हैं तथा ज्ञानकी विरोधिनी है और केवल भान-रूप है । आगे चलकर कहते हैं कि जबतक मायाजनित उक्त तीनों गुण एकसे, अर्थात् साम्यावस्थामें रहते हैं तबतक जगत्की उत्पत्ति नहीं होती । जब इसमें तमोगुणकी अधिकता होती है तब इसमें एक प्रकार क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप जगत्की उत्पत्ति होती है ।

मायामें दो शक्तियाँ हैं, एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति । आवरण-शक्तिसे वस्तुका यथार्थ रूप ढक जाता है और विक्षेप-शक्तिसे मिथ्या कल्पना हो जाती है । बादल सूर्यके सामने आ जानेपर सूर्यको दृष्टिसे छिपा लेता है, इसी तरह आवरण-शक्तिद्वारा आच्छिन्न होनेपर—आच्छादित होनेपर आत्मा भी दिखलायी नहीं पड़ती । अँधेरेमें सूखे वृक्षको देखनेपर भूतकी कल्पना हो जाती

है, उसी तरह विक्षेप-शक्ति भी आत्मापर मिथ्या-जगत्की कल्पना कर देती है। कोई मनुष्य अँधेरे मकानमें जाय और वहाँ रस्सीके टुकड़े-को पड़ा देख सर्प मानकर डर जाय तथा फिर बाहर आकर दिया ले जानेपर उसके प्रकाशसे उसे ज्ञात हो कि जिस रस्सीके टुकड़ेको मैं सर्प समझकर डर रहा था वह वास्तवमें रस्सीका ही टुकड़ा है, सर्प नहीं। यहाँ रस्सीका असली रूप न दिखलायी पड़ना एक बात है और रस्सीपर सर्पकी कल्पना दूसरी बात तथा प्रकाशसे उसका असली रूप ज्ञात होना तीसरी बात है। यहाँ पहिलीका कारण आवरण-शक्ति है, दूसरीका विक्षेप-शक्ति और तीसरीका कारण वह वेदान्तिक शास्त्र-ज्ञान है जो कि माया, अर्थात् अविद्याको मोहका, भ्रमका और अज्ञानका कारण समझता है। माया, अपनी इन आवरण और विक्षेप-शक्तियोंद्वारा आत्माको छिपाकर उसपर मिथ्या-जगत्की कल्पना कर देती है, अतः जगत् वास्तवमें सत्य नहीं, अपितु मायाका विकार है, पर रखता है व्यावहारिक सत्ता।

मायाजनित जगत्की उत्पत्तिके विषयमें वेदान्तियोंका कहना है—मायाका पहिल्या स्वरूप कारण शरीर है, अर्थात् जहाँतक माया है, वह सब ब्रह्मके सत्त्व गुण प्रधानात्मक अल्प अंशसे मिली हुई है और शरीर संसारभरकी अखिल वस्तुओंका भंडार, अतएव इस माया पुंज शरीरके साथ जो ब्रह्मका वह अल्प भाग मिला है, वह ईश्वर अनुरूप ही है—ईश्वर ही है। यह सत्त्व-गुणवेष्टित ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् और सबका नियन्ता कहलाता है। शरीर भी सत्त्व-गुणप्रधान है, इसलिये इसे आनंदसे परिपूर्ण मानते हुए आनंदमय-

कोश भी कहते हैं । शरीरकी अवस्था सुषुप्ति है, यह सुषुप्ति-अवस्था ही स्थूल और सूक्ष्म-शरीरोंका लय-स्थान है, कारण शरीर इनके परे है । जगत्भरका कारण, शरीर होनेसे प्रत्येकका अर्थपर मनुष्यादिका कारण शरीर होना ही चाहिये । अतः इस कारण शरीरका चैतन्यत्वके साथ जो सम्बन्ध है, वह चैतन्यत्व ईश्वरका ही एक भाग है जो कि 'प्राज्ञ' कहलाता है और मायाकी मलिन-उपाधिद्वारा अल्पज्ञ और अनीश्वर भी । अस्तु, इस शरीरके ही कारण अपनपेकी कमनीय कल्पना होती है, जैसे—सम्पूर्ण जगत्का कारण शरीर आनंदमय कोश कहलाता है उसी तरह ब्रह्मका वह अल्पांश चैतन्यरूप भी आनंदमय कोश कहलाता है । इसकी भी अवस्था सुषुप्ति है और जीवके सूक्ष्म और स्थूल शरीरका लय-स्थान भी यही है । अतः समस्त जगत्का कारण शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण शरीर उक्त एकत्वके अनुसार पृथक्-पृथक् नहीं हैं, अपितु एक ही है । पृथक्-पृथक् भान होना तो दृष्टि-विकारका फल है । जैसे वन और वृक्ष, जलाशय और जल, पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं, बल्कि एक ही हैं; इसी प्रकार संसारका कारण-शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण-शरीर भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं । जब वृक्षोंको पृथक्-पृथक् देखा जाय तब तो वे सब पृथक्-पृथक् वृक्ष हैं और जब उन्हें समूहरूपसे देखा जाय तो वे वन हैं । यही समष्टि और व्यष्टित्व कहलाता है । किसी समूहरूपको समुदायकपनेसे कहनेपर वह समष्टि और उसका पृथक्-पृथक् वर्णन करनेसे— विलग-विलग अंशोंका निरूपण करनेसे व्यष्टिरूप कहलाता है । सम्पूर्ण माया-पुंजका ब्रह्म-अंश चैतन्यरूपसे मिला हुआ देखा

जाय तो समष्टि कहलायेगा । और जब प्रत्येक शरीरको उक्त चैतन्य-से पृथक्-पृथक् रूपमें देखा जाय तब व्यष्टि कहलायेगा । ईश्वर और प्राज्ञ एक ही हैं । ईश्वर समष्टिरूप है और प्राज्ञ व्यष्टिरूप । वन और वृक्षोंमें सम्पूर्ण आकाश लय नहीं होता, उससे पृथक् कुछ-न-कुछ विशेष बचा ही रहता है । इसी तरह सब माया-पुंजमें वह ब्रह्म सम्पूर्ण रूपसे लय नहीं होता, बहुत कुछ बाहर रह जाता है, उसका कुछ ही अंश मायासे मिला हुआ रहता है । अतः वह अविशेष-अंश तुरीय वा तुर्य कहलाता है । तुर्य वा तुरीय अज्ञानतासे प्राप्त चेतनताका आधार । मायाजनित जगत्की उत्पत्तिका ब्रह्मसे यही कारण है । मकड़ीके जालेकी उत्पत्ति मकड़ीसे है । मकड़ी जालेके निमित्त और उपादान रूप दोनों कारणोंसे गुंफित है—जकड़ी हुई है । जालेके तंतुओंको बनाते समय वह निमित्त-कारण है और उसके शरीरसे तंतुओंका पैदा होना उपादान-कारण है । ऐसे ही वह अज्ञान-युक्त चैतन्य अपनी प्रधानतासे आवरण और विक्षेप-शक्तियोंद्वारा जगत्का निमित्त-कारण हैं तथा अपनी उपाधियोंसे उपादान-कारण, आदि-आदि ।

दरपन—शुद्ध, दर्पण, अर्थात् आइना, मुकुर, मुख देखनेका शीशाविशेष, जैसे:—

“दर्पणे”मुकुरादर्शौ..... ।”

—अमरकोश २ । ६ । ४१

अमल—मलरहित, अर्थात् स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष ।

वारि—शुद्ध वारि, अर्थात् जल, पानी, सलिल, आप

“आपः स्त्री भूस्त्रिवा—“वारि” सलिलं कमलं जलम् ।”

—अमरकोश १ । १० । ३

कीच—कीचड़, पंक, कर्दम ।

बीज, तरु, माया, दरपन, अमल, बारि और कीच आदि शब्दोंके सरस-प्रयोग ।

“ब्रह्म-“बीज” काया में बोवै ।”

—दादूदयाल

“तरु-तर” ठाड़े स्याँम सुजाँन ।”

—गोविंद स्वामी

“माया” नटनि लकुट कर लीएँ, कोटिक नाँच नचावै ।”

—सूरदास

“मुखड़ा, क्या देखै “दरपन” में ।”

—कबीरदास

“कुंज-कुंज दोऊ ब्रजराज-लाबिली रमत

रजनी-“अमल” भरस-परस करत केलि ।”

—लछनदास

“जसुधा अपने सुतहिं न्हवाबत, तातौ-सीरौ “बारि”जुलाई ।”

—गंगाबाई

“माया-“कीच” फस्यौ मन मेरौ ।”

—मदकदास

श्रीसूरने भी नन्ददासजीकी तरह श्रीउद्धवके बहुत निर्गुण-निर्गुण रटनेपर एक करारी फटकार ब्रतलायी है, जैसे—

ऊधौ, है तू हरि के हित कौ ।

हम निरगुन तबही तें जान्यों, गुन मेंक्यौ जब पितु कौ ॥

समुझौ नेंकु स्रवन दै सुनिएँ, प्रवट बखानों नित कौ ।

कूप-रतनघटमहुँ क्योँ निकसै, बिनु गुन बहुतै बित्त कौ ॥

पूरनता तौ तब हीं बूड़ीं, संग गए लै चित कों ।  
हम तौ खगहिं “सूर” सुनि षट-पद, लोग बटाऊ हित कौ ॥

—सूरसागर

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकरने भी श्रीउद्धवके बार-बार ब्रह्म-ब्रह्म  
चिल्लानेपर गोपियोंद्वारा कुछ ऐसी ही मीठी फटकार दिलवायी थी, यथा—

“काँन्ह-दूत कैधों ब्रह्म-दूत हैं पधारे आप,  
धारेँ प्रँन फेरँन कौ मति ब्रजबारी की ।  
कहै “रतनाकर” पै प्रीति-रीति जाँनति ना,  
ठाँनति अनीति आँनि नीति लै अँनारी की ॥  
मान्यों काँन्ह-ब्रह्म एकुही कइयो जो तुम—  
तौहू हमें भावति ना भावना अन्यारी की ।  
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की,  
बूंदता बिलैहै बूंद बिबसि बिचारी की ॥”  
अथवा—

“जग सपनों सौ सब परति दिखाई तुम्हें,  
तातें तुम ऊधौ ! हमें सोबत लखात हौ ।  
कहै “रतनाकर” सुनें को बात सोबत की,  
जोईं म्हौह आबत सों बिबस बयात हौ ॥  
सोबत में जागत लखत अपने कों जिमि,  
त्योहोँ तुम आपुही सुग्याँनी समुझात हौ ।  
जोग-जोग कबहूँ न जानें कहा जोहि जकौ,  
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ ॥”

उद्धव-वचन

२१

साँनों—मिळाओ । भेद—रहस्य, छिपा हुआ हाल, गुप्त-तत्त्व  
आदि । बदत—कहते हैं ।

साँनों, भेद और बदतके सुन्दर प्रयोग, यथा—

“प्रीति-रीति सों मोंहन “साँनों”, बिगरी सब बन जाई ।”

—साँ व री स र्वाँ

“सुर-ताल, स्रुति-ग्राम, मूर्च्छना-“भेद” सब—

बानी सों कहि करौ गुनीजन गॉन ।”

—तानसेन

“सूरदास” भगवंत “बदत” य, ह भजेहूँ जमपुर जैहैं ।”

—सूरसागर

## गोपी-वचन

२२

स्वाँस—मुखसे निकलनेवाली हवा । निसरे—निकले, बाहर आये । क्रिया—किसी प्रकार व्यापार, व्यवहार, कृत्य, उपाय, विधि, प्रयत्न, चेष्टा, अनुष्ठान, प्रायश्चित्तादि कर्म ।

विशेषि—शुद्ध विशेष, अर्थात् मुख्य, प्रधान, अधिक ।

विशेष शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—भेद, अन्तर, फरक, तरह, टंग आदि । कणादने—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, “विशेष”, समवाय और अभावरूप सात पदार्थ मानकर “विशेष”को अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि विशेष वे गुण हैं जिनके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थोंसे भिन्न समझा जाता है । दो वस्तुओंमें रूप, रस, गन्धका जो अन्तर होता है वह इसी विशेष-गुणके कारण होता है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये वैशेषिक-गुण वा विशेष गुण कहलाते हैं । कणादके दर्शनमें

इन्हीं विशेष-पदार्थों वा गुणोंका विवेचन किया गया है, इसलिये वह “वैशेषिक-दर्शन” नामसे कहा जाता है।

खाँस, निसरे, क्रिया और बिसेखि—आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

“खाँस”—खाँसमें रमि रह्यौ, मोंहन नंदक्सोर ।”

—नागरीदास

“मो द्वारें है “निसरे” मोंहन, आजु बड़े ही भोर ।”

—गुपाल-नायक

“करि-करि “क्रिया” न मरै पचि मूरख—

तौहू न पावत अंत ।”

—लछनदास

“प्रेम तें नाहिंन औरु “बिसेखि ।” —प्रेमसखी

यही बात श्रुतियाँ भी कहती हैं—

“तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।

छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥”

—पुरुषसूक्त

अथवा—

“अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्वेदो—

यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ॥”

—बृहदारण्यकोपनिषद् २ । ४ । १०

“स यथाऽऽद्रैधानेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टहुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि ।”

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४ । ५ । ११

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

“हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।

प्रेम तें प्रगट होंहिं मैं जाना ॥”

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

“ऊधौ, चरचा करी न जाइ ।

तुम न जानत प्रेम-पथ, हम कहत जिय-सकुचाइ ॥

कथा अकथ सनेह की बिन, उर न भावत और ।

बेद-स्मृति-उपनिषद कों जिय रही नाँहिं ठौर ॥

मौन ही में कहन ताकी, सुनत खोता-नेन ।

सोब “नागर” तुम न जाँनत, कहि न भावत बेंन ॥”

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

“पियारौ, पैऐ केबल प्रेम में ।

नाँहिं ग्याँन में, नाँहिं ध्याँन में, नाँहिं करँम-कुल-नेम में ॥

नहिं भारत में, नहिं रमाइन, नहिं मनु में, नहिं बेद में ।

नहिं झगरे में, नाँहिं जुगति में, नाँहिं मतँन के भेद में ॥

नहिं मंदिरमें, नहिं पूजा के नहिं घंटा की घोर में ।

“हरीचंद” वौ बैध्यौ जु डोलत, एकु प्रीति की डोर में ॥”

—जैनकुतुहल

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

भलख-जाल इन दगन सों, बिदत न देखी जाइ ।

प्रेम-कांति वा की प्रघट, सब-ही-ठौर दिखाइ ॥”

—रसिक-हजारा

## उद्धव-वचन

२३

दृष्टि—देखना, अवलोकन, निरीक्षण, बुद्धि, विवेक, विचार, नजर, निगाह आदि ।

“दृष्टि”ज्ञानेऽक्षिण दर्शने ।”

—अमरकोश ३ । ४ । ४१

अथवा—

“चक्षुर्जन्यमनोवृत्तिश्चिद्युक्त्वारूपभासिका ।

“दृष्टि” रित्युच्यते द्रष्टा दृष्टेः कर्त्तेति लौकिकैः” ॥”

तरनि—शुद्ध तरणि, अर्थात् सूर्य, रवि, भानु, दिवाकर

“द्युमणि”“स्तरणि”मित्रश्चिभानुर्विरोचनः ।”

—अमरकोश १ । ३ । ३१

चंद्र—चंद्रमा, चाँद, चंद, सुधांशु, विधु, निशापति आदि ।

“हिमांशुश्चन्द्रमा “चन्द्र” इन्दुकुमुदबान्धवः ।”

—अमरकोश १ । ३ । १५

कहते हैं—चंद्र वा चंद्रमा आकाशमें चमकनेवाला एक उपग्रह है, जो कि एक महीनेमें पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एक बार करता है और सूर्यसे प्रकाश पाकर चमकता है । चंद्रमा पृथ्वीके अन्य नक्षत्रोंकी बजाय निकट है । यह पृथ्वीसे २२८८०० मीलकी दूरीपर है, और इसका व्यास है २१६२ मील तथा इसे पृथ्वीके चारों ओर

१ यहाँ “दृष्टि” का वस्तुके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर ही अर्थकी संगति बैठेगी । वस्तु—दृष्टि, अर्थात् प्रत्यक्ष चीज, देखी हुई वस्तु आदि ।

घूमनेमें सत्ताईस दिन, सात घंटे तैंतालीस मिनट और साढ़े ग्यारह सेकेंड लगते हैं, लेकिन व्यवहारमें जो महीना आता है वह उन्तीस दिन बारह घंटे चौवालीस मिनट और सत्ताईस सेकेंडका होता है । चन्द्रमाके परिक्रमणकी गतिमें सूर्यकी क्रियासे विशेष अन्तर पड़ता रहता है । जब वह अपने अक्षपर महीनेमें एक बारके हिसाबसे घूमता है तब प्रायः उसका एक ही पार्श्व पृथ्वीकी तरफ रहता है । इस विलक्षणताको देखकर ही कुछ लोगोंको यह भ्रम हुआ था कि यह अक्षपर नहीं घूमता । चन्द्र-मण्डलमें बहुत धब्बे दिखलायी देते हैं, जिसे पुराणानुसार कलंक, पृथ्वीकी छाया, काला दाग, हिरन आदि कहते हैं । यूरोपीय विद्वानोंका इन धब्बोंके विषयमें कथन है—ये धब्बे नहीं, अपितु पर्वत, घाटी, गर्त और ज्वालामुखी पर्वत आदि हैं । चन्द्रमामें वायु-मण्डल नहीं जान पड़ता और न बादल वा जलहीके कोई चिह्न दिखलायी पड़ते हैं । उसमें गरमी भी कम दिखलायी देती है । प्राचीन भारतीय ज्योतिषियोंके अभिमतसे चन्द्र एक ग्रह है । भास्कराचार्य कहते हैं—वह जलमय है और उसमें निजका तेज नहीं है । उसका जितना भाग सूर्यके सामने पड़ता है, बस उतना ही दिखलायी पड़ता है और वही चमकता है । जिस दिन चन्द्रका निचला भाग जो कि हमलोगोंकी, अर्थात् पृथ्वीकी ओर रहता है, उसपर सूर्यका प्रकाश न पड़नेसे अँधेरा होनेके कारण अमावास्याका दिन माना जाता है । ऐसा तभी होता है जब कि सूर्य और चन्द्र एक ही राशिपर यानी सम-सूत्रमें होते हैं । यह सूर्यकी सीधसे—सम-सूत्रपातसे बहुत शीघ्र पूर्वकी ओर हट जाता है जिससे उसकी

एक-एक कला क्रमशः प्रकाशित होने लगती है। वह जितना ही इस सीधसे हटता जायगा उतना ही उसका अधिक भाग प्रकाशित होता जायगा। द्वितीयाके दिन चन्द्रके पश्चिमांशपर सूर्यका जितना प्रकाश पड़ता है उसका उतना ही भाग प्रकाशित दिखलायी पड़ता है। सूर्य-सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा जब सूर्यकी सीधसे छठी राशिपर चला जाता है तब उसका समग्र आधा भाग प्रकाशित हो जाता है और हमें पूर्णिमाका पूरा चाँद दिखलायी पड़ने लगता है। पूर्णिमाके अनंतर ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ही उसका अंतर सूर्यकी सीधसे कम होता जाता है, अर्थात् वह सूर्यकी सीधके ओर आता जाता है और उसका सूर्यकी सीधमें आनेके कारण प्रकाशित भाग क्रमशः अन्धकारमें पड़ता जाता है। अनुपातके मतानुसार उक्त प्रकाशित और अप्रकाशित भागोंके इस हास और वृद्धिका हिसाब जाना जा सकता है। यही मत आर्य-भट्ट, श्रीपति, ज्ञानराज, लल्ल और ब्रह्मगुप्त आदि प्राचीन ज्योतिषियोंका भी है। चन्द्रमाके धब्बोंके प्रति इन महानुभावोंने कुछ नहीं कहा, यहाँतक कि सूर्य-सिद्धान्त, सिद्धान्त-शिरोमणि और बृहत्संहिता आदि भी इन धब्बोंके प्रति चुप हैं।

पुराणानुसार चन्द्र समुद्र-मन्थन-द्वारा निकले हुए प्रसिद्ध चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न हैं और उसकी गिनती देवताओंमें की जाती है। चन्द्रग्रहणके प्रति पुराणोंका कथन है—समुद्र-मन्थनके अन्तमें जब अमृत निकला तब राक्षस-वर्ग उसे छिन ले गया, तदुपरान्त विष्णु-भगवान्ने मोहिनी स्वरूप-द्वारा राक्षसोंसे उसे पुनः लेकर समझौतेके

साथ पहिले देवताओंको अमृत पिलाने लगे । अस्तु, चंद्रमाके पास बैठकर और देवताओं-जैसा वेश बनाकर एक राक्षसने चन्द्रमाके साथ अमृत पी लिया । यह वृत्तान्त चन्द्रमाको किसी प्रकार मालूम हो गया कि यह देवता नहीं अपितु राक्षस है—असुर है और उसने अमृत पिलाते हुए मोहिनी-स्वरूपसे यह भेद प्रकट कर दिया । मोहिनी-स्वरूप विष्णु भगवान्ने सुदर्शन-चक्र ( एक हथियार-विशेष ) से उस असुरके दो खण्ड कर दिये जो कि राहु और केतुके रूपमें परिणत हो गये । इस वैर-विरोधके कारण ही राहु ग्रहणके समय चन्द्रमाको ग्रसा करता है और उदर—पेट न होनेके कारण उसे हजम नहीं कर पाता और वह ( चन्द्र ) बाहर निकल आता है । चन्द्र-धब्बोंके प्रति जैसा कि पूर्वमें कहा गया है विभिन्न मत हैं । कोई इसे दक्षप्रजापति-द्वारा पाये गये यक्षमा-रूप शापको शांति-निमित्त गोदमें लिया हुआ हिरन बताते हैं, तो कोई इसे गुरुपत्नीगमनके कारण गुरु बृहस्पति-द्वारा दिये गये शापका फलरूप काला दाग बतलाते हैं और कोई इसे अहिल्याके सतीत्व-भंग करनेवाले देवराज इन्द्रको सतीत्व-भंगमें सहायता देनेपर क्रोधावेशमें गौतम ऋषिद्वारा मारे गये कमंडल और मृग-चर्मका दाग बतलाते हैं । इससे इसके नामोंमें भी वृद्धि हो गयी, जैसे—मृगलाञ्छन, रोहिणी-पति, हरिणाङ्क, दोषाकर आदि-आदि ।

चन्द्र, कवियोंकी भी अपूर्व उड़ानोंका, चित्त चुरानेवाला चौगान रहा है । संस्कृतसे लेकर तमाम भाषाओंके कवि-कोविदोंने चन्द्र-पर, उसके धब्बोंपर, इन निरंकुशों ( कवि ) ने बड़े-बड़े कुलाबू

बाँधे हैं, जमीन-आसमान एक कर दिया है—तूफान वर्षा कर दिया है । उपमा-उत्प्रेक्षादि अलंकारोंसे अलंकृत निज-निज भाषाओंमें वह मजमून भिड़ाये हैं कि कुल कहा नहीं जाता, जैसे—

“ततः कुमुदनाथेन कामिनीगंडपांडुना ।  
नेत्रानन्देन चंद्रेण माहेंद्री दिगलंकृता ॥”  
“पिनष्टीव तरंगाग्रैः समुद्रः फेनचंदनम् ।  
तदादाय करैरिन्दुलिंपतीव दिगंगनाः ॥”  
“आकाशवापीसितपुंडरीकं

शाणोपलं मन्मथसायकानाम् ।  
पश्योदितं शारदमंबुजाक्षि-  
सन्ध्यांगनाकंदुकमिन्दुबिंबम् ॥”

“वीथीषु वीथीषु विलासिनीनां  
मुखानि संवीक्ष्य शुचिस्सितानि ।  
जालेषु जालेषु करं प्रसार्य  
लावण्यभिक्षामटतीव चंद्रः ॥”

“नवकुंकुमचर्चिका रजन्या गगनाशोकतरोः प्रबालपंक्तिः ।  
मणिकुंतलता स्सरस्य मन्ये शशिनः प्राथमिकी मयूखलेखा ॥”

“शंकरार्धतनुवद्धपार्वती कुंकुमाक्तकुचकोरकाकृतिः ।  
सूच्यते कमलिनीभिरुन्नमत्यद्य कोशकरलीलाय शशी ॥”

“कलिलमंबरमाकलयन्करैर्मृदितपंकजकोशपयोधरः ।  
विकसदुत्पलनेत्रविलोकितः सखि निशां सरसीकुरुते विधुः ॥”

“यदेतच्चंद्रांतर्जलदलवलीलां प्रकुरुते  
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ।

अहं त्विदुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रांततरुणी-  
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलंकांकिततनुम् ॥”

“अंकं केऽपि शशंकिरे जलनिधेः पंकं परे मे निरे  
सारंगं कतिचिच्च संजगदिरे भूमेश्च विंबं परे ।

इंदौ यहलितेंद्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते

तन्मन्ये रविभीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमालक्ष्यते ॥”\*

पश्य चंद्रमुखी चंद्रमंडलं व्योममार्गसरसीसरोरुहम् ।

यामिनीयुवतिकर्णकुण्डलं भारमार्गणानिघर्षणोत्पलम् ॥”

“स्वरिपुतीक्षणसुदर्शनविभ्रमान्—

किमु विधुं ग्रसते स विधुंतुदः ।

नियतितं वदने कथमन्यथा—

वलिकरंभनिभं निजमुज्झति ॥”

“कुरु करे गुरुमेकमयोधनं

विहिरितो मुकरं च कुरुष्व मे ।

विशति तत्रयदैव विधुस्तदा—

सखि ! सुखादहितं जहितं द्रुतम् ॥”

\* संस्कृतकी इस उक्तिपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी ये सुमधुर सूक्तियाँ बरबस याद आ जाती हैं, जैसे—

“कह प्रभु ससि मँ मेचकताई । कहहु काह निज-निज-मति भाई ॥

कह सुग्रीव सुनहुँ रघुराई । ससि मँ प्रगट भूमि कै झाई ॥

मारथौ राहु ससिहिँ कह कोई । उर मँ परी स्याँमता सोई ॥

कोउ कह जब विधि रति-मुख कीन्हा । सार-भाग ससि कर हरि लीन्हा ॥

छिद्र सो प्रगट इंदु-उर माँहीं । तिहि मग देखिय नभ-परछाँहीं ॥

प्रभु कह गरल-बंधु ससिकेरा । अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा ॥

बिष-संजुत कर-निकर पसारी । जारत बिरहवंत नर-नारी ॥”

“कह हनुमंत सुनहुँ प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय-दास ।

तव मूरति बिधु-उर बसी, सोई स्याँमता भास ॥”

“द्विजपतिग्रसनाहितपातक-

प्रभवकुष्ठसिनीकृतविग्रहः ।

विरहिणीवदनैदुजिघांसया

स्फुरति राहुरयं न निशाकरः ॥”\*

श्रीसीतलजीने भी इस भव्य-भावपर एक बड़ी अनूठी उक्ति कही है, जैसे—

“थी शरद-चंद्र की जौन्ह खिली—

सोवै था सब-गुण जटा हुआ ।

चोवा की चमक अधर-बिहँसन—

रस-भीजा-दाड़िम-फटा हुआ ॥

इतने में ग्रसन समे बेला—

लखि ख्याल बड़ा अटपटा हुआ ।

अवनी से नभ, नभ से अवनी,

उछलै अगु नटका बटा हुआ ॥”

—आनंदचमन

अब तनिक “ब्रजभाषा”-कवियोंकी सूझ-बूझ भी देखें, उन्होंने क्या-क्या उड़ानें उड़ी हैं, जैसे—

“अति ही अनंद-कंद चंद्रिका सुधाकर की,

पुंडरीक पथिक-प्रिया कों प्रतिकूल है ।

\* “श्रीहर्षकी उक्त उत्तम उक्तिपर किसी ब्रजभाषा-कविकी यह सरससूक्ति कितनी सुन्दर है। देखिये न, जैसे—

“आँगन में मत-सोवै री राधे,—

मैंने सुनी आज ग्रहँन परैगौ ।

तो मुख-चंद, चंदहू ते निरमल—

चंद छाँड़ि प्यारी, तोहि गहैगौ ॥”

—आँगन में मत.....

कहत “किसोर” निसि-नारि के हिष् की मनि,  
 दरसावै कुँवरि-किसोरी दिन-दूल है ॥  
 दरद-हरँन बर-परब कौ दुँदु स्वच्छ,  
 सरद सुइंदिरा कौ मुख सुख मूल है ।  
 तारकान-कलित मँझार चारु दुति फूल्यौ,  
 अंतरिच्छ कल्प-तरोबर कौ फूल है ॥\*  
 “गगन-गगंद पै करि हंका-बंका—  
 पिक-नाँद आगें-आगें होत मन भायौ है ।  
 भनत “कबिंद” तारे सुभट अघोर जोर—  
 पैदर चकोर-मोर, सोर सरसायौ है ॥  
 तोहि तम अगग-खगग लैकर उदगग बर,  
 मदन-हरौल माँन-गढ़ पैजु धायौ है ।  
 चमू-चंद्रिकान के पसारे अबलेस-नख—  
 तेसु आजु नौतँम-नरेस बनि आयौ है ॥”  
 “कहत निसाकर दिबाकर सौ दीठि परयौ—  
 अंधकार सो तौ एकु पल में पलायौ है ।  
 भोर-भयौ जाँनि कें बिहंगँन में सोर मच्यौ,  
 अबनि-अकास में प्रकास सरसायौ है ॥

\* संदेहालंकारसे अलंकृत कुछ ऐसी ही अनूठी उक्ति महाकवि केशवदासने भी कही है, यथा—

“फूलन की सुभ गेंद नई, सूँधि सची जनु डारि दई ।  
 दरपन सौ ससि श्रीरति कौ, आसँन काँम-महीपति कौ ॥  
 मौतिन कौ स्तुति भूषन मनो, भूलि गई रवि की तिय मनो ।  
 देब-नदी-जल राँम कह्यौ, माँनहुँ भूलि सरोज रह्यौ ।  
 फँन क्रिधो नभ-सिंधु लसै, देब-नदी-जल-हंस बसै ॥”

—आदि-आदि ।

परी चलाचल बाल-चमू-चतुरंगिनी में—

“नागर” तपत तेज ब्रज पर आयौ है ।

चंद्रमाँ न होहि यह माँनिनी के जीतिबे कों

मेंन-महारथी ब्रह्म-अख लै चलायौ है ॥”

“हरत किसोर जो चकोरँन कौ ताप किल—

कुमुद कलाप मुकलीकर सुछंद भौ ।

माँनिनीन हूँ के हिय-दरप-दलित कर,

कंदरप-कलित कर अति जग-बंद भौ ॥

मुदित कमल-अवली कर तिमिर—

कवली कर दिसाँन-धवली कर अमंद भौ ।

आँनद अँमित कर, लोक-प्रमुदित कर,

कोक अँमुदित कर सँमुदित चंद भौ ॥”

सवैया

“पिय-देखँन मानों रमा उझकी, मुख कुँमकुँम-रंजित भ्राजत है ।

रजनी-उर कौ अनुराग इहै, किधों मूरतवंत बिराजत है ॥

किधों पूरन-चंद सुछंद उदोत, “मुकुंद” सबै सुख साजत है ।

किधों प्राची-दिसा नव बाल के भाल, गुलाल कौ बिंदु बिराजत है ॥”

“सिगरे दिन बारि पहार समेत, तची अति दुस्सह पूषन सों ।

भई मैली महा “रघुनाथ” कहै, वह छार बयार के रूषन सों ॥

पल डीठि लगाइ न जाइ लखी, इमि भूमि रही भरि दूखन सों ।

सोई लीपत सौ ‘ससि’ आबत है, दिसि भीजी पियूष मयूषन सों ॥”

चंद्र-कलंक—

“चारु चंद्रिका सिंधु में सीतल स्वच्छ सतेज ।

मनों सेस मै सो भिजै हिरनाधिष्ठित-सेज ॥”



“कोऊ कहै है कलंक, कोऊ कहै सिंधु-पंक,

कोऊ कहै छाया है तमोगुन के भास की ।

कोऊ कहै मृग-मद, कोऊ कहै राहु-रद,  
कोऊ कहै नीलि-गिरि, सोभा आस-पास की ॥

“भंजन” जू मेरे जाँन चंद्रमा कों छीलि बिधि—

दैन चाँहीं समता जो राधा-मुख खास की ।  
तादिन तें छाती छीन भई है छपाकर की,  
बार-पार दीखत है नीलमा अकास की ॥’

❀

सुंदर बदन तेरौ सोभा कौ सँदन राधे ?

मँदन बनायौ चारि-बँदन बनाइ कें ।  
ता की रुचि लेंन कों उदित भयो रेंनि-पति,  
राखौ मति-मूढ़ निज कर बगराइ कें ॥

कहै कवि “चिंतामनि” ताहि निसि-चोर जानि-

दई है सजा सु पाक-सासन रिसाइ कें ।  
यातें सदाँ फिरै अमरावती के आस-पास,  
मुख पै कलंक-मिसि कारिख लगाइ कें ॥❀

\* कुछ ऐसी बात कवि गोविंद-गिल्ला भाईने भी कही है,  
जैसे—

अमृत कों ऐचि धरयौ राधिका के ओठन में,  
चंद्रिका-छिनाई दई देखौ दसनादि कों ।  
घोडस-कलानि-काटि बत्तिस बनाए दंत,  
जा कों विलोकि हीरा पावत प्रमाद कों ॥  
पोषँन-सकति छीन धारी है बचन माँहिं,  
ऐसैं सब छीन लियौ मँटि मरजाद कों ।  
“गोविँद” कहत तब काइ में कलेस पाइ,  
चंद लै कलंक नभ-फिरत फिराद कों ॥  
अथवा—

“जगमगात है होंन कों, या आँनन लें चंद ।  
ताही तें पूरन भएँ, मंद परत तम फंद ॥

पूरब हँसित-बनिता कौ मुख-पत्र तामें-  
 रचना रुचिर बर मृगमद-रंग की ।  
 कैधों नभ-सरबर फूल्यौ है कमल तामें-  
 मेचक-प्रभा है अली अबली उमंग की ॥  
 औरों कवि कोबिदन उपना अँनेक कहीं  
 “बंदन” बखानें एकु इहि बिधि अंग की ।  
 बिरही निरखि याहि नाँखत निसाँस या तें-  
 दागिल दिखात मानों आरसी अनंग की ॥”

### सवैया

“बिध ब्रह्म-कुलाल कौ चक्र कि जा मधि, राजति कालिमा रेंनु लगी ।  
 छलिकें सुर-भीर पियूष की कीच कि बाँहन पीठि की छाँइ खगी ॥  
 कवि “आलम” रेंनि सँजोगिनि है, पिय के सुभ अंक सुरंग पगी ।  
 गए लोचन बूड़ि चकोरँन के, सु मनोँ पुतरनी की पाँति जगी ॥”

### दोहा

“बढ़ि-बढ़ि मुख-समता लएँ, चढ़ि आयौ निसंक ।  
 ता तें रंक मयंक री, पायौ अंक-कलंक ॥”

### चंद्रोपालंभ—

“एरे मतिमंद चंद, धिग है अनंद तेरौ,  
 जो पै बिरहिनि जरि जात तेरे ताप ते ।  
 तू तौ दोषाकर, दूजें धरें है कलंक उर-  
 तीसरें कपाली-संग देख्यौ सिर छाप ते ॥  
 कहै “मतिराम” हाल जाहिर जहाँन तेरौ  
 बारुनी कौ बासी, भासी रबि के प्रताप ते ।  
 बाँध्यौ गयौ, मध्यौ गयौ, पियौ गयौ, खारौ भयौ,  
 बापुरौ समुद्र तो कपूत ही के पाप ते ॥”

सिंधु कौ सपूत-सुत सिंधु-तनया कौ बंधु,  
 मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाइ के ।  
 कहै “पदमाकर” गिरीस के बस्यौ है सीस,  
 तारन कौ ईस, कुल-कारँन-कँन्हाई के ॥  
 हाल ही तू बिरह-बिचारी ब्रज-बाल ही पै-  
 ज्वाल से जगावत जुबाल सी जुन्हाई के ।  
 ऐरे मति-मंद-चंद आवत न तोहि लाज,  
 है कें द्विजराज, काज करत कसाई के ॥”ॐ  
 “करत निकाँम-काँम स्याँम-मुख जाकौ भयौ,  
 बिधि सब अंग स्याँम कोइल बनाई तू ।

\* पद्माकरजीके इस भव्य-भावको अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह  
 उपनाम “द्विजदेव” जीने भी अपनाया है, जैसे—

“साँझ ही तें आवत हलावत कटारी-कर  
 पाइ कें कुसंगत कृसाँनु-दुखदाई कौ ।  
 निपट, निसक है तजी तें कुल-काँनि-खाँनि,  
 औगुन अनेक नेंकु तुलै न बाप-भाई कौ ॥  
 ऐरे मतिमंद-चंद, आवत न लाज तोहि,  
 देति दुख बापुरे-बियोग-समुदाई कौ ।  
 है कें सुधा-धौम काँम-विष कों बगारै मूढ़,  
 है कें द्विजराज, काज करत कसाई कौ ॥”

कुछ ऐसा ही किसी संस्कृत-कविने भी कहा है, जैसे—

“सूतिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभौ सोदरौ  
 सौहार्दं कुमदाकरेषु किरणः पीयूषधाराकिरः ।  
 स्पर्धां ते वदनाम्बुजैर्मृगदृशां तत्स्थाणुचूडामणे  
 हंहो चन्द्र ? कथं न सिञ्चसि मयि ज्वालामुचो सेचि ॥”

पाँहन जँनम औ भुजंग-अंग संग सदाँ,  
 चंदन अपीर-पीर जानें का पराई तू ॥  
 “ग्वाल कवि” काम हे मनोज मनमथ बौरे,  
 पितु कौ नसैया क्यों न होहि दुख-दाई तू ।  
 सिंभु-सिर पाइ, सिंधु-नँद कहि बाइ,  
 द्विजराज-पद पाइ, हाइ होत क्यों कसाई तू ॥”  
 बिरह की जारी, मनमथ की मरोर मारी,  
 अबला विचारी जानें मारग भलाई कौ ॥  
 अति सुकुमार ऐसी कौल-नैती, कुल-बधू  
 गावें गुन देब-बधू जाकी सुभनाई कौ ॥  
 ऐसौ निरदई दई, दाहै तिनहूँ कों सीखौ—  
 सिगरे उपाइ धों कहाँ तें पतिताई कौ ।  
 भाई बैदराज कौ, अमृतताई नाँम पाइ,  
 बाँम्हन कहाइ काम करत कसाई कौ ॥”  
 “मूल मलयज के समूल जरि जैयो अरु—  
 गुन-गरि जैयो या सुगंध सरसाई कौ ।  
 कटि जैयो भूतल तें केतकी-कमल फूल,  
 हूजियो कतल अलि-कुल-दुखदाई कौ ॥  
 “मोतीराम” सुकवि मनोज मालती कौ हूजो  
 पूँजौ जनि आस बिरही-जन हँसाई कौ ।  
 राजहंस-बंसन के बंस निरबंस हूजो,  
 अंस मिटि जैयो या कलानिधि-कसाई कौ ॥”

सवैया

“सेत-पछार अगार भए, अबनी जनु पारद-माँहि पखारी ।  
 होत ही इंदु उदोत, लसै चहुँ ओर तैं सोर चक्रोर कौ भारी ॥  
 फूली कमोद कली निकली, अबली अलि की बलि यै निरधारी ।  
 कोपि कें चंद्र तियाँन के माँन पै, मानों मियाँन तें तेग निकारी ॥”

गुनाँतीत—गुण+अतीत, गुणोंसे परे, पृथक्, निर्गुण । गुणों-के प्रभावसे पृथक् । त्रिगुणात्मिकासे निर्लिप्त ।

वेदान्तवादी जिसे माया कहते हैं उसीको सांख्यवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, अतः त्रिगुणातीत होना ही गुणोंसे परे होना ही, मायासे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त होना, पहिचान लेना कहा है । इसीको 'ब्राह्मी अवस्था' भी कहते हैं, जैसे—

“प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।  
न द्वेष्टि न संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥”

“उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।  
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥”

× × × ×

“समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।  
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥”

“मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।  
सर्वारम्भपरित्यागी “गुणातीतः” स उच्यते ॥”

—श्रीमद्भगवद्गीता १७ । २२, २३, २४, २५

—अर्थात् हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह ( क्रमसे सत्त्व, रज, तम आदि गुणोंके कार्य अथवा फल ) होनेसे जो उनका द्वेष नहीं करता और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा भी नहीं रखता, जो उदासीन-सा रहता है, अर्थात् गुण जिसे चल-विचल नहीं कर सकते; वह इतना ही मानकर स्थिर रहता है कि गुण अपना-अपना काम करते हैं, मुझसे उनका क्या प्रयोजन । जो डिगता नहीं—विकार नहीं पाता, सुख-दुःख जिसे एक-से ही हैं । मिट्टी, पत्थर और

सोना जिसे समान है, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति भी जिसे समान हैं और जो सदा धैर्यसे युक्त है । मान-अपमान वा मित्र और शत्रु जिसे तुल्य हैं—बराबर हैं और जिसके सब उद्योग ( काम्य ) छूट गये हैं, उसे “गुणातीत” कहते हैं ।

भगवाँन—षट्-ऐश्वर्य-युक्त, नारायण । षट् ( छै ) ऐश्वर्य, यथा—

“ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।  
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥”

—विष्णुपुराण ६ । ५ । ७४

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदिसे संयुक्त, भगवान्, अथवा—

“उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम् ।  
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥”

—विष्णुपुराण ६ । ५ । ७८

अर्थात् उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियोंका आना-जाना, विद्या और अविद्याको जाननेवाला ‘भगवान्’ कहे जाते हैं । अथवा—

“भगंश्री योनिवीर्येच्छाज्ञानवैराग्यकीर्त्तिषु ।  
माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्षे च नारवौ ॥”

—मेदिनीकोषे

दृष्टि, तरनि, चंद्र, गुनाँतीत और भगवाँन शब्दके सरस प्रयोग ।

“दृष्टिं दुराड् अग्निं सब खाई ॥” —श्रीसूर

“खेलत ‘तरनि’-तनया तीर ।” —पद्मनाभदास

“चंद्र खिलौना लेहों मैया मेरी ।” —श्रीसूर

“गुनाँतीत भगवाँन कहावै ।” —मधुर अलि

२४

गोपी-वचन

दुराई—छिप रहा । दिव्य-दृष्टि ( दृष्टि )—अलौकिक ज्ञान-संपन्न । सर्वज्ञ । विसवास ( विश्वास )—प्रतीत, धारणा, भरोसा । यथा—

“समौ विश्रंभविश्वासौ……।”

—अमरकोष २ । ८ । २३

विश्वास, अर्थात् वह धारणा जो कि मनमें किसी व्यक्ति-विशेषके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता अथवा किसी सिद्धांत आदिकी सत्यता वा उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है । अथवा किसीके गुण आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाले मनके भावको—प्रतीतको विश्वास कहते हैं ।

कूप—कुआँ, इनारा आदि…… ।

“पुंस्येवाऽन्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा ।”

—अमरकोष १ । १० । २६

दुराई, दिव्य-दृष्टि, विसवास और कूपके सरस प्रयोग ।

“राधे, परम सुजान ‘दुराई’ कित मो बंसी ॥”

—रसिकदास

“जाइ न देख्यौ दिव्य-दिष्टि-बिनु, कोटिक करौ उपाई ।”

—परमानंददास

“सुनि राधे, नवनागरी हो, हमन करें बिसवास ।”

—हरिसम

“चिबुक—“कूप” की का कहौं सोभा ।”

—कृष्णदास

श्रीनंददासजीके इस उत्तम-भावपर भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजीकी भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

“चहिऐ इन बातन कौ प्रेम ।

कोरी हम सों काँम चलै नहिं, मरौ बृथाँ करि नैम ॥

जब लों मूरति प्राननाथ की, अँखिन में न समाइ ।

तब लों सब थल पीतम-प्यारौ, कैसैं सबहिं लखाइ ॥

‘अहं ब्रह्म’ सब मूरख भाँखें, ग्याँन-गरूर बढ़ाइ ।

तनक चोट के लगत उठत हैं, रोइ-रोइ करि हाइ ॥

जो तुम ब्रह्म-चोट किहि लागी, रोइ तजौं क्यों प्राँन ।

“हरीचंद” हाँसी नाहीं हैं, करनों ग्याँन-बिधाँन ॥”

—जैनकुतूहल

कवि रसरूपजी कहते हैं—

“बसि गई नासिका में बदन-सरोज बास,

फँसि गई ओठेंन मिठाई ओठ सारे की ।

रसि गई रस-रीति रसे से रोम-रोम डँसे—

आबै कहर लहर जैसेँ कारे की ॥

तसि गई सुगति एकै मनकी अनेक संग,

ऊधव, बिचारि देखौ बिपत बिचारे की ।

कसि गई ‘रसरूप’ काँन में सुबंसी-ताँन,

बसि गई अँखिन सुरति बंसीबारे की ॥”

—उपालंभशतक

२५

उद्धव-वचन

भक्ति—परमात्मामें परम अनुराग । यथा—

“सा परानुरक्तिरीश्वरे……।”

—शाण्डिल्यभक्तिसूत्र ७ । २

भक्त-प्रवर श्रीनारदजीने अपने भक्ति-सूत्रमें—किसी भी पदार्थसे गाढ़ प्रेम रखनेको 'भक्ति' कहा है, जैसे—

“सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।”\*

—नारदभक्तिसूत्र-२

भक्तिके सबसे प्रथम दो-भेद—रागात्मिका,† जिसे 'अहैतुकी' भी कहते हैं और 'वैधी' ( स्वार्थमय, वा गौणी ) कहे जाते हैं । वैधी जिसे कि 'गौणी' भी कहा जाता है पुनः तीन भेदोंमें विभाजित की गयी है, जैसे—

“गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा ।”

—नारदभक्तिसूत्र-५६

अर्थात् गौणीभक्ति, सात्त्विक, राजस और तामस तीन गुणोंसे युक्त हो सात्त्विकी ( पवित्र ), राजसी ( अहंभाविक ) और तामसी ( मोहरूप )—आदि तीन प्रकारकी होती है ।

\* भक्ति-रसात्मकसिंधुके कर्ताने भी—“हमारे इष्ट पदार्थोंकी ओर जो हमारा आन्तरिक प्रेम रहता है, उसी उत्साहित प्रेमको भक्ति कहा है ।”

† रागात्मिका 'भक्ति'की व्याख्या करते हुए श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं—

“इष्टे स्वारसिको रागः परमाविष्टता भवेत् ।

तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता ॥”

अर्थात् अपने प्रियमें स्वाभाविक प्रेम, पूर्ण आवेश और तन्मयतायुक्त जो भक्ति हो उसे 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं ।

साधनाके अनुसार 'भक्ति' नौ प्रकारकी और कही जाती है, जैसे—

“श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।  
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥”

—भागवत ७ । ५ । २३

जैन-मतानुसार भक्ति, वह ज्ञान है जिसमें निरतिशय आनन्द हो—सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विशिष्ट और वितृष्णाका उदय-कारक हो ।

नवधा भक्ति जैसे—कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदनके अनंतर एक प्रकार-की और भी कही जाती है, जिसे “प्रेमरूपा फलात्मिका” भक्ति कहते हैं ।

भक्तिमें दो विभाग हैं, एक प्रकृतिका दूसरा प्रत्ययका, अतः ‘भज्’ प्रकृति है और ‘ति’ ‘प्रत्यय’ भज्का अर्थ है सेवा—परिचर्यारूप क्रिया और ‘ति’ का अर्थ है भाव, प्रेम वा रति । अतएव प्रेमोत्तर सेवा, अर्थात् भगवत्-प्रेम होनेके लिये जो सेवा की जाय उसे ‘भक्ति’ कहा जाता है । भक्ति शब्दके अर्थके साथ एक बात और भी कही जाती है, वह यह कि जिस प्रकार भक्ति शब्दके प्रकृति और प्रत्ययमें सेवा और प्रेम समाया हुआ है उसी प्रकार उसमें ज्ञान भी समाया हुआ है, क्योंकि—

“न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दाऽनुनमाहते ।”

अर्थात् ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जो कि शब्दके साथ नहीं

रहता, अतः सेवा-संबंधी, आत्मसंबंधी और ब्रह्मसंबंधी ज्ञानसहित प्रेम होनेके लिये जो विविधकी सेवा या कृति की जाय वह 'भक्ति' कहलाती है ।

नारदजीने अपने 'भक्तिसूत्र'में ग्यारह प्रकारकी भक्ति जैसे— ईश्वरके गुण माहात्म्यमें, उसकी सुन्दरतामें, स्मरणमें, सेवामें, दास, मित्र और कांता-भावमें, पुत्र-भावमें आत्म-समर्पणमें, तन्मयतामें और परम विरह मान उसके ध्यानमें प्रेम-आदि कही है, जैसे—

“गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्ति, आत्म-निवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति,—रूपा एक-धाप्येकादशधा भवति ॥”

—नारदभक्तिसूत्र-८२

निहकरम—शुद्ध निष्कर्म, अर्थात् कर्म-रहित, कर्मोंसे परे, अलग, जो कामोंमें लिप्त न हो ।

भक्ति और निहकरम शब्दके सरस प्रयोग—

“बिना 'भक्ति' क्यों जनम गमाबै रे मूरख अग्याँन ।” —सूर

“बिस्नु नराइन कृष्ण जो, बासुदेव ही ब्रह्म ॥”

परमेस्वर परमात्मा बिस्वंभर निहकर्म ॥”

—विश्रामसागर

उपनिषद् भी यही बात कहते हैं कि कर्मसे ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती, अपितु निष्कर्म होनेसे ही प्राप्ति होती है । जैसे—

“जानाम्यहंशेवधिदित्यनित्यं

न ह्यधुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत् ।

ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-

रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥”

—कठोपनिषद् १ । २ । १०

“अंधन्तमः प्रवशन्ति येऽविद्यामुपासते ।  
 ततो भूय इव ते ततो य उ विद्यायाश्चरताः ॥  
 “अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया ।  
 इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचक्षिरे ॥”

—ईशावस्योपनिषद् ९ । १०

“परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो  
 निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।  
 तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्  
 समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥”

—मुण्डकोपनिषद् १ । २ । १२

श्रीमद्भागवत भी यही बात कहती है—

“वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसंगोऽर्पितमीश्वरे ।  
 नैष्कर्म्या लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः ॥”

—श्रीमद्भागवत ११ । ३ । ४६

२६

### गोपी-वचन

परमान—सीमा, सबूत, सचवान, विश्वास, प्रमाण । प्रभुता—  
 आधिपत्य, ऐश्वर्य । अतीत—बीता हुआ, भूत विरक्त, न्यारा, परे,  
 बाहर, निर्लेप, असंग आदि ।

परमान, प्रभुता और अतीत शब्दके सरस प्रयोग—

वेद उपनिषद् ब्रह्म 'परमान्' ।"—श्रीसूर

'प्रभुता' पाइ कछु इतराने ।—कुम्भनदास

“गुण 'अतीत' अविगत अविनासी ।”—श्रीसूर

सूरदासजी कहते हैं—

“बतियँन, सब कोऊ समुझावै ।

ऐसौ कोऊ नाँहिन आळी, पीतम सिरी ब्रजनाथ मिलावै ॥  
 आयौ दूत कपट कौ बासी, निरगुन-ग्यान बतावै ।  
 सखा हमारे स्याँम-मनोहर, नैननि-भरि न दिखावै ॥  
 ग्याँन-ध्याँन कौ मरम न जानें चतुरहि चतुर कहावै ।  
 ‘सूरजदास’ सबै काहूकों अपनों हीं हित भावै ॥”

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

“जौ पै ईस्वर साँचौ जाँन ।

तौ क्यों जग कों सगरे मूरख झूठौ करत बखान ॥  
 जौ करता साँचौ है तौ सब कारजहूँ साँच ।  
 जौ झूठौ है ईस्वर तौ सब जग हू जानों काँच ॥  
 जौ हरि एक अहै तौ माया यह दूजी है कौन ।  
 “हरी चंद” कछु भेद मिल्यौ नहिं, बकौ जिय आयौ जौन ॥”

—जैन-कुतूहल

२७

### उद्धव-वचन

नखर—नाशवान, भंगुर, मिथ्या । वासुदेव— वसुदेवजीके पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण अथवा—

“वसति वासयति आच्छादयति सर्वमिति वा वासुः ।  
 दीव्यति क्रीडते विजिगीषते व्यवहरति द्योतते स्तूयते  
 गच्छतीति वा देवः, वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः ॥”

—विष्णुसहस्रनाम शं० भा०

अर्थात् वसते हैं, अथवा वासित यानी आच्छादित करते हैं इसलिये ‘वासु’ हैं और दिव्यति, अर्थात् क्रीड़ा करते, जीतनेकी इच्छा

करते, व्यवहार करते, प्रकाशित होते, स्तुति किये जाते, इसलिये 'देव' हैं। अतः इस प्रकार जो 'वासु' भी है और 'देव' भी है उनका नाम भगवान् 'वासुदेव' है, यथा—

“छादयामि जगत्सर्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।  
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः ॥

—महाभा० शा० ३४१ । ४१

अथवा—

“वासनात्सर्वभूतानां वसुत्वाद्देवयोनितः ।  
वासुदेवस्ततो वेदाः.....॥”

—महाभा० उद्यो० ७० । ३

अथवा—

“जगदाच्छादयति माययेति वासुः स एव देव इति-  
वासुदेवः ।”

अर्थात् जगत्को मायासे आच्छादित करते हैं इसलिये 'वासु' हैं और वे वासु ही 'देव' भी है, इसलिये 'वासुदेव' हैं। यथा—

“छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।”

—विष्णुस० शं० भा०

अधोक्षज—शुद्ध अधोक्षज, जिसका स्वरूप इन्द्रियोसे प्रत्यक्ष न हो वह अधोक्षज, अर्थात् भगवान् विष्णु, यथा—

“अक्षात् इंद्रियात् जायते अक्षजं प्रत्यक्षज्ञानम् ।”

अथवा—

“अधो न क्षीयते यस्मादीशस्तस्मादधोक्षजः ।”

—महाभा० उद्यो० ७० । १०

कभी नीचे, अर्थात् अपने स्वरूपसे क्षीण न हों वे अधोक्षज ।

अथवा—

“द्यौरक्षं पृथिवी चाधः तयोर्यस्मादजायत मध्ये वैराजरूपेण इति वा अधोक्षजः ।”

अर्थात् आकाश अक्ष है और पृथ्वी अधः है, भगवान् इनके मध्यमें त्रिराटरूपसे प्रकट होते हैं, इसलिये ‘अधोक्षज’ हैं ।

अथवा—

“अधोभूते प्रत्यक् प्रवाहिते अक्षगणे जायते इति वा अधोक्षजः ।”

अर्थात् अक्षगण ( इन्द्रिय ) के अधोमुख यानी अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होते हैं, इसलिये अधोक्षज हैं, यथा—

“अधोभूते ह्यक्षगणे प्रत्यग्रप्रवाहिते ।  
जायते तस्य वै ज्ञानं तेनाधोक्षज उच्यते ॥”

अतः श्रीकृष्ण, नारायण—

“वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः ।”

—अमरकोश

सरूपी—स्वरूपी, अपने स्वरूपकी—रूपकी । प्रापति—  
प्राप्ति, पाना, लाभ अधिगम, उपार्जन ।

“प्राप्तिर्महोदये, लाभेऽपि च स्त्रियाम् ।”

—मेदिनीकोश

नस्वर, वासुदेव, अधोच्छज, सरूपी और प्रापति आदि शब्दोंके सरस प्रयोग ।

“नस्वर सकल बिस्व, हरि नाँहीं ।” —श्रीसूर

“जनमे आइ बसुदेव-देवकी, ‘वासुदेव’ कहिबाए ।” —कृष्णदास

“नेति-नेति कहि बेद पुकारत, सुद्ध, ‘अधोच्छज’ रूप ।”

—रामदास

“बुद्धि-सरूपी, कइँ नहिँ कहु ग्याँन बखानों ।”

—धीरजदास

“प्रापति सैहैज स्याँम की होइ ।”

—चरनदास

२८

### गोपी-वचन

नास्तिक—ईश्वरको न माननेवाला, अनीश्वरवादी, अथवा जो श्रुति-स्मृतियोंको प्रमाण नहीं मानते, वेद-निन्दक पाखंडी ।

“नास्तिको वेदनिन्दकः ।”

अथवा—

“नास्तिकाय कृतघ्नाय..... ।”

—मुक्तिकोपनिषद् १ । ४८

निज—अपना, यथार्थ, सच्चा, खास । भौनु—सूर्य, सूरज, भास्कर आदि—

“भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः ।”

—अमरकोश १ । ३ । ३१

परछाँहीं—शरीर या अन्य वस्तुकी माया, प्रतिबिंब, प्रतिछाया । करतल-आभास—हथेलीपर छाया, प्रतिबिंबकी तरह । कोटिक—करोड़ों । ब्रह्म—परमेश्वर ।

नास्तिक, निज, भौनु, परछाँहीं, करतल-आभास, कोटिक और ब्रह्म शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

“नास्तिकन” कैसी रीति चलाई ।”

—गोकुलदास

आई उघरि कनक-कलाई ज्यों, दै ‘निज’ गए दगाई ।”

—सूरदास

“उदयौ ‘भाँनु’ ,आजु कित इत तें..... ।”

—मानदास

“छुअँन पैहौ लाल, ‘परछाँहीं’ कित.....।”

—लालदास

“लाल करौ ‘कोटिक’ चतुराई ।”—ध्यानदास

“ब्रह्म-ब्रह्म क्यों बकत बृथाँ ही गुलचाए.....।”—सूरदास

आलमकवि कहते हैं—

“पतिबाँ-पठाए अस्तुपात तौ भलें पै होत,

बतियँन बिरह बितैबौ कछु हाँसी है ।

“आलम” निरास बँन-सुनें कौन जोरै नँन,

हिण कौ कठिन ऐसौ कौन ब्रज-बासी है ॥

ऊधौ, यै सँदेसे जैए वाही चित-चोर पै लै,

भापुन कठिन भए और को बिसासी है ।

यहाँ लों न आवै नँकु बासुरी सुनावै आँनि,

बिनसैगौ कहा आएँ जौ पै अबिनासी है ॥”

—आलमकेलि

रत्नाकरजी कहते हैं—

“नँम, ब्रत, संजम के पीजरै परै को जब—

राज-कुल-काँनि-प्रतिबंधहिँ निवारि चुकीं ।

कौन गुन-गौरव को लंगर लगावै जब—

सुधि-बुधि हीं कौ भार टेक करि टारि चुकीं ॥

जोग-“रतनाकर” में साँस-धूँटि बूढ़ै कौन—

ऊधौ हम सूधौ यह बानिक बिचारि चुकीं ।

मुक्ति-मुकता कौ मोल-तोल ही कहा है जब—

मोहनलला पै मन-मौनिक हीं बारि चुकीं ॥”

—उद्धवशतक

२९

## कृष्ण-प्रति उपालम्भ-वर्णन

( प्रथम-कवि-उक्ति )

छबि-छाइ—छवि, सौंदर्य, छाड़ फैलाता, विखेरता हुआ ।  
अंबुज—कमल, पद्म । तरक—तर्क, विवेचना, हेतु-पूर्ण उक्ति,  
चमत्कारपूर्ण कथन, कल्पना, । चुइलकी-हँसीकी बातें, चोजकी बातें,  
चतुराईसे भरी बातें, व्यंग, ताना । यथा—

“अध्याहारस्तर्क ऊहः.....।”—अमरकोष १ । ५ । ३

तर्क, न्यायके सोलह पदार्थोंमेंसे—विषयोंमेंसे एक है । जब किसी वस्तुके संबंधमें वास्तविक तत्त्वज्ञान नहीं होता, तब उस तत्त्वके ज्ञानार्थ—किसी निगमनके पक्षमें कुछ हेतुपूर्ण युक्तियाँ दी जाती हैं, जिसमें कि निगमनकी अनुपपत्ति दिखलायी जाती है । अतः ऐसी युक्ति-पूर्ण बातोंको ‘तर्क’ कहते हैं । तर्कमें शंकाका होना भी आवश्यक है, क्योंकि जब शंका होगी तभी उसके प्रति हेतुपूर्ण उक्ति दी जायगी ।

छबि-छाइ, अंबुज और तरक शब्दोंका सरस प्रयोग ।

“कैसी ‘छबि-छाइ रही इन नैननि’” —नागरीदास

“अंबुज-नैन कछुक रतनारे ।” —स्यामदास

‘तरक’ करत बालक सब लखि-लखि’” —सूरदास

३०

## गोपी-वचन

नाथ—स्वामी, पति । रमा-नाथ—लक्ष्मीके पति । जदुनाथ—  
यदुनाथ भगवान् कृष्णका नाम विशेष । बिड़राति—मारी-मारी, बिना  
खवालेके । दुख-जल-निधि—दुःखका समुद्र, सागर । अबलंब—सहारा  
आश्रय, शरण, आधार । निठुर—निष्ठुर, निर्दयी, कठोर, यथा—

“कक्खटं कठिनं क्रूरं कठोरं ‘निष्ठुरं’ दृढम् ।”

—अमरकोष ३ । १ । ७६

नाथ, रमानाथ, जदुनाथ, बिड़राति, दुख-जल-निधि, अबलंब  
और निठुर—आदि शब्दोंके सुंदर प्रयोग ।

“नाथ” कहाँ, ऐती देर लगाई ।” —रामदास

“रमानाथ, ‘जदुनाथ’ गुसाँई, श्रीपति कमल-कंथ !” —मानदास

“सब दिन जात सखी, बिड़रात ।” —गोकुलदास

“बूड़त-उतरत ‘दुख-जल-निधिमें को करै’.....।” —सूरदास

“तुमहीं हौ ‘अबलंब’ नाथ, मो’.....।” —सूरदास

“ऐसौ निठुर’ न नेंकौ मानत’.....।” —गवालदास

घनानंदजी कहते हैं—

“पहिलें ‘घनआनंद’ सींचि सुजाँन, कही बतियाँ अति-प्यार-पगी ।

अब लाइ बियोग की लाइ बलाइ, बड़ाइ बिसास-इगाँनि दगी ॥

अँखियाँ-दुखयाँनि कुबाँनि परी, न कहूँ लगें कौन घरी सु लगी ।

मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर, अमोही के मोह-मिठास ठगी ॥”

अथवा—

“दीन भए जल-मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि संथानें ।  
नीरस-नेह कौ लाइ कलंक, निरास हूँ कायर त्यागत प्राँनैं ॥  
प्रीति की रीति सु क्यों समझै जड़-मीत सु पानें परै को प्रमाँनैं ।  
या मन की जु दसा ‘घन-आनँद’ जीब की जीबँन जाँनही जाँनैं ॥”

—सुजानसागर

रहीमजी फर्माते हैं—

“कहियो पथिक, संदेसवा गहिकें पाँइ ।  
मोंहन, तुम बिन तनकहु रख्यौ न जाइ ॥”  
“मोंहन-लेहु मयाकर मो सुधि आइ ।  
तुम-बिनु मीत, अहर-निसि, तरफत जाइ ॥”

—रहीम रत्नावली

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

“बेगाँ आवौ प्यारा बनवारी, म्हारी ओर ।  
दीन-बचन सुनिताँ उठि धावौ, नेंकु न करहु अवारी ॥  
कृपा-सिंधु छाँड़ौ निदुराई अपनों बिरद सँभारी ।  
भाँनैं जग दीणदयाल कहै छै, क्यों म्हारी सुरत बिसारी ॥  
प्राण-दाँन दीजै म्हॉनैं प्यारा, हों छूँ दासी थारी ।  
क्यों नहिँ दीठा-बेंठा सुणआवौ, कौन चूक है म्हारी ॥  
तलफें प्राण रहें ना तणमें, बिरह-बिथा बदी भारी ।  
‘हरीचंद्र’ गहि बाँह उबारौ, तुम धौ चतुर-बिहारी ॥”

३१

छल-बिद्या—छलकी विद्या, दगाबाजी, छिपनेकी विद्या धूर्तता,  
ठगपना । दीन—नम्र, हीन-दशा-सूचक । मीन—मछली । रावरे—  
आपही, सरदार ।

छल-विद्या, दीन, मीन और रावरे शब्दोंका सुन्दर प्रयोग ।

“नित नई ‘छल-बिद्या’ करत, आवत तनक न लाज ।”

—गोविंद स्वामी

“दीन’ बचन सुनि भातुर आए, मोंहन मदन गुपाल ।”

—सूरदास

“मीन’ ज्यों तलफत प्रान’-पिया-बिनु ।” —लालदास

“केती मैं बड़ाई ‘रावरे’की सुनी ‘.....’।”\* —गोपालदास

घनानंदजी कहते हैं—

“मेरौ मन तोहि चाँहै, तू न तनकौ उमाँहै,

मीन-जल-कथा हैं कि याहू तें बिसेखिए ।

ता बिन सो मरै, छूटि परै जड़ कहाँ टरै,

भरौ हौं न मरौ जाँन हिऐँ अबरेखिए ॥

पलकौ बिछोह आगें कलपौ अल्प लागै,

बिलपों सदाँई नेंकु तलफनि देखिए ।

सूनों जग हेरौं रे अमोही काहि कहि टेरौं,

‘आनँद के घन’ ऐसी कौन लेखें लेखिए ॥”

—सुजानसागर

रहीमजी फ़मति हैं—

“जाल परें जल जाति बहि, तजि मीनन कौ मोह ।

‘रहिमन’ मछरी नीर कौ, तऊ न छाँड़त छोह ॥

—रहीम-रत्नावली

\* रावरे, राउरे आदि शब्दका प्रयोग ब्रजभाषामें बहुत कम मिलता है, कोशकारोंने भी इस शब्दको त्याज्य मानकर छोड़ दिया है। रावरी, राउरी शब्दोंका प्रयोग अवश्य मिलते हैं। राउर शब्दका भी प्रयोग मिलता है, यथा—

“भरत कि ‘राउर’ पूत न हौंही ।” —रामायण

३२

दुरि-दुरि—छिप-छिप । लोन—लवण, नौन, नमक ।  
कोरि—करोड़, गिनती विशेष, संख्या विशेष, गिननेकी संख्या  
विशेष । बहुताइत—विशेषता, अधिकता ।

दुरि-दुरि, लोन, कोरि और बहुताइत शब्दोंका सुंदर प्रयोग ।

“दुरि-दुरि पिय-हिय अति तरसाबै.....।” —मधुरअली

“राई-लोन बारि-फेरि.....।” —सूरदास

“जतन ‘कोरि’ करि हँम सग हारीं.....।” —कुम्भनदास

“बहुताइत’ की प्रीति न तोरौ, ए हो चतुर-बिहारी ॥”

—चतुर विहारीदास

कुछ ऐसी ही बात धर्मदासजी भी कहते हैं—

“साहिब, चितवौ हमरी ओर ।

हम चितवै तुम चितवौ नाँहीं, तुम्हरौ हियौ कठोर ॥

औरँन कों तौ और भरोसौ, हमें भरोसौ तोर ।

‘धरमदास’ बिनवै कर-जोरी, साहिब कबीर बंड़ी-छोर ॥”

—संतचानी संग्रह २ भाग

घनानंदजी कहते हैं—

“चातक चुहल चहुँओर चाँहें स्वाँति ही कों,

सूरेपन-पूरे जिन्हें बिष-सँम अँमी हैं ।

प्रफुलित होत भाँनु के उदोत कंज-पुंज,

ता बिन बिचारनि हीं जोति-जाल तँमी हैं ॥

चाँहौ-अनचाँहै जाँन प्यारे पै ‘आनँदघन’

प्रीति-रीति बिषम सु रोंम-रोंम रँमी हैं ।

मोहि तुम एक, तुम्हें मो सम अनेक आँहि,

कहा कछु चंदहि चकोरन की कँमी हैं ॥”

अथवा—

“हम एकु तिहारिऐ टेकु गेहें, तुम छैल अनेकँनि सों सरसौ ।  
हम नाँम-अधार जिबाबत ज्यौ, तुम दै बिसबास बिषै बरसौ ॥  
'घन आनँद' मीत सुजान सुनों, तब गों-गहि क्योँ अब मों सरसौ ।  
तकि नेकु दई त्यों दया दिग ह्यै, सु कहूँ किन दूरहूँ तें दरसौ ॥”

—सुजानसागर

३३

इतराइ—इतराना, घमंड करना । अधिकार—प्रभुत्व, इक ।

अबला—बलहीना, नारी, स्त्री, यथा—

“स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू ।”

—अमरकोश २ । ६ । २

इतराइ, अधिकार और अबला शब्दोंका सुंदर प्रयोग ।

“बात कहति ग्वालनि ‘इतराइ’ ।” —सूरदास

“ब्रज कौ का ‘अधिकार’ लयौ तुम .....।”

—गोविंद स्वामी

कुछ ऐसी ही बात आलम कविने भी कही है, जैसे—

“प्रेम, नम गहें नेह बातें निरबहें जातें,

अब उन्हें कहा परी ‘महाराज’ भए हैं ।

कछुक सँदेसौ ऊधौ, मुख के सुनाउ आँनि,

हम सुख मानें, उन जेते दुख दए हैं ॥

इहाँ ‘कवि आलम’ पुराँनी पैहिचाँनि जाँनि,

जोगी सुधि आए ते बियोगी भूलि गए हैं ।

इहाँ बैरी विरह बिहाल करै बार-बार,

सालत करेजै नटसाल नित नए हैं ॥”

—आलमकेलि

ठाकुर कवि कहते हैं—

“शेगरी न लागै ऊधौ चित के चँदोआ फटें,  
 बिगरी नहिं सुधरै सनेह सरदँन कौ ।  
 आपनेई हाथ लै कें करत हवाल ऐसौ,  
 कापै हॉनहार यों हलाल गरदँन कौ ॥  
 “ठाकुर” कहत हों बिचार यों बिचारि देख्यौ,  
 बिरलौ मिलै है जो सदाइ दरदँन कौ ।  
 बैर, प्रीति, रीति जासों जैसी जहाँ माँनि लई,  
 एक सौ निबाहिबौ है काँम मरदँन कौ ॥”

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

“जोड़ कौ खोजि लाल, लरिऐ ।  
 हम अबलँन पै बिना बात ही, रोष नहीं करिऐ ॥  
 मधुसूदन, हरि, कंस-निकंदन, रावन-हरन मुरारि ।  
 इन नाँमन की सुरत करौ, क्यों ठाँनत हमसों रारि ॥  
 निबलँन कौ बध जस नहिं पैहौ, साँची कहत गुपाल ।  
 ‘हरीचंद’ ब्रज ही पै इतने कहा खिस्थाने लाल ॥

—प्रेम-प्रलाप

३४

ब्याल-अनल—सर्प, साँपके जहरकी ज्वाला, अग्नि, आग ।

यथा—

“...कृशानुः पावकोऽनलः ।”

—अमरकोश १ । १ । ५४

विष-ज्वाल—विष, जहरकी ज्वाला, लपटें, यथा—

“वह्नेर्द्वयोर्ज्वाल कीला .....।”

—अमरकोश १ । १ । ५७

व्याल-अँनल, विष-ज्वाल-आदिके सरस प्रयोग ।

‘व्याल-अँनल’ सों सब सखा जरत लखि... .. ।”

—सूरदास

‘विष-ज्वाला’ तें रूख न उपजत... .. ।” —श्यामदास

श्रीनंददासजीने उक्त भाव श्रीमद्भागवतसे लिया है । जैसे—

“विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्-  
वर्षमारुताद्रैद्युतानलात् ।

वृषमयात्मजाद्विश्वतोभया-

दृषभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ३

अर्थात्—

‘सविष-ताल सों, व्याल-काल सों-

अनिल-मेघ सों, बिज्जु-वेग सों ।

वृषभ-व्योम सों, बिस्त्र-कोप सों,

रिषभ, तू करी है सहाइ हो ॥”

—कन्हैयालाल पोद्दार

नंददासजीके—“गोबरधँन कर धारि करी रच्छा तुम कैसैं”

रूप इस उक्त अवतरणपर ‘रहीम’ की भी एक सरस सूक्ति है,

जैसे—

“जौ ‘रहीम’ करिबौ हुतो, ब्रज कौ इहै हवाल ।

तौ काहे कर पर धर्यौ, गोबरधँन गोपाल ? ॥”

—रहीम-रत्नावली

मतिरामजी कहते हैं—

“कहा दवागिनि के पिणें, कहा धरें गिरि धीर ।

बिरहानल मैं जरत ब्रज, बूड़त लोचन-नीर ॥”

—मतिरामसतसई

नंददासके इस अंशपर कि—“चोरि चित लै गयौ” रस-निधिजीकी एक सूक्ति देखिये, जैसे—

“माखन-चोरी सों अरी, परकि रह्यौ नँदलाल ।  
चोरन लाग्यौ अब लखौ, नेहिन कौ मन-माल ॥”

—रतनहजारा

और भी—

“तब गोबरधँन नख-धर्यौ, गोपी-ग्वाल-बचाइ ।  
अब गिरिधर, यह बिरह सिर, क्यों न उठावत आइ ॥”

—रतनहजारा

विशेष—

भ्रमर-गीतकी संपूर्ण प्रतियोंमें इस छंदके दोनों—‘व्याल-अनल और विष-ज्वाल’ को समासांत पद माना है, जिससे अर्थमें पुनरुक्ति दोष आ जाता है । ‘व्याल-अनल और विष-ज्वाल’ एक ही घटनाके घोटक हैं । अतः व्याल-अनलको समासांत पद न मान उसे पृथक्-पृथक्, अर्थात् व्याल पृथक् और अनल पृथक् करके अर्थ करनेसे उसकी—घटनाक्रमकी संगति बैठेगी । अतएव व्याल, अर्थात् अघासुर और अनल, दावाग्नि, विष-ज्वाल—कालिय सर्पके जहरकी लपटोंसे राख लीं—बचा लीं, इत्यादि……। सूरदासजीने भी इनको पृथक्-पृथक् ही वर्णन किया है, जैसे—

“ऊधौं, हरि कहिएँ प्रतिपालक ।

जे रिपु तुम पहिलें हति छाँड़े, बहुरि भए अति सालक ॥

अघ, बक, बकी, तिरनावत, केसी, ए सब मिलि ब्रज घेरत ।

सूनौं जाँनि नंद-नंदन-बिन, बैर आपुनों फेरत ॥

बस अपनी हाँसी फेरन कों, इंद्र रह्यौ करि घात ।

सत्वर ‘सूर’ सहाइ करै को, रही छिनक की बात ॥”

—सूरसागर

३५

पातक—वह कर्म जिसके करनेसे नरक जाया जाता है, कर्ता-को नीचे पटकने—ढकेलनेवाला कर्म, पाप, कल्मष, अध, बदकारी, गुनाह-आदि ।

“पातकोद्योगचरक.....।”

—अमरकोश ३ । ५ । ३३

प्रायश्चित्त-मतानुसार ‘पातक’ के नौ भेद कहे जाते हैं, जैसे— अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्री-करण, जातिभ्रंशंकर, मलावह और प्रकीर्णक ।

करनहार—करनेवाले । पै-प्रावत—दूध पिलाने,

यथा—

“प्रथम कंस पूतना पठाई ।

नंद-घरनि जहँ सुत लएँ बैठी, चलि तिहि धाँमहि आई ॥  
 अति मोंहिनी-रूप धरि लीन्हों, देखति सबही के मन-भाई ।  
 जसुमति रही देखि वाकौ मुख, का की बधू कौन धों आई ॥  
 नंद-सुवन तबहीं पहिचानी, असुर-घरनि असुरँन की जाई ।  
 आपुन बज्र-सँमान भए हरि, माता दुखित भई भरिपाई ॥  
 अहो महरि, पालागन मेरौ, हों तुम्हरौ सुत देखँन आई ।  
 यह कहि गोद लयौ अपने तब, त्रिभुवन-पति अति मन मुसिकाई ॥  
 मुख-चूम्यो गहि कंठ लगाए, बिष-लपट्यौ अस्तनमुख लाई ।  
 पै-सँग प्राण ऐँचि हरि लीए, जोजँन एक परी मुरिझाई ॥  
 त्राहि-त्राहि करि ब्रज-जन धाए, अति बालक क्यो बच्यौ कँन्हाई ।  
 अति आँनंद-सहित सुत पायौ, हिरदे-माँझि रहे लपटाई ॥  
 करबर टरी बड़ी मेरे की, घर-घर आँनंद करत बधाई ।  
 ‘सूर’ स्याँम पूतनाँ-पछारी, यै सुनि जिय डरप्यौ नृपराई ॥

—सूरसागर

पूतनाँ—राक्षसीविशेष, इस राक्षसीको—दानवीको कंसने कृष्णके मारनेके लिये गोकुलको भेजा था । यह मायासे अपनेको सर्वसुन्दर बनाकर नन्दके घर गयी थी और वहाँ श्रीकृष्णको अपनी गोदीमें ले विष-लगा स्तन पान कराने लगी । श्रीकृष्ण भी स्तन पान करने लगे, जिससे दानवी पूतनाके स्तनोंमें पीड़ा होने लगी । अतः उसने अपना असली रूप प्रकट कर स्तन छुड़ाना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण कब छोड़ने लगे । विशेष वेदना होनेपर दानवी घोर गर्जन करती हुई सदाके लिये सो गयी और श्रीकृष्ण उसकी छातीपर खेलने लगे ।

मित्र—वह जो सब बातोंमें अपना साथी, सहायक, समर्थक और शुभचिन्तक हो, सब प्रकारसे अपने अनुकूल आचरण करनेवाला और अपना हित चाहनेवाला । बन्धु, सखा, सुहृद्, दोस्त आदि ।

“अथ मित्रं सखा सुहृद् ।”

—अमरकोश २ । ८ । १२

पातक, करनहार, पै-प्याबत, पूतनाँ और मित्र शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘नहिं व्यापत तनकौ तन ‘पातक’ कारन-करता-आप ।’

—सूरदास

‘जग के ‘करनहार’ तुम खौमी, सचराचर जु समाए ।’

—गोविन्ददास

‘घसि कें गरल लगाइ उरो जँन, लै रुचि सों ‘पै-प्याबत ।’

—सूरदास

‘कपट करि ब्रजहिं ‘पूतनाँ’ आई ।’

—सूरदास

“कपटी ‘मित्र’ कौंह दुखदाई.....।”

—चरनदास

कुछ-कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

“उवरि आए, कौंह कपट की खौनि ।

सरबसु हरौ बजाइ-बाँसुरी, अब छोड़ी पैहचौनि ॥

जिन पै-प्याबत पूतनाँ मारी, दालत करी न हौनि ।

बलि-लुलि बाँधि पताल पठायौ, नैक न कीनीं कौनि ॥

जैसैं बधिक अधिक मृग बिधवत, राग-रागिनी ठौनि ।

अबधि-आस परतीति ओट दै, हँनत विषम-सर-तौनि ॥

जैसैं नाटस टरत न उर तें, तुम ऊधौ, अति जाँनी ।

‘सूरदास’ प्रभु के जिय भाबै, आयुस माथें माँनी ॥”

—सूरसागर

३६

आगें—अगाड़ीसे ही, पहिलेसे ही । रामचंद्र—अयोध्याके इक्ष्वाकु-वंशी राजा महाराज दशरथके बड़े पुत्र जो ईश्वर या विष्णु भगवान्-के बारह कलायुक्त मुख्य अवतार माने जाते हैं और जिनकी कमनीय कथा रामायणमें वर्णित है ।

विश्वामित्र—एक लोकप्रसिद्ध महर्षि, इनको गाधिज, गाघेय और कौशिक भी कहते हैं ।

विश्वामित्र, कान्यकुब्ज देशके महाराज ‘गाधि’ के पुत्र थे, अतः क्षत्रियकुलमें जन्म लेनेपर भी अपने तपोबलसे ब्रह्मर्षि कहलाये । ऋग्वेदमें अनेक मंत्र हैं जिनके द्रष्टा विश्वामित्र और उनके वंशज माने जाते हैं । इनका विश्वामित्र नाम ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेपर

पड़ा। ये यज्ञोंमें पुरोहितका कार्य भी किया करते थे। पुराणोंमें लिखा है कि इनके पिता राजा गाधिको एक सत्यवती नामकी कन्या उत्पन्न हुई, जिसे उन्होंने ऋचीक ऋषिको ब्याह दी। ऋषिने एक बार पृथक्-पृथक् दो चरु तैयार कर अपनी स्त्रीको दिये और कहा कि यह एक चरु तो तुम खा लेना जिससे तुम्हें ब्राह्मणोचित गुणों-वाला एक उत्तम पुत्र होगा और दूसरा यह अपनी माँको खिला देना, जिससे उन्हें भी क्षत्रियोचित गुणोंवाला अति तेजस्वी पुत्र होगा। ऋषि-पत्नीकी माँने अपनी पुत्रीका चरु अधिक अच्छा जान उसे खा लिया और अपना चरु अपनी पुत्रीको खिला दिया। अतः ऋषि-पत्नीको तो जमदग्नि नामक पुत्र उत्पन्न हुए जो कि ब्राह्मण होते हुए भी क्षत्रियोचित गुणोंसे पूर्ण थे और ऋषि-पत्नीकी माँको क्षत्रिय होनेपर भी ब्राह्मणत्वके गुणोंसे सम्पन्न विश्वामित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुए। विश्वामित्रके शुनःशेप, देवरात, देवश्रवा, हिरण्यक्ष, गालव, जय, अष्टक, कच्छप, नारायण और नर आदि सौ पुत्र उत्पन्न हुए, जिनसे इनके कौशिक वंशकी खूब वृद्धि हुई। एक बार विश्वामित्रने बड़ा तप किया जिससे घबड़ाकर इन्द्रने इनका तप भंग करनेको 'मेनका' नामकी अप्सरा इनके पास भेजी। उस मेनका अप्सरासे इनके 'शकुन्तला' नामकी एक कन्या जन्मी जो कि कष्य ऋषिके आश्रममें पलकर 'दुष्यन्त' को ब्याही गयी। इनके विषयमें यह और भी प्रसिद्ध है कि—इक्ष्वाकुवंशके राजा त्रिशंकुने एक बार सशरीर स्वर्ग जानेकी कामनासे एक यज्ञ करना चाहा, परंतु उनके पुरोहित वशिष्ठने कहा कि ऐसा होना असम्भव है। इसपर त्रिशंकुने

विश्वामित्रकी शरण ली, और इन्होंने उसे सशरीर स्वर्ग पहुँचा दिया। ये बड़े क्रोधी थे, प्रायः लोगोंको तनक-तनक-सी बातोंपर शाप दे दिया करते थे। महाराज हरिश्चन्द्रकी सत्यताकी परीक्षा लेनेवाले भी आप ही थे।

तारका—ताड़का, राक्षसीविशेष, जिसे कि विश्वामित्र ऋषिकी आज्ञासे श्रीरामचन्द्रने मारी थी।

कहते हैं ताड़का, सुकेतु नामक एक वीर यक्षकी कन्या थी। सुकेतुने तपस्याद्वारा ब्रह्माजीको प्रसन्नकर इस बलवती कन्याको पाया, जिसमें हजार हाथियोंका बल था। यह कन्या सुकेतुने सुंदको व्याही। एक बार अगस्त्य ऋषिने किसी बातपर क्रोधित हो सुंदको मार डाला; अतः ये अपने पुत्र मारीचको लेकर ऋषिको खा जानेके लिये दौड़ी। इसपर ऋषिने शाप दिया और ये माता-पुत्र दोनों राक्षस हो गये। उसी वैरके कारण ऋषिके तपोवनका नाश करने लगे, जिससे वह तपोवन प्राणियोंसे शून्य हो गया। यह सब व्यवस्था विश्वामित्रने महाराज दशरथजीसे कह श्रीरामचंद्र और लक्ष्मणको लाये और उनके हाथसे ताड़काका वध कराया, यथा—

‘ऋषि सँग हरखि चले दोउ भाई ।

पितु-पद बंदि सीस लै आयुस, सुनि सिष आसिस पाई ॥

नील-पीत-पाथोज बँरन वपु, बै किसोर बनि आई ।

सर-धँनु-पाँनि, पीतपट कटि तट, कसे निखंग बनाई ॥

कलित कंठ मनि-माल कलेवर, चंदन खौरि सुहाई ।

सुंदर बदन, सरोरुह लोचन, मुख-छवि बरनि न जाई ॥

पल्लव, पंख, सुमन सिर सोहत, क्यों कहों बेस लुनाई ।  
 मनु मूरति धरि उभै भाग भई, त्रिभुवन सुंदरताई ॥  
 पैठति सरनि सिलनि-चढ़ि चितबत खग-मृग-वन-हचिराई ।  
 सादर, सभै सप्रेम पुलकि मुनि, पुनि-पुनि लेति बुलाई ॥  
 'एकु तीर तकि हती 'तारिका', बिद्या बिप्र पढ़ाई ।'  
 राख्यौ जग्य जीति रजनीचर, भइ जग-बिदित बड़ाई ॥  
 चरन-कमल-रज-परसि अहिल्या, निज पति-लोक पठाई ।  
 'तुलसिदास' प्रभु के बूझें मुनि, सुरसरि-कथा सुनाई ॥

—गीतावली

अथवा—

‘दसरथ सों ऋषि आनि कह्यौ ।

असुरै न सों जग हों न न पावत, राम-लखन तब संग दयौ ॥  
 मारि 'तारिका' जग्य करायौ, विस्वामित्र अनंद भयौ ।  
 सीय-सुयंबर जानि 'सूर' प्रभु कों ऋषि लै ता ठौर गयौ ॥'

—सूरसागर

कुलदीप—कुलके दीपक, उजला करनेवाले ।

आगें, रामचंद्र, विस्वामित्र, तारिका और कुलदीप शब्दोंके

सरस प्रयोग, यथा—

‘आगें गाय, पाछें गाय, इत गाय, उत गाय.....’।

—क्षीतस्वामी

‘गरभ मुच्यौ कोंसिल्या माता, 'रामचंद्र' निधि आई ॥’

—सूरदास

चले जात मुनि दीन्ह दिखाई ।

सुनि 'तारिका' क्रोध कर आई ॥’

—तुलसीदास

‘भले भए ‘कुलदीप’ लाडिले, मागत लाज न आई ॥’

—गंगाबाई

कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

‘को गोपाल कहाँ कौ बासी, कासों है पैहचाँनि ।  
तुम सँदेस कौन के पठए, कहत कौन कै आँनि ॥  
अपनी चोंप मधुप उड़ि बैठत, भोर भलें रस-जाँनि ।  
पुनि वह बेलि बढौ कै सूखौ, ताहि कहा हित-हाँनि ॥  
प्रथम बेंनु मन हरयो अहीरिन, राग-रागिनी-ठाँनि ।  
पुनि वौ बधिक बिसास सुघाती, हँनत बिसम-सर-ताँनि ॥  
पै-प्यावत पूतनाँ बिनाँसी, छले सु बलि से दाँनि ।  
सूपनखा, तारका निपाती, ‘सूरदास’ यै बाँनि ॥

—सूरसागर

३७

स्त्री-जित—स्त्रीके आधीन, स्त्री-वश्य, स्त्रीने जीत लिया,  
स्त्रैण । लछ-लाघव—लक्ष्य, निसाना मारनेमें चतुर । कोपि—कोपकर,  
क्रोधित होकर, गुस्सेमें आकर । बिरूप—कुरूप, भोंड़ा, लोपि—  
खोकर, तोड़कर, नष्टकर ।

स्त्री-जित, लछ-लाघव, कोपि, बिरूप, और लोपि शब्दोंके  
सुंदर प्रयोग, यथा —

“ए निरखे ‘इसत्री-जित’ पुरे, तनक न माँन-अमाँन ।

—शानदास

“लछ-लाघव में चतुर कहावत, ऐ ढोटा दोऊ बारे ॥”

—रामदास

“गिरि पे ‘कोपि’ कर चढ्यौ इंद्र रिस्याइ ।”

—केसोदास

“बाम्हन रूप-‘विरूप’ कियौ, अति हरष बढ़ायौ ।”

—गदाधरदास

“लाज ‘लोपि’ गिरिधर सब घेरीं, सखियँन करि चतुराई ।”

—चतुर्भुजदास

सूरदासजी कहते हैं—

“दंडक-बन आए दोऊ भाई ।

काँम-बिबस, ब्याकुल उर-अंतर, राच्छसि एकु तहाँ चलि आई ॥

हँसिकर राँम कह्यौ सीता सों, इहि लछमन के निकट पठाई ।

भृकुटी, कुटिल, अरुन अति लोचन, अगिनि-सिखा-मुख कह्यौ फिराई ॥

यै बोरी भई मदन-बिबस सो, ध्यान चरन रघुराई ।

बिरह-बिथा-तन लाज गई छुटि, बार-बार अकुलाई ॥

रघुपति कह्यौ निलज्ज निपट तू, नारि राछसी ह्यौ तें जाई ।

‘सूरज’ प्रभु पतिनी-व्रत एकै, काटी नाँक गई स्विसिभाई ॥”

—सूरसागर

### ३८

आली—सखी, सहचरी, सहेली । बराबरवाली, समवयस्क,

यथा—

“आलिः सखी वयस्या च.....।”

—अमरकोष २ । ६ । १२

बलि राजा—दानव-पति, बलि, दानवपति विरोचनके पुत्र

और परम भक्त प्रह्लादके पौत्र ( नाती ) थे । विष्णु भगवान्ने

वामन अवतार लेकर इसे छला था और पुनः पातालका राज्य दिया था ।

बनमाली—भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, यथा—

“बनमाली बलिध्वंसी..... ।”

—अमरकोष १ । १ । २१

अथवा—

“वनमाली तु गोविंदे……।”

—मेदिनीकोष

अथवा वनमालाको जो धारण करे वह ‘वनमाली’ । वनमाला—

“आपादपद्मं या माला ‘वनमालि’ इति सा मता।”

—कलिंगे

अथवा—

“भूततन्मात्ररूपां वैजयन्त्याख्यां वनमालां

वहन् सा ‘वनमाली’ ।” —विष्णुसहस्रनामशांकरभाष्य

अर्थात् भूततन्मात्रोंकी बनी हुई वैजयंती नामक वनमाला धारण करनेसे भगवान् ‘वनमाली’ कहलाते हैं ।

बाँमन—शुद्ध बामन, विष्णु भगवान्का नाम विशेष, विष्णुका पाँचवाँ अवतार जो कि दानवपति बलि राजाको छलनेके निमित्त हुआ था,

यथा—

“जैसेँ भयौ ‘बाँमन’ अवतार ।

कहों सुनों सो अब चित-धार ॥

हरि जब अमृत सुरन-पिबायौ ।

तब बलि असुर बहुत दुख पायौ ॥

सुक्र ताहि पुनि जग्य करायौ ।

सुर जै राज्य त्रिलोकी पायौ ॥

निन्यानबें जग्य पुनि किए ।

तब दुख भयौ अदिति के हिए ॥

हरि-हित उन्ह पुनि बहुत पुकारयौ ।

‘सूर’ स्याँम बाँमन-बपु धारयौ ॥”

×

×

×

×

द्वारें ठाड़े हैं द्विज बाँमन ।

चारों बेद पढ़त मुख-आगर, अति सुगंध सुर-गाँमन ॥  
 बाँनी-सुनि बलि पूछन लागे, इहाँ बिप्र करौ आँमन ।  
 चरचित चंदन, नील कलेबर, बरसत बूंदन साँमन ॥  
 चरन-धोइ चरनोदक लीयौ, माँगि देँउँ मन-भाँमन ।  
 तीन पैड़ बसुधा हों चाँहों, परन-कुटी के छाँमन ॥  
 इतनों कहा बिप्र तें माँग्यौ, बहुत रतन देँउँ गाँमन ।  
 'सूरदास' प्रभु बोलि छल्यौ बलि, धरयो पीठि पै पाँमन ॥

—सूरसागर

वामन शब्दका एक और कमनीय अर्थ होता है, जैसे—

“सम्भजनीय इति वामनः ।”

—वि० स० शां० भा०

अर्थात् भली प्रकार भजने योग्य होनेसे आप 'वामन' हैं,  
 जैसा कि मंत्रवर्णमें लिखा है—

“मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ।”

—कठोपनिषद् २ । ५ । ३

अर्थात् मध्यमें स्थित वामनको विश्वेदेवा उपासना किया  
 करते हैं ।

परबत—पहाड़, शैल, गिरि, नग । यथा—

“महीध्रे शिखरिष्माभृदहार्यधरपर्वताः ।”

—अमरकोष २ । ३ । १

अकाइ—शरीर, बिना मतलब । सत्त—सत्य, ठीक यथार्थ—

“सत्यं तथ्यमृतं सम्यग्.....।”

—अमरकोष १ । ७ । २२

लोभ—तृष्णा, लालच, लुब्ध, दूसरेके पदार्थको लेनेकी इच्छा करना ।

आली, बलिराजा, बनमाली, बाँमन, परबत, अकाइ, सत्त और लोभ शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

“हो मेरी ‘आली’ भाँनु-सुता के तीर अँबीर उड़ावहीं ।”

—परमानंददास

“सुनि आँनद चले ‘बलिराजा’ आहुति जग्य बिसारी ।”

—सूरदास

“ठाड़ौ उत ‘बनमाली’ गैल में ‘भाँगत गोरस दौन ।”

—चतुर्भुजदास

“चारों बेद पढ़त मुख आगर, है ‘बाँमन’ बपुधारी ॥”

—सूरदास

“आबौ सिमटि सकल ब्रजवासी, ‘परबत’ कों बलि दीजै ।”

—आसकरन

“बढ़ि ‘अकाइ’ फारि मुख दीन्हों ‘.....’ ।” —सूरदास

“ग्यालिनि ‘सत्त’ बचन मुख भाँखि ।” —कृष्णदास

“दूध, दही कौ ‘लोभ’ न मेरें, चाहें जेतौ खाइ ।”

—माधौदास

श्रीनंददासजीने ३० और ३८ वें छंद, श्रीमद्भागवतके निम्न-लिखित श्लोकोंके आधारपर रचे हैं—

“मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा

स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।

बलिमपि बलिमत्वावेष्टयद्ध्वाङ्गवद्य-

स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥”

—श्रीमद्भागवत १० ।

अर्थात्—

निद्रुर बनि बधौ है ब्याध ज्यों बालि ही कौ,  
 स्वरत तिय कुरूपा कीन्ह छी के बसी हो ।  
 बलि नृप बलि हू लै काक ज्यों पास दी है,  
 तज सँक न कथा, पै स्याम-प्रीती बुरी है ॥

—कन्हैयालाल पोद्दार

श्रीसूर कहते हैं—

‘ऊधौ, तनक सुजस हरि कौ स्वन्न सुन ।  
 कंचन-काँच कपूर फटर रस, सम दुख-सुख गुन-औगुन ॥  
 नाँम सुनत तजि घर कुटंब सब, जाइ बसत पर काँनन ।  
 परमहंस बिहंग देखतहिँ आबत भिच्छा-माँगन ॥  
 बालकपँन कौ राउ सँहारयौ, लोक-लाज-डर-डारी ।  
 सूपनखा की नाक बिदारी, तिय-बस भए मुरारी ॥  
 बलि कौ बाँधि पताल पठायौ, कीन्हे जग्यनि आई ।  
 ‘सूर’ प्रीति जानी तें हरि की, कथा जात नहीं गाई ॥

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके—‘माँगत बाँमन रूप धरि……’पर कविवर  
 ठाकुरकी भी यह सूक्ति देखने लायक है, जैसे—

‘साँची करारें करी हम सों, हम तौ तऊ नेंकु न माँनती हैं ।  
 उन बामन है बलि जाइ छले, हम सो बतियाँ पहिचानती हैं ॥  
 कवि ‘ठाकुर’ बीधि गई अखियाँ, तिनसों मिलि कें सुख माँनती हैं ।  
 तुम तौ अब राम के राज करौ, हम तौ घरै बास न जाँनती हैं ॥’

—ठाकुरशतक

पद्माकरजी कहते हैं—

‘तीनि पैग पुहुमी लई, प्रथमहिं परम पुनीत ।  
बहुरि बढत लखि बामनहिं, भे बलि कछुक सभीत ॥’

—जगदविनोद

त्रिहारीलालने भी ‘बलि वामन’ की करतूतपर बड़ी व्यंगभरी रुचिर रचना रची है, जैसे—

दूद्वै द्विगुनी पहुँचौ गिलति, अति दीनता दिखाइ ।  
‘बलि-बाँमन’ कौ ब्यौत लखि, को बलि तुम्हें पत्याइ ॥

—बिहारी सतसई

### ३९

परसराँम—परशुराम, महर्षिविशेष । कहते हैं परशुराम ईश्वरके छठे अवतार हैं । इनके पिताका नाम महर्षि जमदग्नि और माता रेणुका थीं । पहिले इनका नाम केवल ‘राम’ था, परंतु गंधमादन पर्वतपर अपनी घोर तपस्यासे महादेवको प्रसन्नकर उनसे एक तेजोमय परसु पाया, तभीसे आपका नाम ‘परशुराम’ पड़ा । पुराणोंमें लिखा है—  
इन्होंने अपने पिताकी आज्ञासे माता रेणुकाका सिर काट डाला था । इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित भी किया था आपने पिताके बदलेमें ।

संधारी—संहारी, नाश कर दी, मार डाली । सौंनितकुंड—  
स्रोणितकुण्ड, रुधिरकुण्ड, रुधिरके कुण्ड, चहवच्चा, खड्डा, गड्हा ।  
पोखे—पोषित किये, पालन किये, परबरिश किये । पित्र—पुरखे,  
पिता—प्रपितामहादि, बाप-दादे-परदादे आदि । बिलग—बुरा, रंज ।

परसराम, संघारी, सौनितकुंड, पोखे, पित्र और बिलग आदि शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘तिन्ह सेना बहुतक ‘संघारी’ ।’

—क्रयाराम

‘भयौ ज्यों ‘परसराम’ अवतार ।’

—सूरदास

‘सौनित-कुंड’ बहुत तहँ भरे ।’

—तोषनिधि

‘जनम लियौ बसुदेव-देवकी, नंद-जसोमति ‘पोखे’ हो ।’

—अनन्यअली

‘पित्र-करम’ करन नँदराई, चले जमुन-जल न्हॉन ।’

—माधौदास

‘बिलग, जनि मानों’ ऊधौ प्यारे ।’

—सूरदास

परशुरामकी इस कथापर सूरदासजीका यह पद देखिये, आप कहते हैं—

‘परसराम जमद्गिन-घर लीन्हों यों अवतार ।  
माता ताकी जमुन-जल, लेंन गई इकबार ॥  
लागी तहाँ अबार, तिहिं ऋषि करि क्रोध अपार ।  
परसराम सों यों कही या कों बेगि सँहार ॥  
और सुतन तब कही पिता, नहिं कीजै ऐसी ।  
क्रोधबंत रिषि कह्यौ, करौ इनहूँ सों बैसी ॥  
परसराम तिन सबन कों मारयो खरग प्रहार ।  
रिषि कह्यौ होइ प्रसन्न बर, माँगौ देऊँ कुमार ॥  
परसराम तब कह्यौ यहै बर देउ तात बर ।  
जानें नाहिंन मुए फेरि कें जीवें ए सब ॥

रिषि कह्यौ यह बर दियौ, मैं इनकों दैहूँ उठाई ।  
 परसराम उनकों दियौ, सोबत मनों जगाई ॥  
 परसराम बन गए, तहाँ दिन बहुत लगाए ।  
 सहस-बाहु तिहिं समें रिषी के आस्रम आए ॥  
 काँमधेनु जमदग्नि की लै गयौ नृपति छिनाइ ।  
 परसराम कों बोलि रिषि, दियौ वृत्तांत सुनाइ ॥  
 परसराम सुनि पिता-वचन, ताकों संहारयौ ।  
 काँमधेनु दई आँनि, बचन रिषि कौ प्रतिपारयौ ॥  
 सहसबाहु के सुतँन पुनि राखी घात-लगाइ ।  
 परसराम जब बन-गए, मारे रिषि कों धाइ ॥  
 रिषि की इहि गति देखि, मात तब रोइ पुकारी ।  
 परसराम तुम आइ, लगत क्यों नाहिं गुहारी ॥  
 यों सुनि कें आए तुरत, मारे तिन्हें प्रचार ।  
 बहुरौ जिय-धरि क्रोध हति छत्रिय इकिसबार ॥  
 जग अराज हूँ गयौ, रिषिँन तब अति दुख पायौ ।  
 लै पृथ्वी कौ दान, ताहि फिरि बनहिं पठायौ ॥  
 बहुरि राज दियौ छत्रियन, भयौ रिषिँन आनंद ।  
 'सूरदास' पाबत हरख, गाबत गुन-गोविंद ॥'

—सूरसागर

४०

हिरनकच्छप—दैत्यविशेष, जो कि प्रह्लाद भक्तके पिता थे ।  
 शुद्ध नाम हिरण्यकशिपु और प्रसिद्ध विष्णु-विरोधी । हिरण्यकशिपु  
 महर्षि कश्यप और दितिके पुत्र थे । इन्हें ब्रह्मासे यह वर मिला था कि  
 मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी आदि किसीसे न मरूँ । इससे ये अत्यन्त  
 प्रबल और अजेय हो गये । जब इन्होंने अपने परम भागवत पुत्र

प्रह्लादको भगवद्भक्ति करनेके कारण बहुत सताया और एक दिन उसे खंभेसे बाँध और तलवार खींचकर मारनेको बार-बार पूछने लगा कि बता ? तेरा भगवान् कहाँ है ? जो आकर बचाये, तब भगवान् नृसिंह ( आधे सिंह आधे मनुष्य ) का रूप धारणकर खंभेको फाड़ प्रकट हुए और हिरण्यकशिपुको फाड़कर मार डाला ।

ढीठ—धृष्ट, बेअदब, कही न माननेवाला ।

‘धृष्टे धृष्णाधियातश्च ।’

—अमरकोश ३ । १ । २५

प्रह्लाद—प्रह्लाद, दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुके परमभक्त बेटे जिनके निमित्त विष्णु भगवान्का चौथा नृसिंह अवतार हुआ था । झगरयौ—झगड़ा किया, तकरार ठानी । सिच्छा ( शिक्षा )—शिक्षा, उपदेश । वपु—शरीर, अवतार । नरसिंह—नृसिंह, प्रसिद्ध नृसिंहावतार जो अपने भक्त प्रह्लादके लिये लिया था । नखँन—नाखूनोसे ।

हिरनकच्छप, ढीठ, प्रह्लाद, झगरयौ, सिच्छा, वपु, नरसिंह और नखँन शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

“हिरनकच्छप” अति प्रबल दनुज है, तप कीन्हों परचंड ।”

—सूरदास

“मारग जान न पावत कोऊ भयौ ‘ढीठ’ अति स्याँम ।”

—आसकरण

“तबहिँ असुर ‘प्रह्लाद’ बुलाए, लए गोद-भरिअंक ।”

—सूरदास

“भोरहिँ काँन्ह करत मोसों ‘झगरयौ’ ।”

—परमानंददास

“सिच्छा’ दई नई इहि ग्वालनि, सिब पै हाथ धराई ।”

—कृष्णदास

“प्रघट भए नरहरि-‘बपु’ धरि हरि, कटकटकर उच्चारी ।”

—सूरदास

“तब बोले ‘नरसिंध’ कृपाकरि सुनहुँ भक्त मम बात ।”

—सूरदास

“पकरि लियौ छिन माँहि असुर बलि, डारयौ ‘नखँन’ बिदारी ।”

—सूरदास

## ४१

सिसुपाल—शिशुपाल, चेदि देशके राजा दमघोषके पुत्र थे । दमघोषको भगवान् श्रीकृष्णकी बूआ (भूआ) ब्याही थी । शिशुपालकी माता सुप्रभाको यह मात्तूम हो गया था कि इसे ( शिशुपालको ) श्रीकृष्ण ही मारेंगे, अतः उसने भगवान्से शिशुपालके सौ अपराध क्षमा करा लिये थे । महाराज युधिष्ठिरके प्रसिद्ध राजसूय-यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णका सर्वोपरि पूजन होनेके कारण शिशुपालने श्रीकृष्णको बड़ी गालियाँ दीं, अतएव भगवान् श्रीकृष्णने उसकी सौ गालियाँ खानेके बाद मार डाला । इस घटनाके आधारपर माघ कविने एक बड़ा सुंदर नाटक जिसका नाम ‘शिशुपालवध’ है रचा ।

भीष्म—भीष्मक, राजा विशेष, भीष्मक विदर्भ देशके राजा थे । इन्हींकी पुत्री श्रीरुक्मिणी भगवान् श्रीकृष्णको ब्याही थीं ।

देसै—देशको, नगरको । दुलही—दुलहिन, नयी बहू, बधू, नव परिणीता बधू, नई ब्याही बहू । छुधित—क्षुधित, भूखा, बिभुक्षित ।

“बुभुक्षितः स्यात्क्षुधितो जिघत्सुरशनायितः ।”

—अमरकोश ३ । १ । २०

ग्रास—कौर, कवल, यथा—

“ग्रासस्तु कवलः पुमान् ।”

—अमरकोश २ । ९ । ५४

सिसुपाल, भीषम, देसै, दुलही, छुधित और ग्रास शब्दोंके सुंदर प्रयोग । यथा—

“रुकुम कह्यौ ‘सिसुपालहिं’ दैहों, नाहिं कृष्ण सों काँम ।”

—सूरदास

“एक समें नारद मुनि आए, नृप ‘भीषम’ के देस ।”

—सूरदास

“ऐसेहि साधु बसत वा ‘देसै’ ।”

—लोकनाथ

“‘दुलही’ लाल नई तोहि लैहों ।”

—परमानंददास

“लाल होहिगौ ‘छुधित’ ग्वालिनी’ ..... ।”

—कृष्णदास

“सिघ-‘ग्रास’ का स्वानहिं भाखि है, माधव’ ..... ।”

—चरनदास

श्रीनंददासजीके इस छंदके—‘आपने स्वारथी’ पर श्रीसूरकी यह सूक्ति भी बड़ी सुंदर है, जैसे—

“अपने स्वारथ के सब कोऊ ।

चुपि करि रहौ मधुप सुनि लंपट, तुम देखे आँ ओऊ ॥

जो कुछ कह्यौ, कह्यौ चाँहत हौ, करि निरवारौ सोऊ ।

अब मेरे मन ऐसी षट्पद, होइ होउ सो होऊ ॥

तब कित रास रच्यौ बृंदावन, जौ ग्याँनी हो तोऊ ।  
 लोन्हें जोग फिरत जुबतिन में, बड़े सुजस तुम दोऊ ॥  
 छुटि गयौ माँन-परेखौ रे अलि, हिणें हतो बहु जोऊ ।  
 'सूरदास' प्रभु गोकुल बिसरौ, चित चिंतामनि खोऊ ॥”

—सूरसागर

४२

### कवि-कथन

आबेस—उन्मत्त, जोश, व्याप्ति, संचार । रँगीली—रँगी  
 हुई, अनुरागी, प्रेममें अनुरक्त ।

आबेस और रँगीली शब्दके सरस प्रयोग । यथा—

“भरि 'आबेस' झुकी मोहन पै, हो-हो करि सब गोरी ।”

—नागरीदास प्रा०

“रँगीली ग्वालिनी हो, तैं मोहे नँदलाल ।”

—श्यामदास

४३

तिमिर—अंधकार, अज्ञान, अचंचल । यथा—

“अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः ।”

—अमरकोश १ । ८ । ३

रज—धूलि, पाद-धूलि । त्रिभुवन-आनंद—त्रिभुवनका  
 आनंद । बारि—न्यौछावरकर, निछावरकर । बंदनाजोग—प्रणाम  
 करने योग्य, नमस्कार करनेके काविल ।

रज, त्रिभुवन-आनंद, बारि और बंदना-जोग—आदि सुंदर  
 शब्दोंके प्रयोग । यथा—

“छाँडिकें ‘रज’ लुटत रज में दीन दीसत अंग ।”

—नागरीदास

“जो ‘आँनद’ जसुमति-घर बरखत, ‘त्रिभुवन-आँनद’ कछुव न लेख ।”

—परमानंददास

‘बारि’ अभूषँन देति परसपर, ग्वालिनि सब सुकुमारी हो ।”

—छीतस्वामी

“अहो ‘बंदना-जोग’ लाडिले, लच्छिन अति सुचि सीखे हो ।”

—आसकरन

कुछ ऐसी ही कमनीय कामना ब्रह्माजीने भी की है, जैसे—

“तद्भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां  
यद्गोकुलेऽपि कतमांधिरजोऽभिषेकम् ।

यज्जीवितुं तु निखिलं भगवान्मुकुन्द-

स्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । १४ । ३४

अर्थात् ‘इस भूमिमें और खासकर बृंदावनमें तथा उसमें भी गोकुलमें जन्म होना परम सौभाग्यका कारण है, क्योंकि यहाँ जन्म होनेसे किसी-न-किसी ब्रज-वासीके चरणोंकी पवित्र-धूलि मेरे सिरपर पड़ ही जायगी ।’

## ४४

दुविधा—संदिग्ध-अवस्था, संशय, चिंता, असमंजस, यह ठीक वा वह ठीक । दोमेंसे किसी एक बातपर चित्त न जमनेकी क्रिया वा भाव, अनिश्चय, चित्तकी अस्थिरता आदि ।

ग्याँन—ज्ञान, वस्तुओं और विषयोंकी वह भावना जो—मन वा आत्माको बोध हो, जानकारी, प्रतीति ।

ज्ञानकी परिभाषामें न्याय-आदि दर्शनकारोंका अभिमत है कि—  
“जब विषयोंका इंद्रियोंके साथ, इंद्रियोंका मनके साथ और मनका  
आत्माके साथ संबंध होता है, तभी ‘ज्ञान’ उत्पन्न होता है ।

दुबिधा और ग्यानके प्रयोग, यथा—

“गई न मन तें ‘दुबिधा’ अबतक, खोटे और खरेकी ।”

—ज्ञानदास

“निरगुन-‘ग्याँन’ सिखावन आयौ ………।”

—सूरदास

४५

भँमर—भ्रमर, भौरा, भँवरा, अलि, षट्पद मधुप, भृंग,  
मधुव्रत ।

“मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालितः ।

द्विरेफपुष्पलिङ्भृंगषट्पदभ्रमरालयः ।”

—अमरकोश २ । ५ । २९

ब्रज-बनिता—ब्रजकी स्त्रियाँ, नारी । पुंज—समूह, झुंड ।

अरुन—अरुण, लाल । यथा—

“अव्यक्तरागस्त्वरुणः ………।”

अमरकोश—१ । ५ । १५

मधुप—भौरा, भ्रमर ।

भँमर, ब्रज-बनिता, पुंज, अरुन और मधुप शब्दके सुंदर  
प्रयोग यथा—

“भौनों परम अनूप कंज पै, ‘भँमर’ रह्यौ मढ़राइ ।”

—कुंभनदास

“आई जुरि ब्रज-बनिता’ चहुँ-दिस, घेर लए नँदलाल ।”

—कृष्णदास

“चितै रहीं छबि-‘पुंज’ स्याम कों, मन में प्रीति अपार ।”

—परमानंददास

“प्राची-दिसि नहिं ‘अरुन’ देखियतु, औ सुनियतु नहिं बन खग-रोर ।”

—गोविंदस्वामी

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

“काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसंगमम् ।

प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्त्वेदमब्रवीत् ॥

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ११

श्रीसूर कहते हैं—

“इहि अंतर मधुकर इक आयौ ।

निज सुभाव अनुसार निकट होइ, सुंदर-सबद सुनायौ ॥

पूँछन लागीं ताहि गोपिका, कुबजा तोहि पठायौ ।

कैधौ ‘सूर’ स्यामसुंदर कौ, हमें सँदेसौ लायौ ॥”

—सूरसागर

४६

भ्रमर-प्रति उपालम्भ

( कथन )

घातें—चोटें, दाव, अवसर, अभिप्राय सिद्ध करनेकी चालें, कोई कार्य करनेके लिये अनुकूल अवसरकी खोज, दाँव-पेच, चाल, चालवाजी, कपटयुक्ति । कपटी—छली, खोटा, धोखेबाज, धूर्त, दगाबाज । नंद-किसोर—भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, नंदके किसोर बेटे, लाड़िले ।

घाते, कपटी और नंदकिसोर शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

“सूरस्याँम नागर नागरि सों, करत प्रेमकी ‘घाते’ ।”

—सूरसागर

“कपटी, कुटिल, सँघाती तेरौ, मधुकर कहा लजात ॥”

—परमानंददास

“होरी खेलि नेंकु नहिँ जानत, नागर ‘नंदकिसोर’ ।”

—माधौदास

श्रीसूर कहते हैं—

“मधुकर, का निरगुन ह्याँ गाबौ ।

ए प्रिय-कथा नगर-नारिनि सों, कहहु जहाँ कछु पाबौ ॥

जिन परसौ अब चरन हमारे, बिरह-ताप उपजाबौ ।

सुंदर-मधु-आँनन अनुरागी, नैननि आँनि मिलाबौ ॥

जँनति मरम नंद-नंदन कौ, और प्रसंग चलाबौ ।

हँम नाहिँन कँमला सी भोरीं, करि चातुरी मनाबौ ॥

अति बिचित्र लरिका की न्याँई, गुर-दिखाइ बौराबौ ।

ज्यों अलि कितव सुमन-रसलै तजि, जाइ बहुरि नहिँ आबौ ॥

नागर रति-पति ‘सूरदास’ प्रभु, किहि बिधि आँन मिलाबौ ॥

—सूरसागर

अथवा—

जा-जा रे भँवरा, दूरि-दूरि ।

तेरौ सौ अँग-रँग है उनकौ, जिन मेरौ चित कियौ चूरि-चूरि ॥

जब लगि तरुन-फूल महकति हैं, तब लगि रहत हजूरि-जूरि ।

‘सूर’ स्याँम हरि मतलब के मधुकर, लेत कली-रस घूरि-घूरि ॥”

—रागरत्नाकर

४७

लाजहु—लाज भी, लज्जा भी, शर्म भी । स्याँम—भगवान्  
श्रीकृष्णका नाम विशेष, काले, काले हृदयवाले ।

श्यामसे गोपियोंकी प्रीति कैसी थी—

“जित देखों, तित स्याँम मई है ।

स्याँम कुंज-वन, जमुनाँ स्याँमा, स्याँम गगन-घन-घटा-छई है ॥  
सब रंगनि में स्याँम भरौ है, लोग कहत यह बात नई है ।  
हौं बौरौ कै लोगन हीं की, स्याँम पुतरिया बदल गई है ॥  
चंद-सार रबि-सार साँवरौ, मृगमद स्याँम काँम बिजई है ।  
नीलकंठ कौ कंठ स्याँम है, मनोँ स्याँमता-बेलि-बई है ॥  
स्रुति कौ अच्छर स्याँम देखियतु, दीप-सिखा-पैँ स्याँम तई है ।  
नर-देबँनकी कौन कथा है, अलख-ब्रह्म-छबि स्याँम-मई है ॥”

अथवा—

“काँनन दूसरौ नाम सुनों नहिं, एकु ही रंग रँग्यौ इहि डोरौ ।  
धौंखँहूँ दूसरौ नाम कइँ, रसना-मुख-बाँधि हलाहल बोरौ ॥  
'ठाकुर' चित्तकी वृत्ति इहै, हम कैसेँहुँ टेक तजें नहिं भोरौ ।  
बाबरी वे अँखियाँ जरि जाहु, जो साँवरौ-छाँड़ि निहारती गोरौ ॥”

—ठाकुरशतक

इसके विपरीत—

“लाबत न अंजन, लगाबत न मृग-मद,  
कालिंदी के कूल न कदंब-तरें जात है ।  
हेरति न घन-गिरि-गहन वनक बैनी,—  
बाँधत रहत नीली-सारी ना सुहात है ॥

“गोकुल” तिहारी यै पाती बाँचि है जु कौन,  
ताहूँ मैं तौ कारे-आखरनि हीं की पाँति है ।  
जा दिन तें मिले वा गँमार-गूजरी तें काँन्ह,  
ता दिन तें कारौ रंग देखें अनखाति है ॥”

—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

गोपी-नाथ—गोपियोंके नाथ, रक्षक, सहायक । जदु-कुल—  
यदुकुल, यदुनामक क्षत्रियोंका कुल, पीढ़ी, यदुवंश ।

महाराज ‘यदु’ राजा ययातिके बड़े पुत्र थे, जो शुक्राचार्यकी कन्या देवयानीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे । ययातिको अपनी अवस्था न देनेपर उनके शापसे इनका राज्य भ्रष्ट हो गया था । पीछेसे इन्द्रकी कृपासे इन्हें पुनः राज्य मिला था । भगवान् श्रीकृष्ण आपके ही प्रसिद्ध वंशमें अवतरित हुए थे ।

लाजौ, स्याँम, गोपीनाथ और जदुकुल आदि शब्दोंका सुंदर प्रयोग, यथा—

“धोंधी”के प्रभु ‘लाजौ’ न लागत, खीजैंगी सास-ननदिया ।”

—धोंधीदास

“घरी-घरी ‘स्याँम’—मुख हेरि-हरि हँसिबौ ।”

—छीतस्वामी

“गोपीनाथ’ गुबिंद, कन्हार्ई, जसुधा-सुत, हलधर के भाई ।”

—लालदास

“हरि रुकमिनी लिएँ आवत हैं, इहि आनँद ‘जदुकुल’ हि सुनाबौ ।”

—सूरदास

श्रीसूरदासजी कहते हैं—

“काहे’ गोपीनाथ कहावत ।

जुपै मधुप, हरि हित् हमारे, काहे न गोकुल आवत  
सपने की पहिचाँनि जीय महिं, हमहिं कलंक लगावत।  
जो परि कृष्ण कूबरी रीझे, सो किनि नाम धरावत ॥  
ज्यों गजराज काज के औसर, औरें दसन दिखावत ।  
ऐसैं हम कहिबे-सुनिबे कों, ‘सूर’ अँनत विरभावत ॥”

अथवा—

“सुनि-सुनि ऊधौ, आवत हाँसी ।

कहाँ वे ब्रह्मादिक के ठाकुर, कहाँ कंस की दासी ॥  
इंद्रादिक की कौन चलाबै, संकर करत खबासी ।  
निगम आदि बंदाँजन जाके, सेस सीस के बासी ॥  
जाकेँ कमला रहत निरंतर, कौन गनेँ कुबजासी ।  
‘सूरदास’ प्रभु ददि करि बाँधे, प्रेम-पुंजि की ‘पासी’ ॥”

—सूरसागर

कोई कवि कहता है—

‘जो मथुरा हरि जाइ बसे, हमरे जिय प्रीति बनी रही सोऊ ।  
ऊधौ, बड़ौ सुख थैहू हमें, बरु नीकेँ रहैं वह मूरत दोऊ ॥  
हमरे हि नाँम की छाप परी, कछु अंतर बीच अहै नहिं होऊ ।  
राधिका-कृष्ण सभी तौ कहें, पै कूबरी-कृष्ण कहें नहिं कोऊ ॥’

—रागरत्नाकर

रसखानजी कहते हैं—

‘जानें कहा हम मूढ़ सबै, समुझी न तबै जबहीं बनि आई ।  
सोचत हैं मन-हिं-मनमें, अब कीजै कहा बतियाँ जगबाई ॥

नीचौ भयौ ब्रज कौ सब सीस, मलीन भई 'रसखान' दुहाई ।  
चेरी कौ चेटक देखहु री, हरि चेरौ कियौ धों कहा पढ़ि आई ॥'

—सुजान रसखान

कविवर आलम कहते हैं—

'वे तौ ऊधौ, परम पुनीत पुन्न पाइयतु,  
भावन प्रबीन प्यारे पावन दरस जू ।  
गाँव की अहीरी हम गोबर की बास भरीं,  
खरिऐ गँवारि गुन रूप ही न रस जू ॥  
कहैं 'कवि आलम' बिराजति वै राजा कान्ह,  
राजनि के राजा गुन पूरन दरस जू ।  
बिसरयौ बसेरौ बन-बीथी बरु ब्रज-बासी,  
अति मन-भाई पाई कुबजा सरस जू ॥'

—आलम-केलि

रसलीन कहते हैं—

'जो दासी के बस भयौ, जग कहाइ ब्रज-राज ।  
तिन की ए बतियाँ कहत, तुम्हें न आबत लाज ॥'

—रसप्रबोध

पद्माकर कहते हैं—

'आबत उसासी, दुख लगै अरु हाँसी, सुनि,  
दासी-उर लाइ कहौ को नहिं दहा कियौ ।  
कहै 'पद्माकर' हमारे जाँन ऊधौ उन-  
ततकौ, नमात कौ, न भ्रात कौ कहा कियौ ॥  
कगलिनि कूबरी कलंकनि कुरूप तैसी,  
चेटकनि चेरी ताके चित कौ चहा कियौ ।  
राधिका की कहिवत कहि दीजौ मनमोहन सों,  
रसिक-सिरोमनि कहाइ धों कहा कियौ ॥'

—जगद्विनोद

कविवर ग्वालजी कहते हैं—

‘प्रीति कुलीननि सों निबहै, अकुलीन की प्रीति में अंत उदासी ।  
 खेलत खेल गयौ अबहीं, हमें जोग-पठाइ बन्ध्यों अबिनासी ॥  
 त्यों ‘कवि ग्वाल’ बिरंचि-बिचारि कें, जोरी जुराइ दई अति खासी ।  
 जैसोई नंद कौ पालक काँन्ह, सो तैसिई कूबरी कंसकी दासी ॥’  
 ‘नंद कौ पालक हो पहिलें, फिर कंस की चेरी कौ चेरौ भयौ ।  
 ता कौ परेखौ कहा करिए भट्ट, लाखन-बार कौ हेरौ भयौ ॥  
 त्यों ‘कवि ग्वाल’ करै तौ कहा, फिर साँपिनि-सौत कौ घेरौ भयौ ।  
 नेह छली मनमोहन कौ- हम कों अलि, भूत कौ फेरौ भयौ ॥’  
 ‘ऊधव, एकु सँदेसौ इहै, कहि देउ तौ बात सयानी करौ ।  
 कूबरी कों ठकुराँनी करी, सो भलैं अपनी मन-माँनी करौ ॥  
 पै ‘कवि ग्वाल’ मुनासिब औरहूँ, सोऊ जरूर प्रमाँनी करौ ॥’  
 लाँगरी, लूलरिनि, आँधिरी, काँनिनि, राँनिनि में पटराँनी करौ ॥’  
 ‘राधिका के मिलबे कों गुबिंद, कितेकि दिनान लों देह ही ताँसी ।  
 प्रीति करी, रस-रीति करी, भरी नाँहीं में हाँ, बस हाँ हिय नाँसी ॥  
 यौ ‘कवि ग्वाल’ बिसाल बड़ाइ कें, छाँडि गयौ सिगरी गुन-गाँखीं ।  
 दासी की फाँसो फँसाइ गरें, अबिनाँसी बन्ध्यों यह आवत हाँसी ॥’

—कवि हृदयविनोद

हमारे स्वर्गीय कवि श्रीनवनीतजी कहते हैं—

‘कहै सकल गोपी अहो, तजीं पुरंध्री-बाँम ।

अब सैरंध्री-पति भयौ, बोर-यौ जदु-कुल-नाँम ॥’

—गोपीप्रेमविभूषणप्रवाह

४८

मधुकारी—मीठा उत्पन्न करनेवाला—बोलनेवाला\* । बधकारी—  
 बध करनेवाला मारनेवाला । घात—प्रहार, धोखा, चोट, मार, जरब ।

\* मधुकारी—मधु करोतीति संचित्य, निष्पादयति—इति मधुकारी ।

मधुकारी, बधकारी, घात आदि शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

मधुकर बृथाँ बने 'मधुकारी ।' --अनन्य अली  
 'या सराप तें भए स्याँमघन, प्रेमिनि के 'बधकारी' ॥'

—भानदास

'डोलत 'घात' करत या ब्रज में, का मधुकर बै रीति ।'

—लोकनायक

कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

'मधुकर, भलें आए बीर ।

दरस दुरलभ सुलभ पाए, जाँनि हौ पर-पीर ॥  
 कहत बचन बिचारि बिनवों, सोधि हौ मन-माँहिं ।  
 प्राँनपति की प्रीति कहु कछु, है कि हमसों नाँहिं ॥  
 कौन तुमसों कहै मधुकर, कहन जोग जु नाँहिं ।  
 प्रीति की कछु रीति न्यारी, जाँनिहौ मन-माँहिं ॥  
 नैन-नाँद न परै निसि-दिन, बिरह-दाही देह ।  
 कठिन निरद्वै नंद कौ सुत, जोरि तोरौ नेह ॥  
 कौन तुमसों कहै मधुकर, गुप्त-प्रघट सु बात ।  
 'सूर' के प्रभु क्यों बनें जो करै अबला-घात ॥'

अथवा—

'मधुकर, राखि जोग की बात ।

कहि-कहि कथा स्याँमसुंदर की, सीतल करि सब गात ॥  
 जेइ निरगुन गुन-हीन गनेँगौ, सुनि सुंदर अलसात ।  
 दीरघ नदी नाउ कागद की, को देख्यौ चढ़ि जात ॥  
 हम तन-चितै हेरि अपनों पट, देखि पसारै लात ।  
 'सूरजदास' बास-गुन-बसिकें, कैसेँ कल्प बिहात ॥'

—सूरसागर

घनानंदजी कहते हैं—

‘अधिक-बधिक तें सुजाँन रीति रावरी है,  
 कपट-चुगौ दै !फिरि निपट करौ बुरी ।  
 गुँननि-पकरि लै निपाख करि छोरि देहु,  
 भरहि न जीय महा बिषम दया छुरी ॥  
 हों न जानों कोंन धों हैं यामें सिद्धि स्वारथ की-  
 लखी क्यों पटनि प्यारे, अंतर-कथा दुरी ।  
 कैसें आसा-द्रुम पै बसेरौ करें प्राँन-खग,  
 बनक निकाई ‘घनआनँद’ नई जुरी ॥’

—सुजानसागर

रसनिधिजी कहते हैं—

‘रसनिधि’ कारे काँन्ह वे, रहे मधुपुरी छाड़ ।  
 बिष उगलत ऊधौ फिरै, अचरज लखि इहि आइ ॥’

—रतनहजारा

भारतेन्दुजी कहते हैं—

‘ऊधौ जू, सूधौ गहौ वह मारग, स्याँम की तेरे जहाँ गुदरी है ।  
 कोऊ नहिं सिख माँनिहैं ह्यौं, इक स्याँम की प्रीति प्रतीत खरी है ॥  
 ए ब्रजबाला सबै इक सी, ‘हरिचंद्र’ जू मंडिली ही बिगरी है ।  
 एकु जाँ होइ तौ ग्याँन सिखाइए, कूप-ही मैं यहाँ भाँग परी है ॥’

—प्रेममाधुरी

रहीमजी कहते हैं—

‘अमृत ऐसे बचन मैं, ‘रहिमन’ रिसि की गाँस ।  
 जैसें मिसिरी मैं मिली, निरस बाँस की फाँस ॥’

—रहीम रत्नावली

४९

किंकिनि—कटि, कमरका आभूषण विशेष, करधनी, क्षुद्रघंटिका, किंकिणी ।

‘किंकिणी’ क्षुद्रघण्टिका ।’

—अमरकोष २ । ६ । ११०

वा पुर—उस पुर, नगर, स्थान । गोरस—दूध-दही इत्यादि ! अथवा इन्द्रिय-रस ।

किंकिनि, वा पुर, और गोरस शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘कटि मैं बजति सु ‘किंकिनि, रुन-झुन, छबि बरनत नहि आवै ।

—चतुर्भुजदास

१. अथवा—किञ्चित् किणं शब्दान् करोतीति किंकिणी ।

२. इस शब्दके सुन्दर अर्थमें वियोगी हरिजीसे लेकर सभी सफल सम्पादकोंने बड़ी गड़बड़ी मचायी है । किसने तो इस शब्दका अर्थ—बापका किया है और किसीने वापुर वा वापुरी मान, अर्थ—बिचारा, बेचारा किया है । मालूम होता है इन महानुभावोंने श्रीनन्ददासकी इसी पदकी निम्न पंक्ति—आगे आनेवाली वा आगेवाली—

‘फिरि आयौ या देस’

पर ध्यान नहीं दिया है, नहीं तो ऐसा अनर्थ कभी न करते । ये पंक्तियाँ स्पष्ट ही उस अर्थका प्रतिपादन कर रही कि—उस पुरका—ग्रामका, नगरका गोरस ( दूध-दही ) चुराकर फिरि, पुनः इस देश आया । श्रीनन्ददासजीके उक्त पदांशमें ‘फिरि’ शब्दसे कुछ मधुर ध्वनि इसी बातकी पुष्टिके अर्थ, इसी अर्थको और भी उज्ज्वल बनानेवाली और भी निकलती है । अर्थात्—‘फिरि, या देस आयौ’ यानी पहिले तो यहाँसे चुरा-चुरूकर जैसे-तैसे गया पर वहाँ भी चोरीचारी कर फिर वापिस वही निन्दित कर्म करनेके निमित्त आया आदि-आदि ।

‘वा पुर’ बास बसाइ यहाँ धों कौन काज तुम आए ।

—रसिक किसोरी

“हमारें ‘गोरस’-दाँनि न होइ ।”

—चतुर-बिहारीदास

सूरदासजी कहते हैं—

“मधुप, तुम कहौ कहाँ ते आए ।

जाँनति हैं अनुमाँनि आपने, तुम जदुनाँथ पठाए ॥

वैसेहि बरन, बसन तन बैसेहि, बैसेहि भूषन सजिबजि ल्याए ।

लै सरबसु सँग स्याँम सिधारे, अब का पै पहिराए ॥

अहो मधुप, एकै मन सबकौ सु तौ उहाँ लै धाए ।

अब ह्याँ कौन सयाँन बहुरि ब्रज, जा कारन उठि धाए ॥

मधुवन की मानिनी मनोहर, तहीं जाहु जहँ भाए ।

‘सूर’ जहाँ लों स्याँम-गात हौ, जानि भलैं करि पाए ॥”

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके उक्त भावपर श्रीसूरका एक पद और देखिये,

जैसे—

“भूलति हौ कित मीठी बातँन ।

ए तौ अलि, उनहीं के संगी, चंचल-चित्त साँवरे-गातँन ॥

वे मुरली-धुँनि जग-मन मोहत, इनकी गुंज सुमन मधु-पातँन ।

ए षट्-पद, वे द्विपद चतुरभुज, काहू भाँति भेद नहिँ भाँतन ॥

वे नव निसि माँनिनि-गृह बासी, एहू बसत निसि नव जलजातँन ।

वे उठि प्रात अँनत मन-रंजन, ए उड़ि करत अँनत रस-रातँन ॥

स्वारथ-निपुन सद्य-रस-भोगी, जिनि पतियाहु बिरह-दुख-दातँन ।

वे माधव, ए मधुप ‘सूर’ कहि, दुहूँ नहिँ कोउ घट घातँन ॥”

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके इस भावपर खर्गीय सत्यनारायणजीकी बड़ी सुंदर रचना है, आप भ्रमर और भगवान् श्रीकृष्णकी तुलना, बराबरी करते हुए, समानता दिखलाते हुए कहते हैं—

“तैरौ तन घनस्याँम, स्याँम घनस्याँम उतै सुँनि ।

तेरी गुंजन सुरलि, मधुष, उत मधुर मुरलि-धुँनि ॥

पीत-रेख तब कटि बसै, उत पीतांबर चारु ।

बिपिन-बिहारी दोउ लसत, एकै रूप सिंगारु ॥”

—जुगलरस के चखा ।

५०

कपट—छल, प्रतारणा, धूर्तता, अयथार्थ-व्यवहार, शठता, दंभ, धोखा ।

“कपटोऽस्त्री व्याजदंभोपधयश्छद्मकैतवे ।”

—अमरकोष १ । ७ । ३०

ब्रज-वासिनी—ब्रजकी बसनेवाली, रहनेवाली, पतियाह—एतवार, विश्वास, प्रतीति, धारणा, भरोसा । लहे—लिये, लिये ।

कपट, ब्रज-वासिनी, पतियाइ और लहे शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

“हम सों ‘कपट’ औरनि के बस भए, हमारौ मरन तिहारों ख्याल ।”

—सूरदास

“आँई सब ‘ब्रज-वासिनी’ हो—नंद मैहैरी के धाँम ।” —चतुर्भुजदास

“लाख सोंह खाऔ मनमोंहन, अब न नेकु ‘पतियाइ’ ।” —ब्रह्मदास \*

\* प्रसिद्ध महाराज वीरबलका उपनाम ‘ब्रह्म’ था, जिसका कि आप कवितामें प्रयोग करते थे । इसी प्रकार आपका उपनाम ‘ब्रह्मदास’ भी मिलता है, इसका प्रयोग भी प्रायः पद साहित्यमें हुआ है । इस नामके पद ‘कीर्तन-कुसुमाकर’ ‘कीर्तन-रत्नाकर’ ‘नित्य-कीर्तन’ और ‘रागरत्नाकर’ में बहुत मिलते हैं तथा वल्लभ संप्रदायके मंदिरोंमें गाये जाते हैं ।

“मधुप, ‘लहे’ हम जानि सुमाधौ, कत तू करत बड़ाई ।” —चरनदास  
कुछ ऐसा ही सुमधुर भाव भागवतमें भी कहा है, जैसे—

“विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-  
रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दान् ।  
स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका,  
व्यसृजदकृतचेताः किंतु संधेयमस्मिन् ॥”

—श्रीद्भागवत १० । ४७ । १६

अर्थात्—

“तज पद, हट, जानें वौ कृतघ्नी बडौ हू,  
कपट-बिनय सीखी दूतता कृष्ण सों तू ।  
पति, सुत, घर छाँड़े जासु दासी कहाँई,  
उन हमहिं तजी हा, क्यों मिलें ताहि जाई ॥”

—कन्हैयालाल पोद्दार

श्रीसूर कहते हैं—

“मधुकर, हमहीं क्यों समुझावत ।  
बारंबार ग्यान-गीता ब्रज, अबलनि-आगें गावत ॥  
नंद-नँदन-बिनु कपट-कथा ए, कत कहि रुचि उपजावत ।  
स्रक-चंदन जो अंग छुधा-रत, कहि कैसें सुख पावत ॥  
देखि-बिचारि तुही जिय अपने, नागर हौ जु कहावत ।  
सब सुमनन पै फिरत निरखि करि, काहे कँमल-बँधावत ॥  
चरन-कँमलकर, नँन-कँमलकर, बदन-कँमल वरभावत ।  
‘सूरदास’ मनु अलि अनुरागी, किहि बिधि हौ अनुरागत ॥

—सूरसागर

गुसाँई तुलसीदासजी कहते हैं—

“हृदै कपट बरबेस धरि, बचन कहै गढ़ि-छोलि ।  
अबके लोग मयूर ज्यों, क्यों मिलिए मन-खोलि ॥”

“हँसनि-मिलनि-बोलनि-मधुर, कटु करतब मन-माँहि ।  
छुव जो सकुचै सुमति सो, ‘तुलसी’ तिनकी छाँहि ॥”

—साखीसंग्रह

वाई मीरा कहती हैं—

“जावौ हरि, निरमोहिड़ा रे, जाणी थारी प्रीति ।  
लगँन लगी जब और प्रीति छी, अब कुछ अँवली रीति ॥  
अमृत प्याइ बिषै क्यूँ दीजे, कूण गाँव री रीति ।  
‘मीराँ’ के प्रभु गिरिधर नागर, आप गरज रा मीति ॥

—शब्दसंग्रह

५१

मति-मंद—मंद-बुद्धि, कम-अक्ल, मूर्ख । छंद—जाल, ढंग,

अभिप्राय, मकर, व्याज ।

“.....अभिप्रायश्छंद आशयः ।”

—अमरकोष ३ । २ । २०

अथवा—

“अभिप्रायवशौ छंदौ..... ।”

—अमरकोष ३ । ३ । ८८

मतिमंद और छंद शब्दके सरस प्रयोग । यथा—

“जाहु चले ‘मतिमंद’ यहाँ तें, लै बिष-जोग-पिटारी ।”

—सूरदास

“हम जानति ‘छल-छंद’ तिहारौ, क्यों बातन बौलावत ।”

—कृष्णदास

श्रीसूर कहते हैं—

“मधुकर, काके मीति भए ।

त्यागें फिरत सकल कुसुमावलि, मालति भोरें लए ॥  
छिनकु बिछुरि कँमल-रति माँनी, केतकि कत बिधए ।  
छाँड़नु नेह नाहिं में जान्यों, लै गुन प्रघट नए ॥  
नूतन कदम, तँमाल, बकुल, बट, परसत जनम गए ।  
भुज-भरि मिलति उड़ति उदास ह्वै, गत स्वारस समए ॥  
भटकत फिरत पात, ड्रुम, बेलिनि, कुसुम, करंज भए ।  
‘सूर’ विमुख पद-अंबुज छाँड़े, विषै निविषबर छए ॥”

अथवा—

“मधुकर, काके मीति भए ।

दिबस चारि करि प्रीति-सगाई, रस-लै अँनत गए ॥  
डहकत फिरत आपने स्वारथ, पाखँउ अग्र दए ।  
चाँड़ सरें पहिचाँनति नाहीं, पीतम करत नए ॥  
मुड़ऊँ बाँटि मेलि बौराए, मनहरि हरिजु लए ।  
‘सूरदास’प्रभु दूत धरम दिंग, दुख के बीज बए ॥”

अथवा—

“मधुकर, बादि बचन कत बोलै ।

भापुन चपल, चपल कौ संगी, चपल चहूँ दिसि डोलै ॥  
इन बातन कों कौन पत्यै है, अंतर कपट न खोलै ।  
कंचन-काँच-कपूर-कटुखरी, एकु संग क्यों तोलै ॥  
अब अपनी-सी हमहिं दिखावत, मति भूलहु इहि जोलै ।  
‘सूर’ स्याँम-बिनु रतत बिरहनी, बिरह-दाग जनि छोलै ॥”

एक और—

“मधुकर, तुम रस-लंपट लोग ।

कँमल-कोस नित रहत निरंतर, हमहिं सिखावत जोग ॥

अपने काज फिरत बन-अंतर, निमिष नहीं अकुलात ।

पुहुप गएँ बहुरौ बल्लिन के नेंकु निकट नहिं जात ॥

तुम चंचल अरु चोर सकल अँग, बातन को पतियात ।

‘सूर’ बिधाता धन्न रचे इहि मधुप, साँवरे-गात ॥”

—सूरसागर

५२

अबलों—अवतक । विसेख्यौ—विसेखना, विशेष प्रकारसे वर्णन किया, व्यौरेवार वर्णन किया, निर्णय किया, निश्चित किया ।

सिंघ—सींग, शृंग । रसिकता—रसिकपना, रसज्ञता, सहृदयता ।

अबलों, विसेख्यौ, सिंघ और रसिकता आदि सरस शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

“दान दियौ ‘अबलों’ न मही कौ, आजु नई यै होत ।”

—रामदास

“देख्यौ नाँहि ‘विसेख्यौ’ ब्रज में, कपट चतुरई सगरी ।”

—जगन्नाथकविराय

“साजत सींघ सु माथे ऊपर अद्भुत रूप बनायौ ।”

—सूरदास

“‘रसिकता’ मोहन तुम्हरी झूठी ।”

—रसिक बिहारीदास

श्रीसूर कहते हैं—

“मधुकर, जाहि कहौ सुनि मेरौ ।

पीत-बसन तन-स्याँम जाल की, राखत परदा तेरौ ॥  
इहि ब्रज कों उपदेसँन आए, कत जो रहे करि डेरौ ।  
एते माँन इहि सखी, महासठ, छाँडत नाहिँन खेरौ ॥  
ऐसी बात कहौ तुम तिन सों, होइ जो कहिबे लाइक ।  
इहाँ जसोदा कुँअर हमारे, छिन-छिन प्रति सुखदाइक ॥  
ज्यों तू पुहुप-पराग छाँडि कें, करहि ग्राम बसिबास ।  
तौ हम ‘सूर’ इहै करि देखें, निमिष न छाँडे पास ॥”

—सूरसागर

अथवा—

“मधुकर, जाउ जहाँ तें आए ।

जाँनि लई सब कपट चतुरई, ब्रज ब्रजनाथ पठाए ॥  
जैसेई गुरु सिष्य हौ तैसेइ, बड़े भाग सों पाए ।  
प्रिय ‘नवनीति’ प्रीति बेलिन पै, जोग-अग्नि बरसाए ॥”

—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

५३

तरक-वितरकँन—अनिश्चित सिद्धांतको निश्चित करनेके लिये  
विवाद, शंका-समाधान, संदेह-निवृत्तिके उपाय, वाद-विवाद, बहस,  
सोच-विचार । अतीत—भूत, गत, अतिक्रांत, बीता हुआ ।

तरक-वितरकँन और अतीत शब्दके सुन्दर प्रयोग । यथा—

“तरक-वितरकनि मिलें न नेंकौ केतौहुँ रारि मचाऔ ।”

—धर्मदास

“वह ‘अतीत’ निरगुन, निस्संगी, अरथ-काँम नहिँ ब्यापै ।”

—दूलनदास

५४

चतुरंगी—प्रवीण, दक्ष, चतुर, चालाक, सब बातोंमें होशियार, छल-कपटयुक्त, छल-कपटमें प्रवीण । मुरारि—मुरारी, भगवान् श्रीकृष्ण-का नाम विशेष जो कि 'मुर' नामक दैत्य विशेषके मारनेसे पड़ा था । त्रिभंगी—तीन जगह, स्थानसे टेढ़, तीन स्थानसे टेढ़ा होकर खड़े होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ।

चतुरंगी, मुरारि और त्रिभंगी शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘मथुरा जाइ भए ‘चतुरंगी’, बातन के व्योहार ।’

—चरनदास

‘तुम बिनु मरत हाइ, ‘मुरारि ।’

—परमानंददास

‘ललित त्रिभंगी’ लखि वह मूरति, को न बिकै बिनु दाम ।’

—कृष्णदास

कुछ ऐसा ही भाव श्रीसूरने भी व्यक्त किया है—

‘आए माई, दुरंग स्याम के संगी ।

जे पहिलें रंग रंगे स्याम-रंग, तिनही की बुधि रंगी ॥

हमरी उनकी-सी मिलवत हमै, तातें भए बिहंगी ।

सूधी कहैं सबन समुझावत, ते साँचे सरबंगी ॥

औरनु कौ सरबसु लै मारत, आपुन भए अभंगी ।

‘सूर’ सु नाम सिलीमुख पीवै, जे घन-कवच उपंगी ॥’

अथवा—

‘मधुकर’ उनकी बात हम जानी ।

कोऊ हुती कंसकी दासी, कृपा करी भई रानी ॥

कुबजा नाम मधुपुरी बैठी, लै सुवास मन-माँनी ।

कुटिल, कुचील जनम की टेढ़ी, सुंदरि करि घर आँनी ॥

अब वौ नवलबधू है बैठी, ब्रज की कहत कहाँनी ।  
 'सूर' स्याँम अब कैसेँ पैऐ, जासों मिली सयाँनी ॥'

एक और—

'बर, उन कुबजा भलौ कियौ ।

सुनि-सुनि समाचार ए मधुकर, अधिक जुड़ात हियौ ॥  
 जाकौ हरि मन हरयौ रूप करि, हरयौ सु पुनि नदियौ ।  
 तिन अपनों मन हरत न जान्यों, हँसि-हँसि लोग जियौ ॥  
 और सकल नागरि-नारिन कौ, दासी दाव लियौ ।  
 'सूर' तनक चंदन-चढ़ाइ उर, श्री सरबसु जु पियौ ॥'

—सूरसागर

परम रसिक रसखानजी कहते हैं—

'रसखानि' यहै सुनि कें गुन कें, हियरा मन-दूक है फाटि गयौ है ।  
 जानति हैं न कछु हम छाँ, उन वाँ पढ़ि मंत्र कहा धों कियौ है ॥  
 साची कहैं जिय में जिन जाँनि कें जाँनत हौ जस कै सौ लियौ है ।  
 लोग-लुगाई कहैं ब्रज-माँहि, अहो हरि चेरी कौ चेरौ भयौ है ॥'

—सुजानरसखान

काविवर पद्माकरजी कहते हैं—

'सोच ना हमारे कछु त्यागें मनमोंहन के-  
 तन कौ न सोच जाँपै योंही जर जाइ है ।  
 कहै 'पद्माकर' न सोच अब एहू इहै'  
 आइ है तौ आइ है, न आइ है, न आइ है ॥  
 जोग कौ न सोच अरु भोग कौ न सोच कछु,  
 बैही बड़ौ सोच सो तौ सबनि सुहाइ है ।  
 कूबरी के कूबर में बेध्यौ है त्रिभंग ता-  
 त्रिभंग कों त्रिभंगी लाल कैसेँ सुरझाइ है ॥'

अथवा—

‘जैसे कों तैसे मिलै, तबहीं जुरत सनेह ।  
ज्यों त्रिभंग तन स्याँम कौ, कुटिल कूबरी देह ॥’

—जगद्विनोद

और—

गेह ना सुहात, हमें मेह से झरें हों नैन,  
स्याँम के सनेह देह-दसा भई दूबरी ।  
वे तौ बनवासी ग्वार नंद के कुँमार सखी,  
वौ तौ कंस-दासी बनी खासी महबूबरी ॥  
तौ हैं त्रिभंगी अरु वाके अंग कूबर में,  
मिले हैं उमंग दोऊ संग बन्यों खूबरी ।  
है सयाँनी, बरु आँनी कोऊ चेटक सों,  
स्याँम बने राजा अरु राँनी बनी कूबरी ॥’

‘चंदन लगाइ नँद-नंदन कों फंद डारि,  
भेद मुसिकाइ कहु कीन्ही धों ठगोरी है ।  
आली, प्रीतिपाली उन गनी न कुचाली क्यों हूँ-  
वे तौ बनमाली, वह माली की किसोरी है ॥  
जैसे हँ कपटी काँन्ह, तैसी छली वाहू जाँनि,  
हरयौ हिय हाथ ही में बाँधि प्रीति-डोरी है ।  
करी अरधंगी निज कुबजै त्रिभंगी स्याँम,  
वे अहीर, दासी वह, खासी बनीं जोरी है ॥’

—हजारा

५५

जोगी—योगी, योगसाधक, तपस्वी, आत्मज्ञानी, जो भले-बुरे  
और दुःख-सुख समान समझता हो, जिसमें न तो किसीके प्रति

अनुराग हो और न विराग हो, वह व्यक्ति जिसने योग सिद्ध कर लिया हो, वह व्यक्ति जिसने योगाभ्यास कर सिद्धि प्राप्त कर ली हो।

विशेष—योग-दर्शनमें अवस्था-भेदसे योगी चार प्रकारके कहे हैं। कल्पिक—अर्थात् जिसने योगाभ्यासका अभी आरंभ किया हो, जिसका ज्ञान अभी दृढ़ताको न पहुँचा हो। मधु-भूमिक—अर्थात् जो भूतों और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना चाहता हो। प्रज्ञाज्योति—अर्थात् जिन्होंने इन्द्रियोंको भली-भाँति जीत लिया हो। अतिक्रान्त-भावनीय—अर्थात् जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों, पर चित्तल्य बाकी रह गया हो।

कुब्जा—कुब्जा, कुबड़ी, स्त्री-विशेष, अर्थात् जिसके कूब निकला हुआ हो, महाराज कंशकी दासी, परिचारिका। मेला—तमाशा, कुछ देखनेको एकत्रित भीड़, रौला, समूह, समुदाय।

१. लड़का वा लड़की कुबड़े क्यों होते हैं, इसपर 'गर्भोपनिषद्' में कहा है—

‘व्याकुलितमनसोऽन्धाः खंजाः ‘कुब्जा’ वामना भवन्ति ।’

—गर्भोपनिषद् ३

अर्थात् रति-समयमें मन व्याकुल होनेसे संतान—अंधी, लँगड़ी-लूली, कुबड़ी और बॉनी होती है।

२. ‘मेला’ शब्दका जैसा कि अर्थ ऊपर किया गया है, शब्दार्थ ठीक होते हुए भी कुछ विपरीत-सा प्रतीत होता है। अतः यदि मेला शब्दको ‘मैला’ का अन्वय मान इसका अर्थ—गँदला, गंदा, अशुद्ध, अपवित्र, मलिन आदि किया जाय तो कुछ उचित प्रतीत होता है, क्योंकि तीर्थमें जाकर आत्मा वा देह स्नान-ध्यान और दर्शनादिसे पवित्र, शुद्ध और सुन्दर होती है, अपितु यहाँ इसके विपरीत हुआ है, अथवा जैसा तीर्थ—कुब्जा—टेढ़ा, मैला—अशुद्ध और वैसा ही उसका फल। यहाँ भी व्यासजी-द्वारा मेलाका अर्थ—मैला-गँदला, गंदा आदि है, जैसा कि नन्ददासजीने प्रयोग किया है।

मधुवन—व्रज-भूमिका वनविशेष, जो मथुरा नगरके पास तीन मील है, मथुरा नगरको भी मधुवन कहा जाता है । गाहक—ग्राहक खरीदनेवाला, चाहनेवाला । रावरे—महाराज, सरकार, आप ।

जोगी, कुबजा, मेला, मधुवन, गाहक और रावरे आदि सरस शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘जोगी’ होइ सो जोग बखानें ।’

—सूरदास

‘नए गुपाल नारि नई ‘कुबजा’ नौतम नेह ठयौ ॥’

—परमानंददास

‘भलौ कियौ इंद्रिन कों ‘मेला’ मथुरा तीरथ न्हाइ ॥ॐ’

—व्यासजी

‘मधुवन’ जाहि कान्ह कुबजा-सँग, मति भूलहुँ सुधि सातौ ॥’

—सूरदास

‘कंथा, सेली, भसँम औ माला, ‘इनकौ गाहक’ नाहिं ।’

—व्यासजी

‘जाहु-जाहु ‘रावरे’ इहाँ तें, कत बातन भरमैए ॥’

—गोपालदास

कुछ ऐसी ही मधुर बात सूरदासजी भी कहते हैं—

‘ऊधौ, बेगि मधुवन जाहु ।

हम बिरहनी नारि, हरि-बिनु, कोंन करै निबाहु ॥

तहीं दीजै मूर-परैना, नफा तुम कछु खाहु ।

जो नहीं ब्रज में बिकानो, नगर-नारी साहु ॥

‘सूर’ वै सब सुनति लैहें, जिय कहा पछिताहु ॥’ॐ

अथवा—

‘ऊधौ, तुम ब्रज पेंठि करी ।

लै आए हौ नफा जानिकें, सबै बस्तु अकरी ॥  
हम अहीर माँखन-मथि बेचें, सबन टेक पकरी ।  
इह निरगुन अनमोल की गठरी, अब किन करत घरी ॥  
इहि व्यापार वहीं जु सँमातो, हुती बड़ी नगरी ।  
‘सूरदास’ गाहक नहिं कोऊ, दिखयतु गरें परी ॥’

एक और—

‘जोग-ठगोरी, ब्रज न बिकै है ।

मूरी के पातन के बदलें, को मुक्ताहल दै है ॥  
यै व्यापार तिहारौ ऊधौ, यों हीं धरयौ रहि जै है ।  
जिन पै तें लै आए ऊधौ, तिनहीं पेट समै है ॥  
दाख छाँड़ि कें कटुक निबौरी, को अपने मुख खै है ।  
गुन करि मोहीं ‘सूर’ साँवरे, को निरगुन निबहै है ॥ —सूरसागर

श्रीनागरीदास कहते हैं—

‘ऊधौ, बृथाँ करत बकवाद ।

हम जाँन्यों तुम जाँनति नाहीं, रूप-सुधा-सुख-स्वाद ॥  
सकल ब्रज मोंहन-मई है, गोप, गोपी, गाइ ।  
तिनें तौ बिनु स्याँम-सुंदर, और नाहिं सुहाइ ॥  
तन हमारौ खंड-खंड करि, देहु भूमि में डारि ।  
न्यारे-न्यारे लिपटि जै हैं, लखि नागर नंद कुमार ॥\*

—नागरसमुच्चय

\* यही बात श्रीसूरने भी कही है, जैसे—

‘यह तन जो कोऊ फिरि बनावै ।

तऊ नंद-नंदन तजि प्यारौ, और न मन में आवै ॥

रहीमजी कहते हैं—

‘कहा काँन्ह तें कहिनों, सब जग साखि ।  
कॉन होत काहु कौ, कुबरी राखि ॥’

—रहीमरत्नावली

ग्याल कवि कहते हैं—

‘तजि ब्रज-बालनि कों मथुरा गयौ-तो-गयौ,  
वहाँ जाइ कॉन सौ सुजस जग-छायौ है ।  
करतो बिबाह जाति-पाँतिकी कुँमारी-सँग,  
तऊ हम जाँनती सुपंथ में सिधायौ है ॥  
‘ग्यालकवि’ जौ पै सुरत ही पै रींझि हुती,  
तौ पै भली जाति की न नारी पै लुभायौ है ।  
कूबरी कलंकिनि वा अंकिनि कों अंक लाइ,  
काँन्ह भलौ कुल कों कलंक तें लगायौ है ॥’

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

“जाहु जू, जाहु जू, दूरि हटौ, सौ बकै बिनु बात ही को अब यासों  
वा छलियानें बनाइ कें खासौ, पठायौ है याहि न जानें कहाँ सों ॥  
काहि करै उपदेस खरौ ‘हरिचंद्र’ कहै किन जाइकें तासों ।  
सो बनि पंडित ग्याँन-सिखावति, कूबरी हूँ नहिँ ऊबरी जासों ॥”

—प्रेममाधुरी

जो या तनकी तुच्चा काढ़ि कें, लैकरि दुंदुभि सजई ।  
मधुर उतंग सबद मुर निकसै, लाल, लाल हीं बजई ॥  
छूटें प्रान मिलै तन माँटी, द्रुम लागें तिहि ठाँम ।  
कह अब ‘सूर’ फूल-फल-साखा, लेति उठें हरिनाँम ॥’

—सूरसागर

५६

साधु—सज्जन, परोपकारी, कुलीन, आर्य, परमार्थी, महात्मा, संत, जो शान्त, सुशील, सदाचारी, वीतराग और परोपकारी हो, भला मनुष्य ।

“महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः ।”

अथवा—

“सुंदरं रुचिरं चारु सुषमं साधु शोभनम् ।”

अथवा—

“साधू रम्येऽपि च त्रिषु ।”

—अमरकोश

“साधुर्वार्धुषिके चारौ सज्जने चाभिधेयवत् ।”

—विश्वकोश

सिद्ध—देवता, देवयोनिविशेष, योगकी आठ सिद्धियाँ जिन्हें प्राप्त हों जिसका साधन पूर्ण हो गया हो, जो पूरा हो गया हो, करामाती, योगविभूतियाँ दिखानेवाला, मोक्षका अधिकारी, लक्ष्यपर पहुँचा हुआ—

“पिशाचो गुह्यकः ‘सिद्धो’ भूतोऽमी देवयोनयः ।”

—अमरकोश १ । १ । ११

अथवा—

“सिद्धे निर्वृत्तनिष्पन्नौ……।”

—अमरकोश ३ । १ । १००

भेंटि—भेंटकर, मिलकर, साक्षात्कार कर, गले लगकर, आलिंगन कर, छातीसे लगकर ।

साधु, सिद्ध और भेंटि शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

“इन लच्छन सों साधु जनावत, केहियतु बेद-पुराँन ।”

—चरनदास

“सिद्ध, देव, गँनधरब आदि लै, फूलन बरखा कीनी ।”

—कुंभनदास

“भेंटि’ गोप सब नंदबबा सों, निज-निज घर जु पधारे ।”

—परमानंददास

कुछ ऐसी ही बात उद्धव-प्रति गोपियोंसे श्रीसूरने भी कहलायी

है, जैसे—

“सब खोटे मधुवन के लोग ।

जिनके संग स्याँम-सुंदर पिय, सीखे हैं उपजोग ॥

भली करी उधौ, ब्रज आए, दुखयिन कों लै जोग ।

आसन ध्याँन नॅन-मूँदे तें, कैसें जात बियोग ॥

तुमहिं उनहिं यै भली बनि आई कुबजा सों संजोग ।

‘सूर’ सुबैद कहा लै कीजै, कहैं न जानें रोग ॥”

अथवा—

“मधुवन, सब कृतरय धरमीले ।

अति उदार, पर-हित डोलत हैं, बोलत बधन रसीले ॥

प्रथम आइ गोकुल सुफलक-सुत, लै मधु-रिपुहिं सिधारे ।

वहाँ कंस, ह्याँ हम दीनन कौ, दोनों काज सँवारे ॥

हरि कों सिखै, सिखावन हम कों, अब ऊधौ पग धारे ।

वहाँ दासी की रति-कीरति कै, यहाँ जोग बिसतारे ॥

अब तिहिं बिरह-समुद्र सबै हम बूडत चहँत नहीं ।

लीला सगुन नाँव हीं सुनि-सुनि, तिहिं अवलंब रहीं ॥

अब निरगुनहिं गहें जुबती जन, पारहिं कहौ गई कौ ।

‘सूर’ अकूर छ-पद के मनमें, नाहिंन त्रास दई कौ ॥”

अथवा—

“अब नीकें कै जानि परी !

जिनि लागि हुती बहुत उर-भासा, सोऊ बात निबरी ॥  
 वै सुफलक-सुत, ए सखि ऊधौ, मिली एकु परिपाटी ।  
 उन तौ वह कीनीं तब हम सों, ए रतन छुड़ाइ गहावत माँटी ॥  
 ऊपर मृदु, भीतर जु कुलिस-सम देखति के अति भोरे ।  
 जोई-जोई आबत वा मथुरा सों, एकु डारि से तोरें ॥  
 यहै सखी, पहिलें कहि राखी, असित न अपने होंहीं ।  
 ‘सूर’ काटि जौ माँथौ दीजै चलत आपने गोंहीं ॥”

एक और—

“तब तें बहुरि दरस नहिं दीन्हों ।

ऊधौ, हरि मथुरा कुबजा-घर, यहै नैम-व्रत लीन्हों ॥  
 चारि मास, बरखा के लीन्हें, मुनिहूँ रहत इक ठौर ।  
 दासी-धाम पावित्र जानिकें, नहिं देखत उठि और ॥  
 ब्रज-बासी सब ग्वाल कहत हैं, कित ब्रज छाँड़ि गए ।  
 ‘सूर’ सगुन ही जात मधुपुरी, निरगुन नाँम भए ॥  
 बाई मीरा कहती हैं—

“हो गए स्याँम, दूज रा चंदा ।

मधुवन जाइ भया मधुवनियाँ, हमपर डारा प्रेम रा फंदा ॥  
 भारी-बिरह जरै जी सारा, पीर न जानत नागर नंदा ।  
 ‘मीरा’के प्रभु गिरिधर नागर, अब तो नेह परा कछु मंदा ॥”  
 —मीरा पदावली

५७

संथा—पाठ, सबक, एक बारमें पढ़नेवाला अंश, अथवा एक बार पढ़ाया जानेवाला अंश । चटसार—चटसार, पाठशाला, विद्यालय, अध्ययन-गृह ।

संथा और चटसार शब्दोंके प्रयोग, यथा—

“पाँडे यह ‘संथा’ नहीं भूले ।” —ब्रजवासीदास

“तिन के सँग ‘चटसार’ पठायौ,  
राँम-नाँम सों तिन चित लायौ ।”

—सूरदास

श्रीसूर कहते हैं—

“ब्रज-जन सकल स्याँम-व्रतधारी ।

बिन गुपाल नहीं आँन उपासन, अनत कहुँ बिभचारी ॥  
जोग-पोट सिर भार बहन की कत ब्रज माँझ उतारी ।  
इतनिक दूरि जाहु चलि कासी, उहाँ बिकात अति भारी ॥  
ऐसे ग्यानहिं कौन छुवत है, मँडली अनन्य हँमारी ।  
जो प्रभु वह रस-रीति उपदेसी, सो क्यों जात-बिसारी ॥  
इहाँ मुक्ति कोऊ नहीं परसत, जदपि पदारथ चारी ।  
‘सूरदास’ प्रभु जुबति बृंद बर, दरसन की जु भिखारी ॥”

“ऊधौ, सूधें नैक निहारौ ।

हम अबलन कों सिखवन आए, सुनों सयाँन तिहारौ ॥  
निरगुन कहौ कहा कहियतु है, तुम्ह निरगुन अति भारी ।  
सेवत सगुन स्याँमसुंदर कों, मुकुति लही हम चारी ॥  
तब सालोक, सरूप, सयुज्जौ, रहति समीप सदाँई ।  
सो तजि कहति और की औरें, तुम्ह अलि बड़े अताई ॥  
हम मूरख, तुम्ह बड़े चतुरहौ, बैहौत कहा अब कहिये ।  
वे ही काज फिरत भटकत कित, अब मारग निज गहिये ॥  
अहो अग्याँनि, कतहिं उपदेसत, ग्याँन-रूप हमहीं ।  
निसि-दिन ध्याँन ‘सूर’ प्रभु कौ अलि, देखत जित-तित हीं ॥

—सूरसागर

नागरीदासजी कहते हैं—

“ऊधौ, चरचा करी न जाइ ।

तुम्ह न जानत प्रेम-पथ हम, कहत जिय सकुचाइ ॥

कथा अकथ सनेह की बिन उर न आवत और ।

बेद, स्मृति, उपनिषदन कों अब, रही नाहिंन ठौर ॥

मोंन ही में कहन ताकी, सुनत स्रोता—नेन ।

सोब 'नागर' तुम्ह न जानत, कहि न आवत बेन ॥”

—नागरसमुच्चय

दादू साहबका कहना है—

“दादू' राता राम का, पीवै प्रेम अघाइ ।

मतवाला दीदार का, माँगै मुक्ति बलाइ ॥”

“दादू' पाती प्रेम की, बिरला बाँचै कोइ ।

बेद-पुराँन-पुस्तक पढ़ें, प्रेम-बिना का होइ ॥”

“प्रीति जो मेरे पीव की, पेंठी पिंजर-माँहिं ।

रोंम-रोंम पीव-पिव करै, 'दादू' दूसर नाँहिं ॥”

—साखी-संग्रह

पुनीत प्रेमके पुजारी रसखान कहते हैं—

“लाज कौ लेप चढ़ाइ कें अंग, पचीं सब सीख कौ मंत्र सुनाइ कें ।

गारुडु है ब्रज-लोग थक्यौ, करि औषद बेसक सोंह दिबाइ कें ॥

ऊधौ सों को 'रसखानि' कहै, जिन चित्त धरौ तुम एते उपाइ कें ।

कारे-बिसारे कों चाँहैं उतार्यौ, अरे बिष बावरे, राख लगाइ कें ॥”

—सुजान रसखान

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

“रहें क्यों एक स्याँन, असि दोइ ।

जिन नैननि मैं हरि-रस छायाँ, तिहि क्यों भावै कोइ ॥

जा तन में रमि रहयौ मनमोंहन, तहाँ ग्यान क्यों आवै ।

चाँहों जितनी बात प्रबोधौ, हयौँ को जो पतियावै ॥

अमृत-खाइ अब देखि इनासन, को मूरख जो भूलै ।

‘हरीचंद्र’ ब्रज तौ कदली-बन, काटौँ तौ फिरि फूलै ॥”

—प्रेम फुलवारी

कोई कवि कहता है—

“मिल्यौ आइ हृदयै-सिंधु साँवरौ सलोंनों रूप-

कीजिए उपाइ दाइ काढ़े बिन कढ़ै ना ।

कहौँ किनि मूढ़ हमें बूढ़ प्रेम काँन्हर सों,

हैं रहयौँ अरूढ़ औरु-औरु बूढ़ बढै ना ॥

बाल-पन पाइ जु पढायौँ सो तौ आजहुँ पढ़ौँ,

फेरि कोट करैँ तौ हूँ आँन कछु पढ़ैँ ना ।

कहि बिन काँम कहौँ जोग कौ प्रसंग ऊधौँ,

स्याँम-रंग रँगीँ ता पैँ और रंग चढ़ैँ ना ॥

—हजारा

५८

परसि—स्पर्शकर, छूकर, ध्याकर, ध्यानकर । भुअंग—भुजंग,  
सर्प, साँप ।

परसि और भुअंग शब्दके सुंदर प्रयोग, यथा—

“परसि’ न अँग स्याँम सुंदर घन, वौ देखति कोऊ ठाढ़ी ।”

—चाचा वृंदावनदास

“मैया, मैं डसी ‘भुंगम’ कारे ।” —किसोरीदास

“मनहुँ सरोष ‘भुअंग’-भामिनि, बिषम-भाँति निहारि ।”

—तुलसीदास

अब जरा काले रंगकी करामात श्रीसूरसे सुनिये, जैसे—

“ऐसे, नंदराइ के बारे ।

इतनेनु जिनि पतियाहु सखी री, जितने हैं तन-कारे ॥

खेलत रंग संग बृंदावन, निमिष न होत नियारे ।

पैहलें सुख दारुन भए हमकों, दै जु गए दुख-भारे ।

उर ऊपर मींजति सारँग-रिपु, नैन-नीर बहु ढारे ॥

“सूरदास” प्रभु बेगि मिलौ, किमि टरत नहीं गुन-कारे ।”

अथवा—

“मधुकर, ये कारे की रीति ।

मन दै हरत परायौ सरबसु, करें कपट की प्रीति ॥

ज्यों षट्-पद अंबुज के दल में, बसति निसा रति-माँनि ।

दिनकर उएँ अनत उड़ि बैठत, फिरि न करत पहिचान ॥

भमन भुजंग पिटारें पाल्यौ, ज्यों जननी जिय तात ।

कुल-करतूत जाति नहिं कबहुँ, सहज सु डसि भजि जात ॥

कोकिल, काग, कुरंग, स्याँमघन, हमें न देखें भाबें ।

‘सूरदास’ अनुहारि स्याँम की, छिन-छिन सुरत कराबें ॥”

अथवा—

बिलगि जिनि मानों ऊधो, प्यारे ।

वौ मथुरा काजर की कोठरि, जे आबें ते कारे ॥

तुम्ह कारे, सुफलक-सुत कारे, कारे मधुप भँवारे ।

तिनहुँ माँझि अधिक छबि उपजति, वँमल-नैन मनियारे ॥

मानों नील-माँट में बोरे, लै जमुना-जु पखारे ।

ता गुन स्याँम भई कालिंदी, ‘सूर’ स्याँम-गुन न्यारे ॥”

अथवा—

“सखी री, स्याँम सबै इकसार ।

मीठे बचन सुहाए बोलत, अंतर-जारन-हार ॥  
 भँवर, कुरंग, काँम औ कोकिल, कपटिन की चटसार ।  
 कमल-नेन मधुपुरी सिधारे, मिटि गए मंगलचार ॥  
 सुनों सखी री, दोष न काहू जो बिधि लिख्यौ लिलार ।  
 इहि करतूत इनहिं की न्याँई, पूरब बिबिधि-बिचार ॥  
 उँमगी घटा नाँखि आबें, पाबस प्रेम की प्रीति अपार ।  
 ‘सूरदास’ सरिता, सर-पोखत, चातक करत पुकार ॥”

एक और—

ऊधौ, कारे सबहि बुरे ।

कारे की परतीति न कीजै, बिष के बुझे छुरे ॥  
 कारौ अंजन देति दगनि में, तीखी साँन धरे ।  
 नाग-नाथ हरि बाहर आए, फन-फन निरत करे ॥  
 कोइल के सुत कागा पाले, अपनोंई ग्याँन धरे ।  
 पंख लगे जब गए सुउड़िबे, अपने काँम सरे ।  
 ‘सूर’ स्याँम कारे मतबारे, कारे साँ काल डरे ॥  
 ललितकिसोरीजी कहते हैं—

“मधुकर, मेरे ढिंग जिनि आइ ।

तें हरिजाई बंस कलंकी, सब फूलँन बसि जाइ ॥  
 कारे सबै कुटिल जग-जाँने, कपटी निपट लबार ।  
 अमृत-पाँनि कर बिष उगलत हैं, अहि परतच्छ निहार ॥  
 देखति चिकनी सुभग चमकती, राखत मंजु बनाइ ।  
 कारी अनी बाँन की पेंनी, लगत पार ह्वै जाइ ॥  
 कारी निसि चोरनु कों प्यारी, औगुन भरी अनेक ।  
 ‘ललितकिसोरी’ प्रीति न करि हों, कारे साँ यै टेक ॥”

—लघुरसकलिका

कविवर रहीमजी कहते हैं—

“समझि मधुप, कोकिल की थै रस-रीति ।  
सुनहुँ स्याँम की सजनी, का परतीति ॥”

“रहिमन’ उजली प्रकृति कों, नहीं नीच कौ संग ।  
करिया-बासन कर गहें, कारिख लागत अंग ॥”

—रहीमरत्नावली

५९

अनुरागी—अनुरागयुक्त, अनुरक्त, प्रेमी, प्रेममें रँगे, प्रेम-मूर्ति ।  
कोंने गुन धों जाँनि—किस गुणको जानकर, तुम्हारे कौनसे कर्तव्य-  
को जानकर । पातकी—पापी, अपराधी, दोषी, पातक करनेवाला,  
कुकर्मी, बदकार, अधर्मी । अलिंद—भँवर, भ्रमर, भौरा । आरसी—  
मुँह देखनेका शीशा, आसी, दर्पण, आईना ।

अनुरागी, पातकी, अलिंद और आरसी शब्दके सुंदर प्रयोग ।

“भए लाल, ‘अनुरागी’ अब तौ छबि बरनी नहिं जाइ ।”

—गोविंददास

“जाहु ‘पातकी’ अलि, अब हयाँ ते, परसि न मोहिं सयाँने ।”

—चतुर्भजदास

“कहु ‘अलिंद’ स्याम की बातें ।” —सूरदास

“लै ‘आरसी’ लखौ मुख सुंदर, जहँ-तहँ पीक सुहाई ।”

—सूरदासमदनमोहन

दीनदयालगिरि कहते हैं—

“श्री हित स्याँम बने छली, भली पीत-छबि गात ।

अली कला निसि नहिं चली, गहयौ बली बिधि तात ॥

गह्यौ बली बिधि तात, बात वह जात रही है ।  
जो जन औरहिं छलै, निदाँन छलात वही है ॥  
बरनें 'दीनदयाल' मित्र-बिन जैहों अब कित ।  
तब तौ रचे प्रपंचरूप, कहि कपटी श्री हित ॥”

अव्यक्तिकल्पद्रुम

अथवा—

“मोहै मति सुमनाँ मनाँ, कहां बार-हीं-बार ।  
महा छली है मधुप यह, कहा करै इतबार ॥  
कहा करै इतबार, बाहरें भीतरु कारौ ।  
गनें न ठौर-कुठौर, चपल भरमें दिसि चारौ ॥  
ऐ री मेरी बीर, लालची यह रस कौ है ।  
सुनि या की धुनि मंद, माधुरी तें अति मोहै ॥”

—अनुरागवाग

६०

### कवि-कथन

गुविंद—गोविंद, भगवान् श्रीकृष्णका नाम-विशेष, विश्वको  
जाननेवाला, ज्ञानसिंधु ।

“दैत्यारिः पुण्डरीकाक्षो 'गोविंदो' गरुडध्वजः ।”

—अमरकोष १ । १ । १९

गोविंदो वासुदेवे स्यात्.....।”

—मेदिनीकोष

गोविंद शब्दका एक मधुर अर्थ और भी है—

“गां भुवं धेनुं स्वर्गं वेदं वा अविदत्-विंदति सा गोविंदः ।”

अथवा—

“गां विंदति इति गोविंदः ।”

अर्थात् जो गौ, इन्द्रिय, पृथ्वी, स्वर्ग और वेदकी रक्षा करे, प्राप्त करे, वह—गोविंद । अथवा गौओंका जो लाभकर्ता हो वह गोविंद, यथा—

नष्टां च धरणीं पूर्वमविदन् वै गुहागताम् ।  
‘गोविंद’ इति तेनाहं देवैर्वाग्भिरभिष्टुतः<sup>१</sup> ॥”

—महा० शा० ३४२ । ७०

“अहं किलेंद्रो देवानां त्वं गवामिंद्रतां गतः ।  
‘गोविंद’ इति लोकास्त्वां स्तोष्यन्ति भुवि शाश्वतम्<sup>२</sup> ॥”

—हरि वं० पु० २ । १९ । ४५

“गौरैषा तु यतो वाणी तां च विदयते भवान् ।  
गोविंदस्तु ततो देव मुनिभिः कथ्यते भवान्<sup>३</sup> ॥”

—हरि वं० पु० ३ । ८८ । ५०

१. मैंने पूर्वकालमें नष्ट हुई पातालगत पृथ्वीको पाया था, इसलिये देवताओंने मेरी अपनी वाणीसे ‘गोविंद’ कहकर स्तुति की ।

२. मैं देवताओंका इन्द्र हूँ और तुम गौओंके इन्द्र हुए हो, इसलिये भूमंडलमें लोग तुम्हें ‘गोविंद’ कहकर सर्वदा स्तुति करेंगे । श्रीमद्भागवतमें उक्त श्लोक इस प्रकार मिलता है । जैसे—

“अहमिंद्रो हि देवानां त्वं गवामिंद्रतां गतः ।  
गोविंद इति लोके त्वां गास्यन्ति भुवि मानवाः ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । २० । २४

३. गौ, यह वाणी है और आप उसे प्राप्त कराते हैं, इसलिये हे देव, मुनिजन आपको ‘गोविंद’ कहते हैं ।

गौ, गो शब्दके अर्थ, जिनमें वह प्रयुक्त होता है, जैसे—

“गौर्नादित्ये बलीवर्दे किरणक्रतुभेदयोः ।  
स्त्री तु स्यादिशि भारत्यां भूमौ च सुरभावपि ॥  
ऋत्स्त्रियोः स्वर्गवज्रांबुरश्मिदृग्वाणलोमसु ॥”

—केशव

अथवा—

“गौ स्वर्गे च बलीवर्दे रश्मौ च कुशले पुमान् ।  
स्त्री सौरभेयीदृग्वाणदिग्वाग्भूष्वप्सु भूमि च ॥”

—मेदिनीकोष

“स्वर्गेषु पशुवाग्वज्रदिग्नेत्रघृणिभूजले ।  
लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः……………॥”

—अमरकोष ३ । ३ । २५

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं नोदितो देवमातृभिः ।  
अभ्यर्षिचत दाशार्हं 'गोविद' इति चाभ्यधात् ॥

—श्रीमद्भागवत १० । २७ । २३

अर्थात् इन्द्रने देवता और ऋषियोंको साथ ले देव-मातासे प्रेरित भगवान् श्रीकृष्णका अभिर्षिचन कर 'गोविद' नाम रखा ।

गोविद शब्दके और भी अर्थ होते हैं, जैसे—

“गोभिर्वाणीभिर्वेदांतवाक्यैर्विद्यते योऽसौ पुरुषः ।  
विदति, यं पुरुषं तत्त्वज्ञा इति 'गोविदः ॥”

—शब्दकल्पद्रुम

अर्थात् जिसे तत्त्वज्ञानी वेदांत-वाक्य-द्वारा जाने अथवा जो वेदांत-वाक्यद्वारा स्वयं जाना जाय वह पुरुष—आदि पुरुष गोविंद कहकर नमन किया जाता है । यथा—

“गोभिरेव यतो वेद्यो गोविंदः समुदाहृतः ।” —विष्णुतिलक

अथवा वेद-वाणी और गो-भूमिका जाननेवाला ‘गोविंद’ कहा जाता है, यथा—

“गां वेदलक्षणां वाणीं गोभूम्यादिकं वा वेत्तीहि गौविंदः ॥”

—शब्दकल्पद्रुम

जैसा कि—गोपालतापिनीमें प्रतिपादित है—

“तदुहोचूः कः कृष्णो गोविंदश्च कोऽसाविति  
गोपीजनवल्लभः कः, का स्वहेति । तानुवाच ब्राह्मणः  
पापकर्षणो गोभूमिवेदविदितो गोपीजनविद्याकलाप-  
प्रेरकः । तन्माया चेति सकलं परं ब्रह्मैव तत् ।”

भरतादि मुनिके मत-अनुसार ‘गोविंद’ शब्दका अर्थ—

“गां विंदता भगवता गोविंदेनामितौजसा ।  
वाराहरूपिणा चांतर्विक्षोभितजलाविलम् ॥”

अथवा—

“विष्णुर्विक्रमणाद्वेवो जयनाज्जिष्णुरुच्यते ।  
शाश्वतत्वादनंतश्च गोविंदो वेदनाद्रवाम् ॥”

—महाभारत

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें गोविंद शब्दका अर्थ लिखा है—

“युगे युगे प्रणष्टां गां विष्णो विंदसि तत्त्वतः ।  
गोविंदेति ततां नाम्ना प्रोच्यसे ऋषिभिस्तथा ॥”

—प्रकृतिखण्ड

भृंग-संग्या—भृंगकी संज्ञाकर, भगवान् श्रीकृष्णको भृंग-भँवर, भौरा, भ्रमर मानकर, नाम देकर । संज्ञा, यथा—

“संज्ञा स्याच्चेतना नाम हस्ताद्यैश्चार्थसूचना ।”

—अमरकोष ३ । ३ । ३३

और भी जैसे—

“संज्ञा नामानि गायत्र्यां चेतनारवियोषितोः ।

अर्थस्य सूचनायां च हस्ताद्यैरपि योषिति ॥”

—मेदिनीकोष

लज्जा-लोपी—लज्जा-लोपकर, लज्जा छोड़कर त्यागकर, लज्जा-का परित्यागकर, शर्म त्यागकर, केशौ—केशव, भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, यथा—

“दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः”

—अमरकोष १ । १ । १८

केशव शब्दका अर्थ करते हुए—व्युत्पत्ति करते हुए आदि शंकराचार्य महाराज कहते हैं—

“केशसंज्ञिता सूर्यादिसंक्रांता अंशवः तद्वत्तया केशवः ।”

—वि० स० शां० भा० ८२

अर्थात् सूर्यादिके भीतर व्याप्त हुई किरणों केश कहलाती हैं, उनसे युक्त होनेके कारण भगवान् ‘केशव’ हैं, यथा—

“अंशवो ये प्रकाशंते नमते केशसंज्ञिताः ।

सर्वज्ञाः केशवं तस्मान्मामाहुर्द्विजसत्तमाः ॥”\*

—महा० शा० ३४१ । ४८

\* मेरी जो किरणें प्रकाशित होती हैं, वे केश कहलाती हैं, इसलिये हे सर्वज्ञ, द्विजश्रेष्ठ मुझे ‘केशव’ कहते हैं ।

अथवा ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामकी शक्तियाँ केश हैं, उनसे युक्त होनेके कारण भगवान् 'केशव' हैं, यथा—

“त्रयः केशिनः । मत्केशौ वसुधातले ॥”

अर्थात् भगवान् 'तीन' केशवाले हैं, मेरे दो केश ( शक्तियाँ ) पृथ्वीतलमें हैं । अथवा—‘क ब्रह्माका नाम हैं और मैं ( शिवरूपसे ) समस्त देहधारियोंका ईश हूँ, अतएव हम दोनों, अर्थात् ब्रह्मा और शिव आपके अंशसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिये आप 'केशव' हैं । यथा—

को ब्रह्मेति समाख्यात ईशोऽहं सर्वदेहिनाम् ।

आवां तवांशसम्भूतौ तस्मात्केशवनामवान् ॥

—हरिवंशपुराण ३ । ८८ । ४८

अथवा—

“केशौ ब्रह्मरुद्रौ अपि अनुकंप्यतया वाति-इति केशवः ।”

अर्थात् ब्रह्मा और रुद्रपर भी जो दया करता है—दयाका करनेवाला है, वह केशव है । अथवा—

को ब्रह्मा, ईशः रुद्रः, तौ आत्मनि स्वरूपे वयति प्रलये उपाधिरूपमूर्तित्रयं मुक्त्वा, एकमात्रपरमात्मस्वरूपेणावतिष्ठति इति केशवः ।’

अर्थात्—ब्रह्मा और रुद्र इन दोनोंका प्रलयकालमें उपाधिरूप ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप मूर्ति त्रय नाम त्यागकर केवल परमात्मा-स्वरूपसे आत्मारूप स्थित हो जाना अथवा हो जायँ वे 'केशव' । यथा—

‘अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत् परम् ।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥’

‘ऋतेऽर्थं यद् प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।  
 तद्विद्यादात्मनो मायां यथाभासो यथातमः ॥’  
 ‘यथा महांति भूतानि भूतेषूच्चावचेष्वनु ।  
 प्रविष्टान्यप्रविष्टानि तथा तेषु न तेष्वहम् ॥’  
 ‘एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः ।  
 अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदा ॥’  
 ‘एतन्मतं समातिष्ठ परमेण समाधिना ।  
 भवान् कल्पविकल्पेषु न विमुह्यति कर्हिचित् ॥’

अथवा—

‘के जले शववत् भातीति केशवः, प्रलयकाले क्षीरोद-  
 शायितया तथात्वम् इत्यर्थः ।’

अर्थात्—प्रलय-काल-समय क्षीरसागरमें सोनेके कारण जो शववत्  
 सुशोभित हों, वह केशव ।

केशव शब्दका एक अर्थ और भी होता है जैसे—

केशं केशिनं वाति हिनस्ति इति केशवः ।

अर्थात् केशी नामक दैत्यके मारनेसे आप केशी हैं—केशव  
 हैं । यथा—

‘यस्मात् त्वयैव दुष्टात्मा हतः केशी जनार्दनः ।

तस्मात् केशवनाम्ना त्वं लोके ज्ञेयो भविष्यसि ॥’

—हरिवंशपुराण

गोविंद, भृंग-संग्या,\* लज्जा-लोपी और केसौ शब्दोंका सुन्दर  
 प्रयोग, जैसे—

‘गोविंद माँगत हैं, दधि-रोटी ।’ —परमानंददास

\* उक्त शब्दका—वाक्यका प्रयोग नहीं मिला ।

‘बसत कहुँ, धावत हौ कतहुँ, सग-कुल-लज्जा-लोपी ।’

—भानदास

‘प्रनतिपाल ‘केसौ’ कमलापति ।’ —सूरदास

कुछ ऐसी ही बात श्रीशुक भागवतमें कहते हैं—

‘गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।

तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरवालययोः ॥’

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । १०

अर्थात् अपने प्रियके कर्मोंका गान करती हुई और उनके बाल-कैशोर अवस्थाके जो कार्य उनका स्मरण करती हुई लज्जा छोड़कर रुदन करने लगीं ।

श्रीनन्ददासजीकी—‘ता पाछें इक्वार हीं रोइ उठीं ब्रज-नारि’ रूप सूक्तिपर श्रीशुकने श्रीमद्भागवतमें और भी कहा है, जैसे—

‘इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।

रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः ॥’

—श्रीमद्भागवत १० । ३२ । १

अर्थात्—हे राजन्, इस प्रकार गोपियाँ गान करती हुई और नाना प्रकारका प्रलाप करती हुई श्रीकृष्णके दर्शनमें अत्यन्त लालसा लगा अति उत्तम स्वरसे रोदन करने लगीं । उत्तम स्वर, यथा—

‘सुस्वरं, करुणदीर्घस्वरेणेत्यर्थः ।’ —जीवगोस्वामी

अथवा—

‘सुस्वरं, निर्लज्जतया दीर्घस्वरेण रुरुदुः ।’

—श्रीरामनारायण

६१

सलिल—जल, पानी, यथा—

‘आपः स्त्री भूस्निवावादि ‘सलिलं’ कमलं जलम् ।’

—अमरकोष १ । ९ । ३

कंचुकी—वस्त्र-विशेष, जो कि ‘चोली’ कहलाता है और स्तनोंपर पहिरी जाता है । कंचुकी, चोली, अँगिया ।

‘स्त्रीणामंगरक्षिणी ।’ —हेमचंद्र

‘कंचुको’ वारबाणे स्यान्निर्मोके कवचेऽपि च ।

वर्धापकगृहीतांगस्थितवस्त्रे च चोलके ॥’

—मेदिनीकोष

मेंड़ि—घेरा, आड़, हद, सीमा । कूळ कौ तूँन भयो—  
किनारेका तिनका हुआ । कूळ—किनारा, तीर, तट, नदीके किनारे-  
का तृण, अर्थात् तिनका हुआ । कूळ, यथा—

‘कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु ।’

—अमरकोष १ । ९ । ७

मेदिनी कोषकार ‘कूल’ के इतने और अर्थ बतलाते हुए कहते हैं—

‘कूलं तटे सैन्यपृष्ठे तडागस्तूभयोरपि ’

—मेदिनीकोष

और तूँन, (तृण)—

‘शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम् ।’

—अमरकोष २ । ४ । १६७

१. उक्त पद्यमें तूँन वा तृणको व्रन मानकर कई सुसंपादकोंने इसके बड़े-बड़े विचित्र अर्थ किये हैं । कोई तो इसका अर्थ त्राण, रक्षक मानता है तो कोई औषधि और कोई किनारेका पेड़, द्रुम, वट मानता है, परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार उक्त शब्दका अर्थ यही उपयुक्त है ।

सलिल, कंचुकी, मेंडि-आदि शब्दका सुन्दर प्रयोग, यथा—  
‘इंद्रहिँ पेलि, करी गिरि-पूजा, ‘सलिल’ बरखि ब्रज-नाँऊ मिटाबौ ।’

—सूरदास

‘एक सोंधे भरी, छूटे बारन खरी, एक बिन ‘कंचुकी’ रीझि लपटी ।’

—हित भगवान

‘मनों सातकी ‘मेंडि’ बनाई, रुचिर कचँन के बीच ।’

—रसिकअनन्य

श्रीनंददासके उक्त सुमधुर भावपर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी-  
की भी सुन्दर सूक्ति है, जैसे—

‘हँमारे नैन बही नँदिया ।

बींती जानि औधि आवन की, जो हमसों बदिया ॥

अवगाह्यौ इन सकल-अंग ब्रज अंजन कों धोयौ ।

लोक, बेद, कुल-काँनि बहाई, सुख न लह्यौ खोयौ ॥

डूबत हों अकुलाइ अथाहँन, यहै रीति कैसी ।

‘हरीचंद’ पिय महाबाहु तुम, आछति गति कैसी ॥’

—प्रेमाश्रुवर्णन

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर कहते हैं—

‘जस, रस, मधुर-लुनाई ‘रतनाकर’ कों-

काँनन बरसि घटा घट लों नदी चली ।

बहि वृन पात लों तमाँम कुल काँनि गई,

गुरु-गिरि-रोक-टोक ह्वै जिमि रदी चली ॥

लाख-अभिलाख-भौर-भ्रामन गँभीर लगी,

उँमगि-उँमंग बाढ़ि करत बदी चली ।

धीरज-करार-फोरि, लज्जा-द्रुम-तोरि, बोरि,

नोकदार नैननि तें निकसि नदी चली ॥’

—शृंगारलहरी

अश्रु-वारि-वर्षापर कवियोंने बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ सृजी हैं,  
अश्रु-वारि-वर्षाकी विविध ब्रहारेँ बखान की हैं, झड़ी-सी लगा दी है ।  
इन सबमें प्रथम श्रीसूरकी नेत्रवारि-वर्षा देखने लायक है, जैसे—

‘नेन-घन रहत न एक घरी ।

कबहुँ न घटत, सदाँ पावस इहिँ लागति रहति झरो ॥  
बिरह-इंद्र बरसावत निसि-दिन, ब्रज पै अधिक करी ।  
ऊरध-साँस-समीर, तेज, जल, उर-भुबि उँमगि भरी ॥  
बूडति भुजा, रौंम-द्रुम, अंबर, अरु कुच उच्च धरी ।  
चलि न सकत पग पथिक रहे थकि, चंदन कीच खरी ॥  
रस-रितु मिटीं भई अब एकै, इहिँ बिधि उलटि परी ।  
‘सूरदास’ प्रभु तुमरे मिलन कौँ रितु-मरजाद तरी ॥’

—सूरसागर

अथवा—

‘सखी, इन नैननि तें घन हारे ।

बिनहीं रितु बरसतु निसि-बासर, सदाँ मलिन दोऊ तारे ॥  
ऊरध-साँस-समीर तेज अति, सुख-अनंग-द्रुम-डारे ।  
दिसँन-दसँन करि बसे बचँन-खग, दुख-पावस के मारे ॥  
ढरि-ढरि बूंद परति कंचुकि पै, मिलि-मिलि अंजन कारे ।  
माँनों परन-कुटी सिब कीन्हीं, बिबिधि रूप धरि न्यारे ॥  
सुमरि-सुमरि गरजत, जल-छाँड़त, अँसुवा सलिल जुधारे ।  
बूडत ब्रजहिँ ‘सूर’ को राखै, बिन गिरिधर बर प्यारे ॥’

—सूरसागर

प्रह्लाद कवि कहते हैं—

‘जोग-दैन गयौ हो बियोग-बारि-बारिध में-

डूबत बचों हों नाथ, नारी-नेन यों बहैं ।

गंग की सहस अधर-दुधार-धार,

इंद्र-क्रोप नाहिँ जो बचौगे गिरि कों गहैं ॥

सागर में न देख्यौ, ऐसौ देख्यौ ना अबनी पै कहुँ,  
 मुनिन पै अचैगौ नाहिं काँन-खोलिकें कहैं ।  
 'कबि प्रहलाद जू' मिलाप-सेतु बाँधौ नतौ-  
 बट के पतौवा पै रावरे भलें रहैं ॥'

रसिकशिरोमणि रसखानजी कहते हैं—

'आए कहा कहिकें कहिए, वृषभाँन-लली तें लला, दग-जोरत ।  
 ता छिन तें असुवाँन की धार, न तोरति जद्यपि लोग-निहोरत ॥  
 बेगि चलौ 'रसखाँन' बलाइ ल्यों, क्यों अभिमाँन तें भौंह-मरोरत ।  
 प्यारे, पुरंदर होहि न प्यारी, अभै पल आधिक में ब्रज-बोरत' ॥'

पुनीत प्रेमके पुजारी 'घनानंदजी' कहते हैं—

'घनआनंद' जीवन-भूरि सुजाँन की, कोंधँन हूँ ना कहुँ परसैं ।  
 नहिं जाँनिऐँ धौं कित छाइ रहे, इत चातक-प्राँन परे तरसैं ॥  
 बिन पावस सौ इन पावस होइ न, सु क्यों करिए अख सों परसैं ।  
 बदरा बरसैं ऋतु-में घिरकें, बिन पावस ए अखियाँ बरसैं' ॥'

१. रसखानके उक्त भावपर हजरत 'नू' फर्माते हैं—

'मुझे रोने नहीं देता तसव्वर तेरी आखों का ।  
 वगर-ना दोनों आलम को, डुवाता अपनी आँखों से ॥'

—नूहनारवी

२. उक्त भावपर कविवर 'ब्रह्म', अर्थात् प्रसिद्ध महाराज 'वीरबल' की भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

'काल्हि के काँन्ह गए मथुरा, मनो बीति गए जुग-बासर सै ।  
 बिरहागिनि, काम लगाइ दई, दै दसो-दिसि-देखि वही दरसै ॥  
 'कविब्रह्म' भनें मोहिं जाँन जरै सखि, स्याँम-घटा-नलसौ परसै ।  
 बिरही बरि बारहिं बार उठै, दग-नीर किधों घन धौं बरसै ॥'

कवि रघुनाथजी कहते हैं—

“आपुन के बिछुरे मनमोंहन, बीती अबहिं घरी एक कि द्वै है ।  
ऐसी दसा इतने में भई, ‘रघुनाथ’ सुने तें बड़ौ भै द्वै है ॥  
लाड़िली के अँसुवाँन कौ सागर<sup>१</sup>, बाढ़त जात मनो नभ द्वै है ।  
बात कहा कहिए ब्रज की, अब बूड़ौई द्वै है कि बूड़त द्वै है ॥<sup>२</sup>”

दो-एक संस्कृत सूक्तियाँ भी देखिये, जैसे—

“अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीत्वमुच्चैः  
सखि किल कुरुषे त्वं वाच्यतां मे मुधैव ।  
हृदयमिदमनंगागारसंगाद्विलीय  
प्रसरति बहिरंभः सुस्थितं नैतदश्रु ॥<sup>३</sup>”

१. ‘लाड़िलीके अँसुवाँन कौ सागर’ पर उर्दूके प्रसिद्ध कवि ‘सौदा’ साहबका एक शेर देखने लायक है, जैसे—

“समंदर कर दिया नाम, उसका नाहक सबने कह कहकर ।  
हुए थे कुछ जमा आँसू, मेरी आँखों से बह-बहकर ॥”

२. रघुनाथ कविके पहिले यही बात श्रीसूरने बड़े सुन्दर ढंगसे व्यक्त की है, जैसे—

“निसि-दिन बरसत नैन हमारे ।

सदौ रहति पावस-रितु हम पै, जब सौ स्याँम सिधारे ॥  
अंजन थिर न रहत अँखियन में, कर-कपोल भए कारे ।  
कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ, उर-बिच बहत पनारे ॥  
अँसुवा-सलिल भए पग थाके, बहे जात सित-तारे ।  
‘सूरदास’ बूड़त है ब्रज अब, काहे न लेति उबारे ॥

३. “कोई विरह-विधुरा-नायिका, सखीके पूछे जानेपर कि तू नित्य-प्रति—हर समय इतना क्यों रोती है’ । इसपर वह ( नायिका ) उत्तर देती

“अस्मत्प्रयाणसमये कुरु मंगलानि  
 किं रोदिषि प्रियतमे वद कारणं मे ।  
 हे प्राणनाथ विरहानलतीव्रताप-  
 धूमेन वारिगलितं मम लोचनाभ्याम् ॥”  
 “अंगानि मे दहतु कांतवियोगवह्निः  
 संरक्षतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः ।  
 हत्याशयाशशिमुखी गलदश्रुविंदु-  
 धाराभिरुष्णमभिषिञ्चति हृत्प्रदेशम् ॥”

हुई कहती है कि सखी, ऐसा—इतना रोज-ब-रोज क्यों रोती है—कहकर मुझे क्यों व्यर्थको बदनाम करती है । अरी, विरह-पीड़ासे अनभिज्ञ स्वस्थ-चित्तवाली, ये मेरी आँखोंमें आँसू नहीं है, अपितु कामाग्निसे पिघल-पिघलकर हृदय पानी हो नेत्रोंके पाइप-द्वारा फिल्टर होकर बाहर निकल रहा है—आ रहा है । यही बात कविसम्राट् बिहारीलालजीने अपनी सुमधुर भाषामें इस प्रकार कही है, जैसे—

“तच्यौ आँच अति विरह की, रह्यौ प्रेम-रस-भींजि ।

नैननि के मग जल बहै, हियौ पसीजि-पसीजि ॥”

—विहारीसतसई

१. “प्रदेश ( दूसरे देश ) गमनके समय पत्नीके रोनेपर पति पूँछता है कि हे प्रियतमे, मेरे प्रस्थान-समय—जानेके वक्त मंगलचार न कर तुम रो रही हो—इसका क्या कारण है ? यह बात सुनकर नायिका—प्रियतमा—उत्तर देती हुई कहती है, प्राणनाथ, आपकी विरह-वह्नि ( आग ) का उठा हुआ धूआँ इन आँखोंमें लगा है जिसके कारण मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े हैं और कुछ कारण नहीं है ।”

२. “कांतकी—प्रियतमकी वियोग वह्नि ( आग ) मेरे अंगोंको भले ही जला दे, किंतु हृदय-प्रदेशस्थित प्रियतमको वह उत्ताप ( भभका ) न लगे, इस आशयसे वह चंद्रमुखी, धाराप्रवाह अश्रु-जल बरसाकर अपने हृदयको सींच रही है—भिगो रही है ।”

“अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः ।  
अप्राप्य मानमंगे विगलाति लावण्यवारिपूर इव ॥”<sup>१</sup>

दो-चार उर्दू-साहित्यकी सूक्तियाँ देखिये, जैसे—

“तिफले-अश्रु ऐसा गिरा, दामाने-मिज़गॉ छोड़कर ।  
फिर न उट्टा कूचए, चाके-गिरेबाँ छोड़कर ॥”<sup>२</sup>

—जोड़

“फ़लक ने खूब खिड़मत ली, हमारे दीदये-तरसे ।  
कि हर आँसूने मूँ धोया, शबे-महतावे-हिजाराँका ॥”<sup>३</sup>

× × × ×

“मेरे अश्रुओं में हैं, या तेरे दंशने-मुसफ़्फ़ा में ।  
गुहर की आब, हीरे की तजल्ली, नूर तारे का ॥”<sup>४</sup>

—चाक

१. होमी गयी अग्निके धूँएसे धूमरित आँखवाली उस सुलोचना-नायिकाका सौंदर्य-जल ( आवदार पानी ) शरीरमें प्रतिष्ठा ( मान ) न पाकर आँसुओंके बहाने शर रहा है—निकल रहा है ।

२. तिफ़ल ( बालक ) आँसू, मातृरूपी पलकोंका पल्ला त्यागकर ऐसे गिरे कि फिर उठाये न उठे ।

३. आकाशने मेरे आर्द्र-आँसुओंसे समलंकृत नेत्रोंसे—आँखोंसे खूब सेवा ली, क्योंकि मित्रके विरहमें मैं रातभर रोया और अपनी आँखोंके हर एक अश्रुकणसे विरहाधिपति चंद्रदेवका मू धोया किया । तभी तो वह अधिकाधिक उज्ज्वल होता जा रहा है ।

४. तुझे अपनी दंत-पंक्तिकी सफ़ाईका बड़ा गुमान है—अभिमान है, पर यह तो बता कि मेरे आँसुओंसे बढ़कर क्या वे ( दंतावली ) सफ़ा हैं । मोतीकी आभा, हीरेकी दमक और तारों-जैसा प्रकाश तेरे दाँतोंमें है या मेरे आँसुओंमें ।

“वर मेरा, गर मैं न रोता तौ भी वीरौं होता ।  
बहर गर बहर न होता तो बयाबाँ होता ॥<sup>१</sup>”

—ज़ालिव

‘पुकारा कासिदे-अश्क आज, फ़ौजे-गम के हाथों से ।  
हुआ ताराज पहिले शहरे-जाँ दिल का नगर पीछे ॥  
‘सुनो मैं खूँ को अपने साथ ले आया हूँ और बाकी ।  
चले भति हैं उठते, बैठते, लड़ते-जिगर पीछे ॥<sup>२</sup>’

—नज़ीर

१. लोग कहते हैं कि मैंने अपने घरका रो-रोकर बहा दिया, मुझे अपनी आँखोंकी आँसुओंकी इस शक्तिसे तनिक भी इन्कार नहीं, किंतु इस कारण मैंने अपनी ही हानि की, इस बातको मैं कदापि नहीं मानता ? बेशक, मेरी आँखोंने आँसू बहा-बहाकर घरको साफ कर दिया—बहा दिया, परंतु वह ( आँसू ) ऐसा न भी करते तो भी मेरी बरबादीमें कुछ शक न था, क्योंकि पृथ्वीके दो ही जल और थल विभाग हैं । यदि आँखें आँसू न बरसातीं तो जल न होता—जलसे न बहता, बयाँबाँ होता, अर्थात् जंगल होता ।

२. विरहमें प्रेमीके नेत्रोंसे आँसुओंके साथ लहू भी—खून भी आने लगा है । अतः उससे यह जान पड़ने लगा कि अगर कुछ दिन यही हालत होती रही—नित्य-प्रति रोता ही रहा तो कलेजेके टुकड़े-टुकड़े होकर आँसुओंके साथ बाहर आने लगेंगे । इस भावको प्रदर्शन करते हुए कविवर ‘नज़ीर’ साहब फरमाते हैं कि—‘हरकारारूपी अश्रु यह सँदेसा लाया है कि आज प्रियतमके विरहकी सेनाने पहिले जान ( शरीर ) रूपी नगरको और इसके बाद दिल ( हृदय-पुर ) को लूट-मारकर चौपट कर डाला, अतएव उस ( जान और दिलकी प्रजारूप ) लहूको मैं अपने हमराह ( साथमें ) लिवा लाया हूँ और पीछे उठते-बैठते थकित-से जिगर ( कलेजे ) के टुकड़े चले आ रहे हैं ।’

‘यहाँ तक गिरिया में रोए सहर तक ।

गली-कूँचे में पानी है कमर तक ॥<sup>१</sup>’ —तजल्ली

‘अइक आँखों से पल नहीं थमता ।

क्या बला दिल-ही-दिल मैं आब हुआ ॥<sup>२</sup>’ —सोज़

‘मज़ा बरसात का देखो, तो आ बैठो इन आँखों में ।

शियाही है, सक्रैदी है, सक्रक हैं अब्रे-वाराँ हैं ॥<sup>३</sup>’

—कोई शायर

६२

### उद्धवकी प्रेम-दशाका वर्णन

गिलाँन—गलानि, मानसिक व्यथा, निंदा, अरुचि, श्रान्ति, चित्त-की शिथिलता या खिन्नता, रोग-निर्मुक्त, खेद । मनकी एक वृत्ति जिसमें अपने किसी कार्यकी बुराई या दोष आदि देखकर अनुत्साह, अरुचि और खिन्नता उत्पन्न होती है ।

१. मैं उसकी जुदायगीमें—बिरहमें यहाँतक रोया कि गली-कूँचोंमें मेरे आँसुओंका पानी कमर-कमर हो गया ।

२. अर्थ स्पष्ट हैं ।

३. ओ निष्ठुर प्रियतम, यदि बरसातका ही—वर्षाऋतुका ही आनंद लेना है तो मेरी इन आँखोंमें आकर क्यों नहीं बैठता, क्योंकि मेरी आँखोंमें वर्षा ऋतुसे रंजित घनघोर काली घटा है, उजेला है, ललाई है और पानीसे भरे पलकरूप बादलोंसे आच्छादित मेघ भी है ।

उक्त शेरको पढ़कर सैयद गुलामनवी ( रसलीन ) जीका यह दोहा बरबस याद आ जाता है । जैसे—

‘अमी, हलाहल, मद-भरे, सेत, स्याँम, रतनार ।

जियत, मरत, झुकि-झुकि परत, जिहिँ चितबत इकवार ॥’

विशेष—ग्लानि, साहित्य-शास्त्रमें वीभत्स-रसका एक स्थायी भाव है जो कि रति, परिश्रम, मनस्ताप, भूख और प्यास आदिसे उत्पन्न दुर्बलतासे होता है । साहित्य-शास्त्र इसे रसके व्यभिचारी-भावोंके अन्तर्गत भी मानता है, जैसे—

‘रत्यायासमनस्तापश्रुत्पिपासादिसंभवा ।  
ग्लानिर्निष्प्राणताकंपकार्यानुत्साहतादिकृत् ॥’

—साहित्यदर्पण ३ । १७०

अर्थात्—

‘भूँखहिं तें कि पियास तें, कै रति-स्त्रम तें अंग ।  
बिह्वल होत गिलाँनि सो, कंपादिक सुर-भंग ॥’

—जगद्विनोद

और उदाहरण, यथा—

‘घहरि-घहरि घन सघन चहूँ धाँ घेरि-  
छहरि-छहरि बिष-बूँद बरसाबै ना ।  
‘द्विजदेव’ की सों अब चूकि मति दाव अरे—  
पातकी पर्पीहा, तू पियाकी धुँनि गाबै ना ॥  
फेरि ऐसौ औसर न ऐहै तेरे हाथ परे-  
मटकि-मटकि मोर सोर तू मचाबै ना ।  
हों तौ बिन-प्राँन, प्राँन चँहति तज्योई अब-  
रूत नभ-चंद्र तू अकास चढ़ि धाबै ना ॥’

अथवा—

‘आजु लखी मृग-नेनी मनोहर, बेनी-छुटी छहरै छबि छाई ।  
टूटे हरा हियरा पै परे, ‘पदमाकर’ लीक-सी लंक लुनाई ॥’

१. कुछ ऐसी ही बात श्रीमद्भागवतमें लिखी है, जैसे—

‘.....देहवैवर्ण्यदौर्गन्ध्यस्वेदक्लमग्लानिरिति वयोऽवस्थाश्च  
भवन्ति ।’

—श्रीमद्भागवत ५ । २४ । १३

कै रति-केलि, सकेलि सुखै, कलि-केलिके भोंन तें बाहिर आई ।  
राजि रही रति आँखिन में, मन में धों कहा, तन में सिथिलाई ॥'

—जगद्विनोद

सिगरी—सिगरी, संपूर्ण, कुल, एकदम, सारी, समस्त ।  
निज-पात्र—यथार्थ-अधिकारी, सच्ची-अधिकारिणी, खास अधिकारिणी,  
प्रधान पात्रिणी । कृत-कृत—कृत्य-कृत्य, सफलमनोरथ, कृत-कृत्य,  
कृतार्थ, धन्य, यथा—

“कृतं कृत्यं कर्त्तव्यं येन ।”

अर्थात्, जिसका कार्य, काम समाप्त—खतम हो चुका हो,  
समाप्त कार्य । इस शब्दका प्रयोग प्रायः आदर, सम्मान और श्रद्धा  
सूचित करनेमें होता है ।

मैटि मल ग्याँन कौ—ज्ञानका मैल मिटाकर, ज्ञानके मैलका नाश-  
कर, मैटिकर, धोकर । मल, यथा—

“मलोऽस्त्री पापविट् किट्टानि .....।”

—अमरकोष ३ । ३ । १९७

“मलोऽस्त्री पापविट्किट्टे कृपणे त्वभिधेयवत् ।”

—मेदिनीकोष

गिलाँनि, सिगरी, निज-पात्र, कृत-कृत आदि शब्दोंका सुंदर  
प्रयोग, यथा—

१. मनुष्य-शरीरमें बारह ‘मल’ का वर्णन करते हुए कहा  
जाता है—

“वसाशुक्रमसृग्मज्जा मूत्रं विट्कर्णत्वग्गन्धाः ।

श्लेष्माश्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते मला नृणाम् ॥”—मेदिनीकोष

‘आबत गिलॉनि’ सुनति ए बातें, मधुकर, मॉन रहौ ॥”

—प्रियाशरणदास

“मोंहन, ‘सिगरी’ निसि कहाँ जागे ।”

—चतुरविहारीदास

“कहत कथा ‘निज-पात्र’ जानि सुक, ह्वै-ह्वै मुदित सु मन में ।”

—रामदास

“कृत-कृत’ भई भेष यै लखि कें, धन्न हमारे भाग ।”

—मानदास

श्रीनंददासजीकी इस परम मधुर सूक्ति—“प्रेम-बिबस्था देखि सुद्धि अति भक्ति प्रकासी, दुबिधा, ग्यान, गिलानि मंदता सिगरी नासी” पर पद्मपुराणकी एक सूक्ति स्मरण हो आयी है, जैसे—

“भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन  
सत्संगमेव लभते पुरुषो यदा वै ।

अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-

नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥”

—पद्मपुराण ६ । १९० । ७६

अर्थात्, जब बहुत जन्मके पुण्य-पुंजसे भाग्योदय होनेपर ही सत्संगकी प्राप्ति होती है, तब अज्ञानकृत मोह और मदरूप अंधकारका नाश हो विवेक ( सूर्य ) उदय होता है ।

६३

उद्धवका अपने प्रति कथन

मरँम—मर्म, रहस्य, मेद, अभिप्राय, आशय, स्वरूप, तत्त्व ।

मरजाद—मर्याद, रीति, प्रतिष्ठा, मान, नियम, पत, परिपाटी, विधि

“मर्यादा धारणा स्थितिः ।”

—अमरकोष २ । ८ । २६

रोप—निरोप, निरूपण कर, विवेचन कर, स्थिर कर, निर्णय कर, वितर्ककर, प्रकाशकर, विवेचनापूर्वक निर्णय कर ।

“आलोकः विचारः निदर्शनम् ।”

—मेदिनीकोष

निरूपण शब्दके लिये महाभारतमें लिखा है—

“प्रच्छन्ना हि महात्मानश्चरन्ति पृथिवीमिमाम् ।

दैवेन विधिना युक्ता शास्त्रोक्तैश्च निरूपणैः ॥”

—महाभारत व० प० ७१ । ३१

गोपिका—गोपोंकी स्त्रियाँ, ग्वालिनि, गोपांगना, अहीरिनि, ब्रजकी स्त्रियाँ, ब्रजमें रहनेवाली ।

“गोपीश्यामा गोपवल्ली गोपा गोपालिका च सा ।”

—वाचस्पतिकोष

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

“नखलु ‘गोपिका’ नन्दनो भवानखिलदेहिनामंतरात्मदृक् ।”

—श्रीमद्भागवत १० । ३१ । ४

गोपिका शब्दका एक अर्थ—रक्षण करनेवाली, छिपानेवाली और रक्षा करनेवाली भी होता है, जैसे—

“आत्मानं गोपयेत् या च सर्वदा पशुसंकटे ।

सर्ववर्णोद्भवा रम्या ‘गोपिका’ सा प्रकीर्तिता ॥”

—निरुक्ते

और इनका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा जाता है—

“गोपिकाः श्रुतयोऽभवन् ।”

—गोप्योपनिषद्

अथवा—

“गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेयाः स्वाधिजा गोपकन्यकाः ।

देवकन्याश्च राजेंद्रः न मानुष्यः कथंचन ॥”

—पद्मपुराण

और इनके नाम—

पूर्णरसा, रसमन्थरा, रसालया, रससुन्दरी, रसपीयूषधामा, रस-  
तरंगिणी, रसकल्लोलिनी, रसनायिका, अनंगमंजरी, अनंगमानिनी,  
मदयंती, रंगविह्वला, ललिता, ललितयौवना, अनंगकुसुमा, मदनमंजरी,  
कलावती, रतिकला, कलकंठी, अब्जास्या, रतोत्सुका, रतिसर्वस्या,  
रतिचिंतामणि ।

श्रुतिरूपा—

उद्रीता, रसगीता, कलगीता, कलखरा, कलकंठिता, विपंची,  
कलपदा, बहुमता, बहुकर्मसुनिष्ठा, बहुहरिः, बहुशाखा, विशाखा,  
सुप्रयोगतमा, विप्रयोगा, बहुप्रयोगा, बहुकला, कलावती, क्रियावती ।

मुनिस्वरूपा—

उग्रतपा, सुतपा, प्रियव्रता, सुरता, सुरेखा, सुपर्वा, बहुप्रदा,  
रत्नरेखा, मणिग्रीवा, अपर्णा, सुपर्णा, मत्ता, सुलक्षणा, सुरती, गुणवती,  
सौकालिनी, सुलोचना, सुमना, सुभद्रा, सुशीला, सुरभि, सुखदायिका ।

और गोपबाला—

चंद्रावली, चंद्रिका, कांचनमाला, रुक्ममालाव्रती, चंद्रानना, चंद्ररेखा, चांद्रवापी, चंद्रमाला, चंद्रप्रभा, चंद्रकला, सौवर्णमाला, मणिमालिका, वर्णप्रभा, शुद्धकांचनसन्निभा, मालती, यूथी, वासंती, नवमल्लिका, मल्ली, नवमल्ली, शेफालिका, सौगंधिका, करतूरी, पद्मिनी, कुमुद्वती, रसाला, सुरसा, मधुमंजरी, रंभा, उर्वशी, सुरेखा, स्वर्णरेखिका, वसंततिलका ।

—पद्मपुराण, पातालखण्ड

नित्य-प्रिया सहचारी—

चंद्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा, पालिका, खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विमला, लीला, कृष्णा, सारिका, विशारदा, तारावली, चकोरक्षी, शंकरी, कुंकुम ।

यूथ-पति—

चंद्रावली, सुशीला, शशिकला, चंद्रमुखी, माधवी, कदंबमाला, कुंती, यमुना, जाह्नवी, पद्ममुखी, सावित्री, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी, सर्वमंगला, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अंबिका, सती, नंदिनी, सुंदरी, कृष्णप्रिया, मधुमती, चंपा, चंदना ।

मर्रम, मरजाद, रोप और गोपिका शब्दके सुंदर प्रयोग ।

यथा—

“मर्रम’ की पीर न जानत कोई ।”

—अनन्यअली

“देखी सब ‘मरजाद’ तिहारी, बासर बरनत बीते ।”

—ज्ञानदास

“कहा ‘रोप’ रहे ए बातें, तनक बिचारौ मधुकर ।”

—सूरदास

“हरि सँग नचत ‘गोपिका’ रँग भीनी ।”

—परमानंददास

उक्त भावपर श्रीसूर कहते हैं—

“अब अति चकितबंत मन मेरौ ।

आयौ हो निरगुन उपदेसँन भयौ सगुन कौ चेरौ ।

मैं कछु ग्याँन कछ्यौ गीता कौ, तुमहिं न परयौ सुनेरौ ॥

अति अग्याँन जानिकें अपनों, दूत भयौ उन केरौ ॥

निज जन जाँनि हरि इहाँ पठायौ, दीन्हों बोझ वँनेरौ ।

‘सूर’ मधुप उठि चलयौ मधुपुरी, बोरि जोग कौ बेरौ ॥”

—सूरसागर

श्रीनंददास उक्त सूक्ति—“ए सब प्रेमासक्ति है रहीं लाज-कुल-लोप । धन ए गोपिका” —पर श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके प्रति भगवान् कहते हैं—

“न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां

स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।

या माऽभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः

संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । ३२ । २२

अर्थात्—

“तुम जो करी सो कोऊ न करै, सुनि नबल किसोरी ।

लोक-बेद की सुदृढ़-सृंखला तूँन-सँम तोरी ॥”

—नंददास

६४

मेंटि—मेट्रिकर, नाशकर, तोड़कर । परमआनंद—परमानंद, अत्यंत आनंद, विशेष सुख, बहुत बड़ा सुख । पटतर—बराबरी, समता, उपमा, उदाहरण, मिसाल, तुल्यता, सादृश्य कथन ।

मेंटि, परमानंद और पटतर शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘मेंटि सकल सुरपति की पूजा, गिरि कौ जग्य रचायौ ।’

—परमानंददास

‘परमानंद’ आजु गोकुल में, घर-घर बजत बधायौ ।’

—कृष्णदास

मुख ‘पटतर’ नहिं देंन स्यामँ कों कवि मति हूँ अति भूली ।’

—विट्ठलविपुल

कुछ ऐसी ही बात श्रीनारदने प्रेमका निरूपण करते हुए अपने ‘भक्ति-सूत्र’ में कही है, जैसे—

“अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः ।

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा ।

अमृतस्वरूपा च ।

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति”

१. यही बात श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान् कहते हैं—

“न पारमेष्ठ्यं न महेंद्रधिष्ण्यं

न सार्वभौमं न रसाधिवत्यम् ।

न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा

मय्यर्पितात्मेच्छति मद्भिन्नान्यत् ॥”

—श्रीमद्भागवत ११ । १४ । १४

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते,  
नोत्साही भवति ।”<sup>१</sup>

\*

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ।  
निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥”<sup>२</sup>

—नारदभक्तिसूत्र १—५, ७, ८

अर्थात्—“अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे । वह परमप्रेमरूपा है और अमृतरूप भी है । जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, भ्रमर हो जाता है—तृप्त हो जाता है । जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे विषयादि भोगोंकी प्राप्तिके निमित्त उत्साह ही होता है ।

वह—प्रेमाभक्ति कामना-युक्त नहीं है, क्योंकि निरोधस्वरूपा है । लौकिक और वैदिक कर्मोंके त्यागको ‘निरोध’ कहते हैं ।

१. श्रीशुक कहते हैं—

“यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।  
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥”

—श्रीमद्भागवत ६ । १२ । २२

२. कुछ ऐसी ही बात गोपियोंने भगवान्से कही है, जैसे—

“चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु  
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्

यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । २९ । ३४

श्रीशाण्डिल्य ऋषि भी अपने भक्ति-सूत्रमें यही बात कहते हैं, जैसे—

“अथातो भक्तिजिज्ञासा । सा परानुरक्तिरीश्वरे ।  
तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥”<sup>१</sup>

“तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥”<sup>२</sup>

—भक्तिसूत्र ११, २, ३, २२,

यहाँ भक्तिसे प्रेम वा अनुरागका ही अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि द्वेषसे प्रतिकूल होनेके कारण और रस शब्द-द्वारा प्रतिपादित होनेसे भक्तिका नाम ही अनुराग है—इसे ही प्रेम कहते हैं, जैसे—

“द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः ॥”

—शा० भ० सू० १६

१. अब भक्तिकी जिज्ञासा—विचार आरंभ करते हैं । वह भक्ति ईश्वरमें पूर्व अनुरागको कहते हैं । उसमें जो चित्त लगाता है वह अमृत-फल पाता है ।

२. इससे भक्ति ही मुख्य है, क्योंकि भक्तको कर्मश, ज्ञानी और योगियोंसे उत्तम कहा है । गीतामें भी यही बात कही गयी है, जैसे—

“तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।

कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥

योगिनामपि सर्वेषां मद्भक्तेनान्तरात्मना ।

श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ६ । ४६-४७

योगी, तपस्विओंकी, ज्ञानियोंकी और कर्मकाण्डियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, इसलिये अर्जुन, तू योगी हो । परंतु योगियोंमें मैं उसे ही सबसे श्रेष्ठ, उत्तम, युक्त समझता हूँ जो कि मुझमें अंतःकरण लगाकर श्रद्धा-सहित मुझे भजे—मुझमें ही ध्यान लगाये ।

सुंदरदासजी कहते हैं—

“न लाज तीन-लोक की, न बेद कौ कह्यौ करें ।  
न संक-भूत-प्रेत की, न देब-जच्छ तें डरें ॥  
सुनें न काँन और की, द्रसौ न और ह्छना ।  
कहै न बात और की, सुभक्ति-प्रेम-लच्छना ॥”



कबहुँक हँसि उठि नृत्त करै, रोवन फिरि लागै ।  
कबहुँक गद-गद-कंठ, सबद निकसै नहिं आगै ॥  
कबहुँक हृदै उमंग, बहुत ऊँचे-सुर गावै ।  
कबहुँक ह्रै मुख-मोंन, गगँन जैसौ रहि जावै ॥  
चित्त-बित्त हरि-सों लग्यौ, सावधान कैसें रहै ।  
यह प्रेम-लच्छना भक्ति है, सिस्य सुनों 'सुंदर' कहै ॥

—सुंदरविलास

६५

लघु-ग्याँन—अल्प ज्ञान, न कुछ ज्ञान, थोड़ा ज्ञान । मद-  
गर्व, अहंकार, अहंमन्यता, घमण्ड, अज्ञान, मतिविभ्रम, प्रमाद ।<sup>१</sup>

“मदोरेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः ।”

—विश्वकोष

१. साहित्यमें 'मद' भी एक संचारी भाव—व्यभिचारी भाव माना जाता है, जैसे—

संमोहानंदसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ॥”

—साहित्यदर्पण ३ । १४६

अर्थात् जिसमें बेहोशी और आनंदका संमिश्रण हो वह अवस्था 'मद' कहलाती है ।

व्याधि—व्याधि, रोग, पीड़ा, क्लेश, दुःख । यथा—

“स्त्री रुग्रजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः ।”

—अमरकोष २ । ६ । ५१

साहित्य-शास्त्रमें ‘व्याधि’ एक संचारी भाव भी माना जाता है, साहित्य-दर्पणमें लिखा है—

“व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोक्तम्पनादिकृत् ।”

—सा० द० तृ० प० १६४

ब्रज-भाषाके सुप्रसिद्ध कवि ‘पद्माकर’ मद् संचारीकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

“धन, जोबन, रूपादि ते, कै मदादि के पाँन ।

प्रघट होत ‘मद्’ भाव तहँ, औरें गति, बतराँन ॥

—जगद्विनोद

और उदाहरण जैसे—

“वृंदावन-बीथिनि में बंसीबट-छाँह अरी !

कौतुक अनोखौ एकु आज लखि आई मैं ।

लागौ हुतो हाट एकु मदन-धनी कौ, जहाँ—

गोपिँन कौ वृंद रह्यौ शूमि चहुँधाई मैं ॥

‘द्विजदेव’ सौदा की न रीति कछु भाँखी जाइ,

है रही जु नैननि उनमत्त की दिखाई मैं ।

लै-लै कछु रूप मनमोहन सों बीर-

वे अहीरनेँ गँवारी देति हीरन बटाई मैं ॥

—शृंगारलतिका

अथवा—

“बाँम तमासौ करि रही, बिबसि बारुनी सेइ ।

झुकति, हँसति, हँसि-हँसि झुकति, झुकि-झुकि, हँसि-हँसि देइ ॥”

१. बात, पित्त और कफ उत्पन्न ज्वरादिको ‘व्याधि’ कहते हैं ।

“निपट लजीली नवल तिय, बहकि बारुनी सेइ ।  
 त्यों-त्यों अति मीठी लगै, ज्यों-ज्यों ढीछ्यौ देइ ॥”

—बिहारीसतसई

व्याधि संचारीकी व्याख्या करते हुए पद्माकरजी कहते हैं—

“बिरह-बिबस कामादि तें, तन संतापित होइ ।  
 “ताही कों सब कबि कहति, ‘व्याधि’ कहावत सोइ ॥”

—जगदिनोद

और उदाहरण—

“बेदँन ए जानें कौन, बेदँन ए माँन कौन,  
 बेदँन उदोत होत छेद नए छाती है ।  
 पीकी बतियाँनि सुनि ती कें अति आँसुन की,  
 उमड़ी नदी-सी बड़ी नदी-सी सुहाती है ॥  
 सोक है सुहात, जाहि सोक है विषम-गात,  
 विष-विष मेख की लहर छहराती है ।  
 घूमि-घूमि गिरति, भुजनि-भरें झूमि-झूमि,  
 सखी-मुख चंद-चूमि-चूमि बिलखाती है ॥”

—कोई कवि

१. अथवा—

“तचै ताप वैवरन ह, दीरघ लेइ उसासु ।  
 भूँख, प्यास, सुधि, बुद्धि घटै, ‘व्याधि’ कहती हैं तासु ॥

—द्विजकवि

रोग और वियोगसे उत्पन्न मनके संतापको भी ‘व्याधि’ संचारी भाव कहा जाता है ।

अथवा—

देखि री आजु यै गोप-बधू, भई बाबरी नेंकु न देहि सँभारै ।  
माइ सुधायन देबँन-पूजति, सासु-सयाँनि सयाँन पुकारै ॥  
यों 'रसखान' घिरयौ सगरौ ब्रज, आँनके आँन उपाइ बिचारै ।  
कोऊ न मोंहन के करतें, यह बैरिनि-बाँसुरिया गहि डारै ॥”

—सुजानरसखान

एक और—

“पलनि प्रघट बरुनीनि बढि, नहिँ कपोल ठहराँइ ।  
ते अँसुवा छतियाँ परें, छनडनाइ छिप जाँइ ॥”

—विहारीसतसई

आधों-आधि—तनक भी, जरा भी, उसके समान नेक भी नहीं । तनक भी नहीं, बराबर नहीं ।

लघु-ग्याँन, मद, व्याधि और आधों-आधि' आदि सरस शब्दोंके सुंदर प्रयोग—

“अति लघु-ग्याँन जनात आपुनों, कहि निरगुँन की बातें ॥”

—सूरदास

‘मद’ भरिं अँखियाँ लाल, तिहारी ।”

—नागरीदास

“बाढ़ति ‘व्याधि’ तनकि बिछुरें सखि, होइ जु कछु अब होंनों ।”

—चतुरविहारी

कुछ ऐसी ही मधुर बात श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

१. इस शब्दका प्रयोग नहीं मिलता ।

“या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-  
 प्रेखेखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।  
 गायंति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकंठयो-  
 धन्या व्रजस्त्रिय उरुकमचित्तयानाः ॥”<sup>१</sup>

—श्रीमद्भागवत १० । ४४ । १५

श्रीनंददासजीकी उक्त सुमधुर सूक्तिके सदृश भर्तृहरिजीने भी एक बड़ी उत्तम उक्ति कही है, जैसे—

“यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदांधः समभवं  
 तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलितं मम मनः ।  
 यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशाद्वगतं,  
 तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मेव्यपगतः ॥”<sup>२</sup>

—नीतिशतक

श्रीसूर कहते हैं—

“भव अति पंगु भयौ मन मेरौ ।

पठ्यौ हौ निरगुंन उपदेसन, भयौ सगुंन कौ चेरौ ॥

जो कछु कह्यौ ग्यान-गाथा सो तुमहिं न परसत नेरौ ।

मैं सठ, बाद कियौ सो यों ही, कह्यौ-सुन्योँ उँन्ह केरौ ॥

१. जो दूध दुहने, दही मथने, कूटने, लीपने, छाँटने, बालकोंके खेने-घोने और बुहारने आदिके समय भी अश्रुपूर्ण, गद्गद् कंठ और अनुरक्त बुद्धिसे भगवान्का यशोगान करती हैं वे भगवान् श्रीकृष्णमें ही अपना मन लगाये रहनेवाली व्रजकी स्त्रियाँ धन्य हैं ।

२. जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्तकर हाथीके समान मदांध हो रहा था, उस समय मेरा मन “मैं ही सर्वज्ञ हूँ” ऐसा सोचकर घमंडमें चूर हो रहा था, परंतु जब विद्वानोंके पास बैठकर कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त किया तो मैं मूर्ख हूँ” ये समझनेके कारण ज्वरके समान मेरा दर्प दूर हो गया ।

मैं जान्यों नहिं प्रेम जु पलभरि, ह्यौ षट्मास बसेरौ ।  
‘सूर’ स्याँम पै आग्या दीजै, बोरि जोग कौ बेरौ ॥”

अथवा—

“मैं ब्रज-बासिनि की बलिहारी ।  
जिनके संग सदाँ क्रीडत हूँ, श्रीगोबरधनधारी ॥  
किनहूँ के घर माँखन चोरत, किनहूँ के संग दाँनी ।  
किनहूँ के संग धेनु चराबत, हरि की अकथ-कहाँनी ॥  
किनहूँ के संग जमुना के तट, बंसी-टेरि सुनाबत ।  
‘सूरदास’ बलि-बलि चरननि की, यै सुख नित मोहिं भाबत ॥”

—सूरसागर

६६

### उद्धव-अभिलाषा-कथन

धूरि<sup>१</sup>—धूलि, रज, रेणु । जीवन-मूरि—संजीवनी बूटी,  
जिलानेवाली जड़ी । अत्यंत प्रिय वस्तु । जीवन औषधी ।

धूरि और जीवनमूरि शब्दके सुंदर प्रयोग, यथा—

“लै उठाइ, अंचल गहि पोंछति, सबै ‘धूरि’ भरि देह ।”

—सूरदास

“रामदास’ कौ ठाकुर गिरिधर, ब्रज-जन ‘जीवन-मूरि ॥”

—रामदास

१. ब्रजरजकी—धूरिकी महिमा नागरीदासजीने बड़ी उत्तम वर्णन की है, जैसे—

“जद्यपि न्हात न अर्द्ध-गति, जाति च्यार हूँ पाँनि ।  
तदपि न तीरथ-जल कोऊ, ब्रजकी धूरि समौनि ॥”

—नागरसमुच्चय

कविवर रसखानजी भी कुछ ऐसी चाहना करते हुए फमति

—

“मानुष होंउँ तौ वही ‘रसखानि’ बसों ब्रज गोकुल-गाँव के शरँन ।  
जौ पसु होंउँ तौ कहा बस मेरौ, चरों नित नंद की धेंनु-मझारँन ॥  
पाहन होंउँ तौ वही गिरि कौ, जो धरथौ कर छत्र पुरंदर धारँन ।  
जौ खग होंउँ तौ बसेरौ करों मिलि कालिंदी-कूल-कदंबकी डारँन ॥”

—सुजानरसखान

श्रीहठीजी कहते हैं—

“गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन कौ,  
पसु कीजै महाराज नंद के बगर कौ ।  
नर कीजै तॉन जॉन राधे-राधे नाम रटै,  
तरु कीजै बट कूल-कलिंदी-कगर कौ ॥  
इतने पै जोइ कछु कीजिए कुँमर काँन्ह,  
राखिए न आँनि फेरि ‘हठी’ के झगर कौ ।  
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,  
तृन कीजै रावरेई गोकुल-नगर कौ ॥”

—राधामुधाशतक

परम प्रेमी ललित किशोरीजी कहते हैं—

“कँदम-कुंज ह्वै हों कबै, श्रीवृंदावन-माँहिं ।  
‘ललितकिसोरी’ लाड़िले, बिहरेंगे तिहिं छाँहिं ॥”

\*

“सुमन-बाटिका बिपिन में, ह्वै हों कब मैं फूल ।  
कॉमल कर दोउ भाँवते, धरि हैं बीनि दुकूल ॥  
मिलि है कब अँग छार ह्वै, श्रीवन-बीथिनि-धूरि ।  
परि हैं पद-पंकज बिमल, मेरे जीवन-भूरि ॥”

❀

“कब कालिंदी-कूल की, है हों तरुवर डार ।  
ललितकिसोरी, लादिले, झुलिहैं झूला डार ॥”

—लघुरसकलिका

कृष्णगढ़के महाराज श्रीनागरीदासजीने भी कुछ परम प्रेममयी  
अभिलाषाएँ की हैं, जैसे—

“कब बृंदावन-धरनि में, चरन परेंगे जाइ ।  
लौटि धूरि परि सीस पै, कछु मुखहूँ में पाइ ॥”

❀

“पिक, केकी, कोकिल कुहुँक, बंदर-बृंद अपार ।  
ऐसे तरु लखि निकट कब, मिलिहों बाँह-पसार ॥”

❀

“कबै झुकत मो ओर कों, ऐहें मद्-गज-चाल ।  
गर बाँहीं दीएँ दोऊ, प्रिया-नवल-नँदलाल ॥”

“कब दुखदाई होइगौ, मोकों बिरह अपार ।  
रोइ-रोइ उठि दौरि हों, कहि-कहि नंदकुमार ॥”

❀

“नेन द्रवें, जलधार बह, छिन-छिन लेति उसास ।  
रेंनि अँधेरी डोलिहों, गावत जुगल-उपास ॥”

❀

“चरँन छिदत काँटेनु तें, सवत रुधिर सुधि-नाहिं ।  
पूँछति हों फिरि हों तहाँ, खग, मृग, तरु, बन-माँहिं ॥”

❀

हेरत, टेरत डोलि हों, कहि-कहि स्याँम सुजाँन ।  
फिरत, गिरत बन-सघन में, थों ही छुटि हैं प्राँन ॥”

—नागरसमुच्चय

बुढ़ऊ व्यासजीकी अभिलाषा है कि भगवन्—

“ऐसौ, कब करि हौ मन मेरौ ।

कर करबा, हरबा गुंजन कौ, कुंजन-माँहिं बसेरौ ॥

भूँख लगै तौ माँगि खाऊँगौ, लखों न साँझ-सबेरौ ।

ब्रज-बासिन कें दूक जूँठ अरु घर-घर छाछ-महेरौ ॥”

—व्यासजीकी वाणी

रसिक अनन्य सहचरिशरणजीकी अभिलाषा है—इच्छा

—

“छित-पति मोल-पसु-पच्छिन्न, इहि बिधि कबै लहौगे ।

रबि-दुहिता, सुर-सरित-भूमि जिमि, रस उर कबै बहौगे ॥

पकरत भृंग कीट कों जैसें, तैसें कबै गहौगे ।

‘सहचरिसरन’ मराल मान-सर-मन इमि कबै रहौगे ॥”

“कहि कहि बचन बिहँसि माँथेपर, कर कों कबै धरौगे ।

करुनाकर चित-चोर कहावत, चित कों कबै हरौगे ॥

हरखि हँमारी आँखिन में सुख-सुखमा कबै भरौगे ।

‘सहचरिसरन’ रसिक आशिक मुहि, मोंहन कबै करौगे ॥”

—सरसमंजावली

परम प्रेमी जायसी कहते हैं—

“यह तन जारों छारिकै, कहीं कि पवन उड़ाव ।

मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहँ पाव ॥”<sup>१</sup>

—पद्मावत

१. जायसीके इस सुन्दर भावपर किसी भक्तप्रवरकी कुछ ऐसी ही अभिलाषाभरी सरस सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

पंचत्वं तनुरेति भूतनिवहाः स्वांशैर्मिलन्तु ध्रुवं-

धातारं प्रणिपत्य हंत शिरसा तत्रापि याचेवरं ।

उर्दू साहित्यके महारथियोंने भी अपने-अपने प्रेमियोंसे अमूल्य अभिलाषाएँ की हैं, उनमेंसे कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

“मुँह में गर पानी चुआवे, यार अपने हाथ से ।  
मर्ज की तल्लूसे शीरी-तर कोई शर्वत नहीं ॥”

अथवा—

“आँखें मेरी तलुओं से वह मल जाय तो अच्छा ।  
यह हसरते पा बोस निकल जाय तो अच्छा ॥” —ज़ौक

तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयांगन—  
व्योग्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालधृतेऽनिलः ॥

—सुभाषित

अर्थात्, यह गरूर-भरा शरीर पंचतत्त्वोंके पृथक्-पृथक् स्वकारणोंमें लय हो तो कृपाकर इतना कीजियेगा कि जल-विभाग तो उस सुन्दर सरोवर-में समा जाय जिसमें प्रियतम स्नान करता हो—पान करता हो और तेज-तत्त्व उस दिव्य दर्पणमें लीन करना जिसमें वह अपना मुखड़ा देखता हो । आकाश-तत्त्व उसके धरका चँदोवा बन जाय जिसमें वह रहता हो । पृथ्वी-तत्त्व उसके मनोहर मार्गमें मिल जाय जहाँ कि वह शनैः-शनैः पैर धरता हो । इसी प्रकार वायु-तत्त्व उस पंखेकी हवामें परिवर्तित हो जाय जिससे कि वह अपने श्रम-सीकर सुखाता हो ।

१. “मरते समय अगर मेरा प्यारा मित्र, अपने हाथसे जरी पानी मेरे मुँहमें चुआ दे—टपका दे, तो मौतकी कड़वाहटसे बढ़कर मेरी समझसे दुनियाँमें सचमुच कोई मीठा शर्वत नहीं ।”

२. वह मेरा प्यारा, मरते समय भी आकर अपने पैरके तलुएसे मेरी अभागिनी आँखें आकर मल जाय तो बहुत अच्छा हो; क्योंकि किसी तरह मेरे दिलसे उसके पैर चूमनेकी हसरत तो निकल जाय,—इच्छा तो पूर्ण हो जाय ।

“दफ़न करना मुझ को कूचए-यारमें ।

कन्न बुलबुल की बने गुलज़ार में ॥” —कोई शायर

आँखें जो खुल रही हैं मरने के बाद मेरी ।

हसरत यथा कि उनको, मैं एक निगाह देखूँ ॥ —मीर

निकल जाय दम तेरे कदमों के नीचे ।

यही दिल की हसरत, यही आरजू है ॥ —कोई शायर

एक और—

“कदंबकी छाँह हो, जमुना का तट हो ।

अधर मुरली हो, माथे पर मुकुट हो ॥”

“खड़े हों आप, इक बाँकी अदा से ।

मुकट झोके में हो, मौजे हवासे ॥”

“गिरै गरदन दुलककर पीत-पट पर ।

खुली रह जाँय ये आँखें, मुकट पर ॥”

“दुशाले की एबज हो ब्रजकी वह धूल ।

पड़े, उतरे हुए जहाँ सिंगार के फूल ॥”

मिले जलने को लकड़ी, ब्रज के बन की ।

छिड़क दी जाय धूली, या सदन की ॥”

अगर इस तौर हो अंजाम मेरा ।

तुम्हारा नाम हो, औ काम मेरा ॥ —कोई भक्त

६७

द्रुम—वृक्ष, तरुवर, खूब, पेड़ ।

“वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः ।

अनोकहः कुटः सालः पलासी द्रुद्रुमागमाः ॥”

—अमरकोश २।४।५

गुल्म—वृक्ष विशेष, झाड़ी, शाखा-शून्य वृक्ष, ठूठ । यथा—

“अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ .....।”

—अमरकोश २।४।९

अप्रकांड—शाखारहित वृक्षकी परिभाषा लिखते हुए 'भरत' भगवान् लिखते हैं, कहते हैं—

“अविद्यमानप्रकाण्डस्तनुप्रकाण्डो वा बहुपत्रवान् मल्लीश्लिटी—  
नलकमलवंशवीरणादिर्मूलादारभ्य पूर्वभागः प्रकाण्डः ॥” —भरतमते  
अथवा—

“गुच्छगुल्मंतु विविधं तथैव तृण जातयः । —मनुः  
गुल्मकी व्याख्या—परिभाषा लिखते हुए 'कुल्लकभट्ट' कहते  
हैं । यथा—

“यत्र लतासूहा भवंति न च प्रकांडानि ते गुच्छा मल्लिका-  
द्यः गुल्मा एकमूलाः संघातजाताः ।” —अमरकोश टीका  
लता—बेल, बल्ली, बल्लरी । लता वह वृक्ष विशेष होता है  
जिसकी लंबाई तो बहुत हो, परंतु बिना आश्रय खड़ी न रह सके ।  
यह प्रायः सूत वा डोरीके माफिक पतला होता है और बिना सहारे ये  
नहीं बढ़ता या नहीं बढ़ती । अमरकोशमें इसके नाम यों लिखे हैं, जैसे—

“बल्ली तु व्रततिर्लता ।”

—अमरकोश २ । ४ । ९

बेली—बेल, बल्ली बल्लरी । वनस्पतिशास्त्रके अनुसार वे  
कोमल छोटे पौधे जिनमें काण्ड, अर्थात् मोटे तने नहीं होते और  
अपने बलपर ऊपरकी ओर उठकर नहीं बढ़ सकते<sup>२</sup> ।

१. न प्रकाण्डः स्कंधो यस्य स अप्रकांडः ।

२. श्रीनंददासजीने इस छंदमें—‘लता’ और बेली दोनों समानार्थवाची  
शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है जो कि उचित-सा प्रतीत नहीं होता । अथवा  
श्रीनंददासजीने इन शब्दोंको विभिन्न अर्थोंके द्योतनस्वरूप प्रयोग किया हो तो यह  
बात विचारणीय है । अमरकोशकारने तो इन दोनों शब्दोंको समानार्थवाची ही  
माना है, जैसा कि उदाहरणस्वरूप लिखा जा चुका है । पद्म चन्द्रकोषमें एक  
‘बेल’ शब्दका अर्थ ‘उपवन’ और मिलता है, परंतु इसकी पुष्टिमें न तो कोई

द्रुम, गुल्म, लता, बेली आदि मुरम शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, जैसे—

“अधिक झंकोर होत मेघँन की, ‘द्रुम’ तर छिन बिलमावत । मूरदास—

उदाहरण ही लिखा है और न इसकी व्युत्पत्ति । हेमचन्द्रने अपने कोषमें इस अर्थका प्रयोग करते उदाहरणमें लिखा है—

“अपोमभ्यां वनं वेलमारामः कृत्रिमे वने ।”

आपटे महोदयने अपनी संस्कृत-इंग्रेजी डिक्सनरीमें—कोषमें ‘बेल’ शब्दका ‘उपवन’ अर्थके अनंतर—‘कुंज’ अर्थ और माना है । अतः अर्थ जो कुछ हो, उक्त दोनों अर्थोंकी तो यहाँ संगति नहीं बैठती, परंतु लताका बड़ी बेली और ‘बेलि’ का—बेलीका छोटी-छोटी बेलें जैसे चमेली आदिकी अथवा पृथ्वीपर फैलनेवाली बेलें जैसे कुम्हड़ादिकी अर्थ मान लें तो फिर पुनरुक्ति दोष न आकर अर्थकी संगति बैठ जाती है । विशेष विश पाठकोंके ऊपर निर्भर है । एक महानुभावका कहना है कि लता पुष्पवती होती है और बेल नहीं, यह बात भी नहीं जँचती । ब्रजमें जिसे कि लता कहते हैं उसमें भी फूल हैं और बेलमें भी । एक महानुभावका कहना है—गुल्म और लता एक ही शब्द है पृथक्-पृथक् नहीं और इसका अर्थ ‘पीलू’ जो कि ब्रजका एक वृक्षविशेष होता है; परंतु उदाहरण वा प्रमाण देनेमें आप भी असमर्थ हैं । श्रीनंददासजीकी तरह लता और बेलीका साथ-साथ प्रयोग भी विशेष नहीं मिलता, केवल ‘भावन’ कविने अपने भ्रमरगीतमें इन दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है । जैसे—

“केकी जो बनाओ तौ बनाओ बनराज जू कौ;

नाच नाच, गाइ गाइ सुजस मुनाऊँ मैं ।

लता, द्रुम, बेली रँगरेली जो करौ तौ करौ—

रावरे ही आँगन में पुष्प-झर लाऊँ मैं ॥

जौ पै रज-रँनुका बनाओ मन भाओ यही—

तौ पै पद-पंकज कौ सीस पै धराऊँ मैं ।

यैही बर पाऊँ, ललचाऊँ श्री राधेरौनी,

बास दै निकुंजँन कौ तेरौई कहाऊँ मैं ॥

—पुरुषोत्तमदासजीसे प्राप्त

“गुल्म” ‘लता’ है रहिए इहि ठाँ, तन रंजित ब्रज-रेंनु ।”

नागरीदास

“जे ‘बैली’ ग्रीषम-ऋतु डारहीं, ते तरुबर लपटाँहीं ।”

—सूरदास

कुछ ऐसी ही शुभ चाहना श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीने भी की है, जैसे—

“आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां  
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।  
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा  
भेजुर्मुहुंदपदवीं श्रुतिभिविमृग्याम् ॥”<sup>१</sup>

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६१

अथवा—

“वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्षणशः ।  
यासां हरिकथोद्गातं पुनाति भुवनत्रयम् ॥”<sup>२</sup>

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६३

नागरीदासजी कहते हैं—

‘ऊधौ, बार-बार सिर नाबत ।

गद-गद कंठ, पुलकि बिह्वल है, कर पाँइन सों क्वाबत ॥

१. मैं इन गोपियोंकी-चरण-रेणु-रंजित वृन्दावनमें उत्पन्न गुल्म, लता और औषधमेंसे कोई भी हो जाऊँ—बन जाऊँ तो बड़ा उत्तम हो, क्योंकि इन्हीं ( गोपियों ) ने छोड़े जानेमें असमर्थ अपने पति-पुत्रादिक और स्मार्त-मार्गका त्याग कर वेदोंद्वारा ढूँढ़े जाने योग्य भगवान् कृष्णकी पदवी-को प्राप्त की ।

२. मैं, नन्द और ब्रजकी इन सब स्त्रियोंकी चरण-रजकी बार-बार बंदना करता हूँ, क्योंकि इनके गाये गये ‘हरिगीत’ त्रिभुवनको पवित्र करनेवाले हैं ।

धँन गोपी तुम रँगी स्याँम-रँग, तज्यौ सकल चित-चँन ।  
 गुल्म, लता हँ रहिए इहि ठाँ, तन रंजित ब्रज-रँन ॥  
 प्रेम-भक्ति-रस-सुधा पियों मैं, अब चित अँनत न जाइ ।  
 तुम मेरी गुरु, कखौ छमहुँ सब, परत तिहारे पाँइ ॥  
 यों कहि ऊधौ उठौ गवन कों, फेरि सकत नहिँ पीठि ।  
 'नागर' मन छौँ गए राखिकें, तँन पहुँचायौ नीठि ॥'

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

‘ब्रज के लता-पता मोहिं कीजै ।

गोपी-पद्-पंकज-पावन की, रज जामें सिर दीजै ॥

आवत जान कुंज की गलियँन, रूप-सुधा नित पीजै ।

श्रीराधे, राधे मुख यह बर, 'हरीचंद्र' कों दीजै ॥'

—प्रेममालिका

६८

साधु-संग—श्रेष्ठ पुरुषोंका संग, सोहवत, अच्छे मनुष्योंका साथ, उत्तम संतोंका साथ । पारस—एक कल्पित पत्थर जिसकी वावत कहा जाता है कि यदि उससे लोहा छुटाया जाय तो सोना हो जाय । संस्कृतमें इसका नाम—‘स्पर्शमणि’ कहते हैं। कंचन—सुवर्ण, सोना, यथा—

‘स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेमहाटकम् ।

तपनीयं शातकुंभं गांगेयं भर्म कर्बुरम् ॥’

‘चामीकरं जातरूपं महारजतकांचने ।

रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् ॥’

—अमरकोष २ । ९ । ९४, ९५

साधु-संग, पारस और कंचन आदि सरस शब्दोंका सुन्दर प्रयोग—

‘साधु-संग कबहूँ ना कीन्यों, रचत धंधे झूठ ।’

—नाभादास

‘पारस’ के संग ताँबा बिगरथौ ।

सौ ताँबा ‘कंचन’ हो निबरथौ ॥’

—कबीरदास

सत्संगति महिमाका वर्णन करते हुए भागवतमें महर्षि कहते हैं—

‘तुलयाप्त लवेनापि न स्वर्गं नापुर्भवम् ।

भगवत्संगिसंगस्य मर्त्यानां किमुताशिषः ॥’

—श्रीमद्भागवत १ । १८ । १३

आगे चलकर उद्धवके प्रति भगवान् कहते हैं—

‘न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।

न स्वाध्यायस्तपस्त्याग इष्टापूर्तं न दक्षिणा ॥’

‘व्रतानि यज्ञाश्छंशंसि तीर्थानि नियमायमाः ।

यथावरुन्धे सत्संगस्सर्वसंगापहो हि माम् ॥’<sup>१</sup>

—श्रीमद्भागवत ११ । २ । १, २

१. यदि भगवानमें आमक्त संतोंका क्षणभर भी संग प्राप्त हो तो उससे स्वर्ग और मोक्षतककी तुलना नहीं हो सकती; फिर अन्य अभिलषित पदार्थोंकी क्या बात ?

२. सम्पूर्ण आसक्तियोंको दूर करनेवाला सत्संग मुझे जिस प्रकार अपने वशमें करता है, वैसा न योग, न सांख्य, न धर्म, न स्वाध्याय, न तप, न त्याग, न इष्टापूर्त, अर्थात् बहुतोंकी भलाईके कार्य, न दक्षिणा, व्रत, न यज्ञ, न वेद, न तीर्थ और न नियम ही कर सकते हैं ।

पद्मपुराणमें कहा है—

‘भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन  
सत्संगमेव लभते पुरुषो यदा वै ।  
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार-  
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥’

—पद्मपुराण ६।१९०।७६

सत्संगकी मधुर महिमा गाते हुए अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

‘भक्तानां मम योगिनां सुविमलखान्तातिशान्तात्मनां  
मत्सेवाभिरतात्मनां च विमलज्ञानात्मनां सर्वदा ।  
संगं यः कुरुते सदोद्यतमतिस्तत्सेवनानन्यधी-  
मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं दृश्यो भवे नान्यथा ॥’

—अध्यात्मरामायण ३।४।५५

भर्तृहरिजी कहते हैं—

‘जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सन्यं  
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।

१. जब बहुत जन्मके पुण्य-पुञ्जमे भाग्योदय होनेपर पुरुषको सत्संगकी प्राप्ति होती है, तब ही अज्ञानकृत मोह और मदरूप अन्धकारका नाश कर विवेकरूप सूर्य उदय होता है ।

२. जो तत्परतापूर्वक साधु-सेवामें अनन्य बुद्धि रखता हुआ मेरे भक्तोंका, निर्मल और शान्तचित्तवाले योगियोंका, मेरी सेवा-पूजामें अनुरक्त मेरे भक्तोंका और निर्मल ज्ञानियोंका सदा ही संग करता है उसके मोक्ष करतलगत रहता है तथा मैं अहर्निश उसकी दृष्टिका विषय बना रहता हूँ, अन्य किसी उपायसे मैं दर्शन नहीं दे सकता ।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं,  
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥<sup>१</sup>

—नीतिशतक

अथवा—

‘तत्त्वं चिंतय सततं चित्ते  
परिहर चिंतां नश्वरचित्ते ।  
क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका  
भवति भवार्णवतरणे नौका ॥’<sup>२</sup>

—कस्यचित्

सत्संगतिपर ब्रज-भाषा-साहित्याकाशके सुन्दर सूर्य श्री ‘सूर’  
कहते हैं—

‘जा दिन संत-पाहुँनें आवत ।  
तीरथ कोटि असनान करें फल, दरखँन ही ते पाबत ॥  
नेह नयौ दिन-दिन-प्रति उनकौ, चरन-कँमल चित लाबत ।  
मन-बच-करम और नहिं जानति, सुमरति औ सुँमराबत ॥  
मिथ्याबाद् उपाधि-रहित हूँ विमल-विमल जस गाबत ।  
बंधन-करम-कठिन जे पहिले, सोऊ काटि बहाबत ॥  
संगति रहै साधु की अनुदिन, भय-दुख दूरि नसाबत ।  
‘सूरदास’ या जनम-मरन तें, तुस्त परम-गति पाबत ॥’

—सूरसागर

१. सत्संगात् पुरुषोंका क्या उतकार नहीं कर सकती; वह (सत्संगति) बुद्धिकी जड़ताको हरती है, वाणीमें सत्यका संचार करती है; सम्मान बढ़ाती है; पापको दूर करती है; चित्तको आनन्दित करती है और सम्पूर्ण दिशाओं-में कीर्तिका विस्तार करती है ।

२. चित्तमें निरन्तर तत्त्वका चिन्तन करो वा न करो, धनकी चिन्ता भी छोड़ो या न छोड़ो, क्यों के सज्जनोंकी एक क्षणकी संगतिरूप नौका ही संसार-सागरसे पार करनेका काफ़ी है ।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

‘बिन सतसंग बिबेक न होई, राम-कृग बिन सुलभ न सोई ।  
सत-संगति मुद-मंगल-मूला, सोई फल लिधि सब साधन फूला ।  
सठ सुधरहिं सत-संगति पाई, पारस-परसि कुवात सुहाई ।<sup>१</sup>  
सब करि-फल हरि-भगत सुहाई, सो बिन संत न काहू पाई ।  
अस बिचार जोइ कर सन संग, राम-भगन तेहिं सुलभ बिहंगा ॥’<sup>२</sup>

‘तात स्वर्ग-अपवर्ग-सुख धरिय तुला इक अंग ।  
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत-संग ॥’<sup>३</sup>  
‘बिन सत-संग न हरि-कथा, तेहि बिन मोह न भाग ।  
मोह गएँ बिन राम-पद, होहि न दृढ़ अनुराग ॥’<sup>४</sup>  
‘बिन सतसंग भगति नहिं होई, ते सब मिलें द्रवै जब सोई ।  
“जबै द्रवें दीनदयालु राघव, साधु संगति पाइये ।  
जेहि दरस-परस समागमादिक पाप-रासि नसाइये ॥  
जिनके मिलें सुख-दुख-समान अमानतादिक गुन भए ।  
मद, मोह, लोभ, बिषाद, क्रोध सुबोध तें सहजहिं गए ॥”

—विनयपत्रिका

परम रसिक नागरीदासजी कहते हैं—

“सब सुख स्याम-सरनं गएँ ।  
और ठौर न रहूँ आनंद, इंद्रहूँ के भएँ ॥  
दुःख-मूल प्रवर्त्त-मारग, कहि न मानत कोइ ।  
सुख-रायो जिहि निर्विर्त्ति कौ मन, जानि हैं दुख सोइ ॥  
सतसंग अंबुत, ब्रत-परोवर, कीरतन-सुख-बास ।  
कीजिए हरि बेगि तिन कौ, ‘भँवर’ नागरि दास ॥”



१. रामायण बालकांड ।
२. रामायण उन्मकांड ।
३. रामायण सुन्दरकांड ।
४. रामायण उत्तरकांड ।

“मन यह नीच, संगी नीच ।

उच्च-पद कों चढ़त नाहीं, जइपि नियरी मींच ॥  
नवन पाप कों गवन करही, ज्यों बनी रड़ लेंड़ ।  
प्रबल अति नहिं रुकत रोकें, ग्यों-धूरि की मेंड़ ॥  
मिलत जाही रंग आपुन, होत वाही रंग ।  
देहु ‘नागरिदास’ कों, यातें प्रभू, सतसंग ॥”



“बिन सतसंग मति बे-ढंग ।

फिरत डौंवाँडोल मन ज्यों, बिन लगौंम तुरंग ॥  
कबहुँ गिरि-गिरि उठत अति स्रम, चढ़त क्रोध उतंग ।  
कबहुँ मूरख भ्रमत आतुर, उपज अंग-अनंग ॥  
कहाँ तप, व्रत, दौंन, संजम, कहा न्हाएँ गंग ।  
‘दासनागरि’ बिना साधन, सकल साधन भंग ॥”

—नागरसमुच्चय

कबीर साहब फ़मति हैं—

“कबीर’ संगति साधी की, कदैन निरफल होइ ।  
चंदन होसी बाँवना, नींब न कहसी कोइ ॥”



“कबीर संगति साध की, बेगि करीजै जाइ ।  
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ ॥”



“मथुरा जावै द्वारिका, भावै जावै जगन्नाथ ।  
साध-संगति हरि-भगत बिन, कलू न आवै हाथ ॥”



“मेरे संगी दौइ जणें, एक वैष्णौ एक राँम ।  
बौ है दाता मुकति का, बौ सुमिरावै नाँम ॥”



“कबीर सोइ दिन भला, जा दिण संत मिलाहिं ।  
अंक भरें भरि-भेंटिया, पाप सरीरौ जाहिं ॥”



“कबीर’ चंदन का बिड़ा, बैठया आक-पलास ।  
आप सरीखा कर लया, जे होते उण पास ॥”

—कबीरग्रन्थावली

“संगत कीजै संत की, जिनका पूरा मन ।  
अनतोलें ही देति हैं, नाम सरीखा धन ॥



“कबीर’ संगत साध की, हरै और की व्याधि ।  
संगत बुरी असाध की, आठों पैहर उपाधि ॥”<sup>१</sup>



“कबीरा’ संगत साधकी, जौ की भूसी खाइ ।  
खीर-खाइ भोजन मिलें, साकर-संग न जाइ ॥”



“कबीरा’ संगत साध की, ज्यों गंधी का बास ।  
जौ कुछ गंधी है नहीं, तौ भी बास-सुबास ॥”



“रिद्धि-सिद्धि माँगू नहीं, माँगू तुम पै येह ।  
निसि-दिन संगति साधकी, कह ‘कबिरा’ मोहिं देय ॥



१. कबीर साहबका उक्त दोहा—चेतावनी, गोस्वामी तुलसीदासके नामसे भी मिलती है । जैसे—

“तुलसी’ संगत-साधु की, हरै और की व्याधि ।

संगति बुरी जु नीच की, आठों पहर उपाधि ॥”

परंतु, यह दोहा ‘तुलसीदोहावली’ वा तुलसीसतसईमें नहीं है ।

“राम बुलावा भोज्याँ, दिया ‘कबीरा’ रोइ ।  
जो सुख साधू-संग माँ, सो बैकुंठ न होइ ॥”

❀

“एक घड़ी, आधी घड़ी, आधी हूँ सें आध ।  
‘कबीर’ संगत साध की, कटै कोटि अपराध ॥”

—संतवानीसंग्रह

सुन्दरदासजी कहते हैं—

“प्रीति प्रचंड लगै परब्रह्महिं, औरु सबै कछु लागत फीकौ ।  
सुद्ध हृद मन होइ सो निरमल, द्वैत प्रभाव भितै सब जीकौ ॥  
गोष्टरुग्याँन अनंत चलै जहँ ‘सुंदर’, जैसे प्रवाह नदीकौ ।  
ताहि तें जाँनि करौ निसि-बासर, साधु कौसंग सदाँ अति नीकौ ॥”

❀

तात मिलै, पुनि मात मिलै, सुत-भ्रात मिलै जुबती सुखदाई ।  
राज मिलै, गज-बाज मिलें, सब साज मिलें मन-बाँच्छित पाई ॥  
यै लोक मिलै, सुर-लोक मिलै, बिधि-लोक मिलै बैकुंठहुँ जाई ।  
‘सुंदर’ औरु मिलै सबहीं सुख, संत-समागम दुरलभ भाई ॥

—सुन्दरविलास

अंतमें श्रीमद्जीवगोस्वामीजीकी उद्धव प्रति उक्ति भी देखिये  
और मनन करिये, जैसे—

“तं श्रीमदुद्धवं वंदे कृष्णप्रेष्ठवरोऽपि यः ।

गोपीपादाब्जधूलिस्पृक्तृणजन्माप्मयाचत ॥”<sup>१</sup>

—श्रीमद्भागवत वैष्णव तोषिणी टीका

१. मैं उन कृष्णके परम श्रेष्ठ सखा उद्धव—भक्तकी वंदना करता हूँ; जो कि गोपी-पाद-पद्म-धूलि-रंजित तृण होना चाहते हैं ।

६९

## उद्धवका मथुरा प्रत्यागमन

मग—मार्ग, रास्ता, डगर, बाट, राह ।

“अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः ॥”

—अमरकोष २ । १ । १५

अभिलखि—अभिलाष, आकांक्षा, कामना, आशा ।

“इच्छाकांक्षा स्पृहेहा तृड्वांछालिप्सामनोरथः ।

कामोऽभिलाषस्त्पर्षश्च सोऽत्यर्थं लालसाद्वयोः ॥”

—अमरकोष १ । ७ । २७, २८

मग और अभिलखि शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

“नित ही इहि ‘मग’ जाति दौंन लै, तुम सब निपट सबेरें ।”

—गंगाबाई

किते मोल बेचैगी ग्वालनि, कहि मन जो ‘अभिलाख’ ।”

—आसकरनदास

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

“अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।

गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥”

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६४

रसरूपजी कहते हैं—

“चले न प्रन बनितान के, बिथके घर-घर धूम ।

कहु न चलौ, उद्धव चले, गरुरे बाहन चूम ॥”

—उषालम्भशतक

१. इस प्रकार उद्धवजी गोपियोंसे, यशोदासे और नन्दसे आज्ञा माँग और गोपोंसे मिलकर मथुरा जानेके निमित्त रथपर चढ़े ।

ब्रज-भाषा-माताके लाडिले स्वर्गीय रत्नाकर जीने उद्धवके मथुरा-  
प्रत्यागमनपर बड़ी सुमधुर सूक्तियाँ कही हैं, जैसे—

‘धौँई जित-तित तें बिदाई-हेतु उधव की,  
गोपी-भरीं आरति सँम्हारति न साँसुरी ।  
कहै ‘रतनाकर’ मयूर-पच्छ कोऊ लएँ,  
कोऊ गुंन-अंजली उँमाहै प्रेम-आँसुरी ॥  
भाव-भरी कोऊ लएँ रुचिर सजाव दही,  
कोऊ मही मंजु दाबि दूळ कृति पाँसुरी ।  
पीत-पट नंद, जसुमति नवनीत नयौ,  
कीरति-कुँमारी सुबारी दई बाँसुरी ॥’<sup>१</sup>



‘कोऊ जोरि हाथ, कोऊ नाइ नम्रता सों माथ,  
भाषन की लाग लालसा नहिं जात हैं ।  
कहै ‘रतनाकर’ चलत उठि उधव के,  
कातर है प्रेम सों सकल महिं जात हैं ॥  
सबद न पावत सो भाव-उँमगाव जो-  
ताकि-ताकि आँनन ठगे-से ठहि जात हैं ।

१. निज कवि कहते हैं—

प्रात हीं जसोधा-नंद जू सों अनुमासन लै,  
बड़े ही उभाषन लै मिले हैं सखँन सों ।  
‘निज जू’ सुकवि लै सँदेमौ ब्रज-भक्तँन कौ,  
रथ पै चढ़े हैं ऊँधौ बड़े सनमँन सों ॥  
उग्रसँन-हेत बहु भेंट दई नंदराइ,  
नैन-भरि कही अहो, कहियो यों काँन्ह सों ।  
आवन की औध-आस स्वँस हम धारि रहे,  
बेमि ब्रज आओ यहै रावरे वखँन सों ॥

रंचक हमारी सुनों, रंचक हमारी सुनों,  
रंचक हमारी सुनों कहि रहि जात हैं ॥'



'दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सबै,  
ब्योंत लिखिबे कौ पैं न कोऊ करि जात है ।  
कहै 'रतनाकर' फुरति नहिं बात कछु,  
हाथ धरयौ ही-तल थहरि थरि जात है ॥'  
'ऊधौ कों निहोरें फेरि नेंकु धीर जोरें पै-  
ऐसौ अंग-ताप कौ प्रताप भरि जात है ।  
सूखि जाति स्याही, लेखिनी के नेंकु डंक लागें,  
अंक लागें कागद बररि बर जात है ॥'



'कोऊ चले काँपि, संग कोऊ उर-चाँपि चले,  
कोऊ चले कछुक अलापि हलबल से ।  
कहै 'रतनाकर' सुदेस तजि कोऊ चले,  
कोऊ चले कहत सँदेस अबिरल से ॥  
आँसु चले काहु के, सु काहु के उँसास चले,  
काहु के हिणु पैं चंदाहास चले हल से ।  
ऊधव के चलत चलावत चली यों चल-  
अचल चले औ अचले हू भए चल से ॥'



'दीन्यों प्रेम-नेम-गरुवाई-गुन ऊधव कों  
हिय सों हमेव-हरुवाई बहिराह कें ।  
कहै 'रतनाकर' त्यों कंचन बनाई काह,  
ग्यान-अभिमान की तमाई बिनसाह कें ॥  
बातनि की धौंक सों धमाइ चहुँ कोरनि सों,  
निज बिरहानल तपाइ पिधिलाह कें ।

गोप की बधूटी प्रेम-वूँटी के सहारों मार,  
 चल-चित पारे की भसँम भुरकाइ कें ॥'<sup>१</sup>  
 'गोपी, ग्वाल, नंद जसुधा सों तौ बिदा है उठे,  
 उठत न पाँह पै उठावन डगत हैं ।  
 कहै 'रतनाकर' सँभारि सारथी पै नीठि,  
 दीठिनि-बचाइ चलयौ चोर ज्यों भगत है ॥  
 कुंजन की, कूल की, कलिंदी की, रुएँदी-दसा,  
 देखि-देखि आँस औ उलाम उँमगत है ।  
 रथ तें उतरि पथ-पावन जहाँ-हीं-तहाँ,  
 बिकल-बिसूरि धूरि-लोटँन लगत हैं ॥'

❀

'भूले जोग-छँम-प्रेम-नेमहि-निहारि ऊधौ,  
 सकुचि सँमाने उर-अंतर हरास-लों ।  
 कहै 'रतनाकर' प्रभाव सब ऊँने भए  
 सूँने भए नैन-बैन अरथ उदास-लों ॥  
 माँगी बिदा माँगत ज्यों मँ च उर-भँ चकोऊ,  
 कौन्यों मौन गौंन निज हिय के हुलास-लों ।  
 बिथकति साँस-लों, चलन रुकि जात फेरि-  
 आँस-लों गिरत पुनि उठत उसास-लों ॥'  
 —उद्धव

१. कविवर ग्वालजी कहते हैं—

'रावरे कहे तें हो गयौ हो ब्रज-बालँन पै,  
 देखति ही मोहि कियौ आनँद-अपारा है ।  
 कहे तें तिहारी बात गात में भभूकें उठें-  
 परत बरूद की जमात ज्यों अँगारा है ॥  
 'ग्वाल कवि' कहैं लागी लपट द्वागिनि की,  
 दौरथौ मैं तहाँ तें तौहू झुरस्यौ दुबारा है ।  
 गोपी-बिरहागिनि में जोग उड़ि गयौ ऐमँ-  
 दैसँ उड़ि जात परें पावक में पारा है ॥

७०

राजत—सुशोभित, बैठे । रस-भरे—रससे भरे, प्रेम-संयुक्त, मीठे, मधुर, अटपटे । लाड़िले—प्रिय, प्यारे, दुलारे, नटखट ।

राजत, रस-भरे और लाड़िले शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘राजत’ काँन द्वै सुभग तरौनाँ, मनौ सूर्ज द्वै झूले ।’

—कल्यानराइ

‘रस-भरे’ तारे अति कजरारे, माँनों बीच परे री, मधुकर ।’

—मुरारीदास

‘रहि-रहि नँद के ‘लाड़िले’ कित ऐतौ इतरात ।’

—सूरदास मदनमोहन

श्रीमद्भागवतमें उक्त भावपर श्रीशुक कहते हैं—

‘कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं ब्रजौकसाम् ।

वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥’

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६९

अर्थात् उद्धव, मथुरामें पहुँचकर, श्रीकृष्ण और बजरामको प्रणामकर तथा ब्रज-वासियोंकी भक्ति-विशेषता विशेष रूपसे प्रशंसा-कर नंदादिक-द्वारा दी गयी भेंट वसुदेवजी और महाराज उग्रसेनको देते हुए ।

इसी भव्य-भावपर सुकवि ‘निज’ जी कहते हैं—

‘या बिधि सुकवि ‘निज’ नेह ब्रज-भक्तन कौ

भक्तवर उद्धव सराहत ही आए हैं ।

राम-कृष्ण-पालित ललित मधुपुरी-माँहिं,

सभा-बीचि उग्रसेन जू कौ सीस नाए हैं ॥

नंद की नजर है अनंद सों नृपति आगें,  
 कृस्न-बल जू के पग आँसुन भिगाए हैं ।  
 बंदि बसुदेव जू कों सब की कुसल कहि  
 बाकी जो रही सो जाँनि हरि मुसिकाए हैं ॥'

—गोपीप्रेमपीयूषप्रवाह

अथवा—

'कछुक देरि करि कें बिलम, होस-हवास सम्हारि ।  
 उद्धव षोल्याँ स्याँम सों, हृदै प्रिया-पग-धारि ॥'  
 'आँखिन में छायाँ अनुराग करुना कौ वह,  
 उर में सँमायाँ प्रेम-पुंज कौ जँजाल है ।  
 'नवनीत' प्यारे या गरे में प्रीति-फाँसी परी  
 हरी मति मेरी देखि गोपिन कौ हाल है ॥  
 जीभ होत ताती, बात मुख तें कहत नाथ,  
 लोग कौ सहारौ सोतौ जरयो ततकाल है ।  
 कहा कहौ आप सों कृपाल सिरी नंदलाल,  
 ब्रज कौ हवाल कहिवे कों कामजाल है ॥'

—नवनीत कवि

रतनाकरजी कहते हैं—

'चल-चित-पारद की दंभ-कंचुली कै दूरि,  
 ब्रज-मग-धूरि प्रेम-भूरि सुभ-सीली लै ।  
 कहै 'रतनाकर' सु जोगिनि-बिधान-भाव,  
 अमित प्रमाँन-ग्याँन-गंधक गुनीली लै ॥  
 जारि घट-अंतर हीं आइ-धूम-धारि सबै,  
 गोपी-बिरहागिनि निरंतर जगीली लै ।  
 आए लौटि ऊधव बिभूति भव्य-भायनिकी,  
 कायिनि की रुचिर रसायन रसीली लै ॥'

‘आए लौटि लज्जित नवाएँ नैन ऊधौ अब,  
 सब सुख-साधन कौ सूधौ-सौं जतन लै ।  
 कहै ‘रतनाकर’ गँवाएँ गुन-गौरव औ-  
 गरब-गढ़ी कौ परिपूरन पतन लै ॥  
 जाए नैन-नीर पीर-कसक कमाएँ उर,  
 दीनता-अधीनता के भार-सौं नतन लै ।  
 प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमरी में पूरि,  
 ग्याँन-गूदरी में अनुाग-सौ रतन लै ॥’

‘ज्योंही कछु कहन सँदेसौ लग्यौ, त्यों ही लर्यौ,  
 प्रेम-पूरि उँमगि गरे लों चढ्यौं अबै है ।  
 कहै ‘रतनाकर’ न पाँइ टिक पाँवें नेंकु  
 ऐसौ इग-द्वारन स-बेगि कछ्यौ आवै है ॥  
 मधुपुरि-राखन कौ बेगि कछु व्योत गढ़ौ  
 धाइ चढौ बट कै न जाँ पै गढ़्यौ आवै है ।  
 आयौ भज्यौ भूपति-भगीरथ-लों हों तौ नाथ,  
 साथ लग्यौ सोई पुत्र-पाथ बढ़्यौ आवै है ॥’

—उद्धवशतक

७१

### भगवान् श्रीकृष्णसे उद्धवका गोकुल-वृत्तान्त-कथन

मूँठी—मुट्टी, हाथकी वह मुद्रा—बनानेका ‘ढंग’ जो कि उँगलियोंको हथेरीपर मोड़नेसे—दबानेसे बनती है, किसी बातके छिपानेकी एक क्रिया । अवलंब-ही—आश्रय मानते हैं, सहारा लेते हैं शरण हैं । मेलौ—गेरो, पट्टको, फेंको, डालो ।

मूँठी, अवलंबही और मेलौ आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयोग,  
 यथा—

‘भरि ‘मूँठी’ माँटी मुख मेली,सखा कहत सब ठाढ़े ।’

—परमानन्ददास

‘कृष्ण, जादव, हे दमोदर, नाथ तूँम ‘अबलंबई’ ।’

—सूरदास

‘गहि दोऊ पाँइ स्याँमसुंदर तब, धेनुक धरनी ‘मेलौ’ ।’

—परमानन्ददास

कुछ ऐसा ही प्रेम-भरा उलाहना स्वर्गीय सत्यनारायणजी कविरत्नने भी दिया है, जैसे—

‘माधव, आप सदाँ के कोरे ।

दीन-दुखी जो तुम कों जाँचत, सो दाँनिनि के भोरे ॥  
किंतु बात यह तुम सुभाव में, नैकहु जानत नाँहीं ॥  
सुनि-सुनि सुजस रावरो, तुव ढिंग आवन कों ललचाँहीं ॥  
नाम धरें तुम कों जग-मोहन, मोह न तुम कों आवै ।  
करुना-निधि तुव हृदैं न एकौ-करुना-बिंदु सँमाबै ॥  
लेति एक कौ देति दूसरेहिं, दाँनी बन जग-माँहीं ।  
ऐसौ हेर-फेर निज नूतन, लाग्यौ रहत सदाँ हीं ॥  
भाँति-भाँति के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर-चुराए ।  
अति उदारता सो लै वेही, द्रौपदि कों पकराए ॥  
रतनाकर कों मथत सुधा कौ कलस आप जो पायौ ।  
मंद-मंद मुसिकात मनोहर, सों देबँन कों प्यायौ ॥  
मत्त गयंद कुबलिया के जो, खेल-प्राँन हरिलीए ।  
बड़ी दया दरसाइ दयानिधि, सों गजेंद्र कों दीए ॥

\* उक्तभावपर रसनिधिजी कहते हैं—

‘सुमरत जग के रचन कों, मोह जगत के जाहिं ।

निरमोही जो होइ वह, कौन आचरज आहि ॥’

—रतनहजारा

करि कें निधन बालि-रावन कौ, राजपाट जौ आयौ ।  
 तहँ सुग्रीब बिभीषन कों करि अतिअहिसाँन बिठायौ ॥  
 पोंडरीक कौ सरबसु नसिकरि माल-मता जो लियौ ।  
 ता कों बिप्र सुदामा के सिर करि सनेह मढ़ि दीयौ ॥  
 'ऐसी 'तूमा पलटी के' गुन नेति-नेति स्रुति गावें ।  
 सेस, महेस, सुरेस गनेसहुँ, सहसा पार न पावें ॥  
 इत माया अगाध-सागर तुम डोवहु भारत-नैया ।  
 रचि महाभारत कहुँ लरावत, अपु मैं भैया, भैया ॥  
 या कारन जग में प्रसिद्ध अति 'निपटी रकम' कहाऔ ।  
 बड़े-बड़े तुम 'मठा धुँगारे', क्यों साँची खुलवाऔ ॥'

अथवा—

‘माधव, तुमहुँ भए बे-साख ।

बुही ढाक के तीन पात हौ, करै क्यों न कोऊ लाख ॥  
 भक्त-अभक्त एक से निरखत, कहा होत गुन-गाएँ ।  
 जैसेहिं खीर-खवाए तुम कों, वैसेहिं सींग-दिखाएँ ॥  
 सबै धाँन बाईस-पसेरी, नित तोलन सों काँम ।  
 बलिहारी, नहिं नेंकु विदित तुम्हें, ऊँच-नीच कौ नाँम ॥  
 बे पैदी के लोटा के सम, तत्र मति-गति दरसाबै ।  
 कछु कौ कछु प्रभु काज-करन में, तुमहिं लाज नहिं आबै ॥  
 जगत-पिता कहिवाइ भए तुम, अब ऐसे बे-पीर ।  
 दिन-दिन दुगुन बढ़ावत जो नित, द्रोह-द्रोपदी चीर ॥  
 जुग करि जोरि प्रार्थना यैही, निज-माया धरि राखौ ।  
 'सत्य, दीन-दुखियनु के हित कों, सदय-हृदय अभिलाखौ ॥-

७२

नातरु—नहीं तो ।

नातरु शब्दका सरल प्रयोग, यथा—

‘चलौ हटौ मग तजौ साँवरे, ‘नातरु’ गुलचा खैहौ ।’

—मधुरअली

श्रीमाधव भट्टाचार्यजी अपने ‘उद्भव दूत’ महाकाव्यमें कहते हैं—

‘वीतासंगाः शयनवसनस्नानपानाशनादौ  
गायन्त्यस्त्वच्चरितगुणिताः संततं गीतगाथाः ।

औदासीन्यं किमपि सकलां बंधुवृन्दे वहंत्यो

गोप्यो लीलाक्षितिषु भवतो योगिनीवद्भ्रमंति॥’

अर्थात् हे भगवन्, गोपियाँ शयन, वसन, स्नान, पान और भोजन आदि सम्पूर्ण विषयोंसे आसक्ति हटाकर निरन्तर आपके ही चरित्रोंसे चर्चित गीतोंको गातीं अपने बन्धु-जनोंके प्रति अति उदासीनता दिखाती हुई आपकी लीला-भूमि ब्रजमें योगिनियोंके सदृश भ्रमण कर रही हैं ।

कोई कवि कहता है—

‘शीर्णां गोकुलमंडली पशुकुलं शष्पायन स्यन्दते

मूका कोकिलसंहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति ।

सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः

किन्त्वेका यमुना कुरंगनयनानेत्रांबुभिर्वर्धते ॥’

अर्थात् हे गोविन्द, आपके बिना गोप-बालकोंकी मंडली अस्त-व्यस्त—तितर-बितर हो गयी है, गौएँ घास-चरनेकी चेष्टा नहीं करतीं,

कोयलोंने बोलना छोड़ दिया है और व्याकुल मयूर अब आपके बिना नाचते नहीं, इस प्रकार आपके विरहसे सभी दीन और क्षीण हो रहे हैं, परन्तु एक यमुना ही मृग-लोचनी ब्रजांगनाओंके रोदनके कारण आँसुओंसे निरन्तर बढ़ रही है ।

श्रीसूर कहते हैं—

‘रहत रेंनि-दिन हरि-हरि-हरि-रट ।

चितवत इकटक मग-चकोर-लों, जब तें तुम बिछुरे नागर-नट ॥  
भरि-भरि नैन-नीर ढारत हैं, स-जल करति अति कंचुकि के पट ।  
मनों बिरह की जुरता-लगि लियौ नैम, प्रेम सिब-सीस सहस घट ॥  
जैसें जुग के अग्र ओस-कन, प्राँन रहत यों अवधिहिं के तट ।  
‘सूरदास’ प्रभु मिलौ कृपा करि, जो दिन कहे तेऊ आए निकट ॥’

‘दिन-दस घोष चलौ गोपाल ।

गायन के अवसेर मिटाबौ, लेहु आपने ग्वाल ॥  
नाँचति नाहिं मोर ता-दिन तें, बोल न बरषा-काल ।  
मृग दूबरे तिहारे दरस-बिन, सुनत न बँनु-रसाल ॥  
हरयौ न होत अबै वृंदाबन, भावत तनकन स्याँम तमाल ।  
‘सूरदास’ ‘मैया’ अनाथ है, ब्रज चलिये नँदलाल ॥’

—सूरसागर

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

‘नीकें सुनो स्याँम-सुजाँन ।

कोंन मानें बात नीरस, सकल ब्रज रस-खाँन ॥  
‘तुम जुहै बिधि-बेद-बकता, प्रघट श्री भगमाँन ।  
तुहि मनोहर मंडली मैं, क्यों न राख्यौ ग्याँन ॥  
कबहुँ तुम कों लै नचायौ, जोरि पाँननि-पाँन ।  
कबहुँ छ्वायौ मुकट चरनन, कियौ उन जब माँन ॥

कयहुँ बेनी गूथि निज-कर, पग महाबर साँन ।  
 कबहुँ ठाढ़े जोरि-कर, करि दीन-चित्त-सनमाँन ॥  
 प्रेम-आगें नेम की कछु, चलत नाँहि निदाँन ।  
 रिनी ह्वै छूटे वहाँ क्यों, नवल-‘नागर’ प्राँन ॥’

—नागरसमुच्चय

सुकवि नंदरामजी कहते हैं—

‘सीर समीरन की वह झुकनि, कैलिया-कूकनि क्यों सहि जाइगी ।  
 कैसी बिहाल परी वह बाल, तची-तन-तापन सों दहि जाइगी ॥  
 हाथ कछु पुनि लागिहै नाँहि, ‘नँदराम’ हिए की हिएँ रहि जाइगी ।  
 हाल मिलौ नँदलाल न तौ, अँसुवान की धार-ही में बहि जाइगी ॥

—हजार

निज कवि फमति हैं—

‘नंद जुत नौहू उपनंद नौऊ जननी औ—  
 जसुमति, गोपी, ग्वाल, सखा तौ धरे रहैं ।  
 गाय, बच्छ, पंछी, पसु, अँसुवा न सूखै दग,  
 बेली, द्रुम, फल, पात मुरझि जरे रहैं ॥  
 ‘निज जू’ तिहारी एक आगम की आस ही पै  
 साँसन में राखें प्राँन नाँकन अरे रहैं ।  
 आँखिन न खोलें, नेकु मुखहूँ न बोलें-  
 तन तनक न डोलें सब मरे से परे रहैं ॥’

पद्माकरजी कहते हैं—

‘एहो नँद नंद, अरबिंद-मुखी गोकुल की,  
 तुम बिन चंद्र चाँदिनी-लौ ढरिबौ करें ।  
 कहै ‘पदमाकर’ पुराने, पीरे पाँन हूँ तें-  
 निपट निदाँन पीरी, पीरी परिवौ करें ॥

बुंदाबन चंद जू की आगली गली वे भली  
 नैननि के नीर तें नदी-सी ढरिबौ करें ।  
 मिलि-बिछुरे हौ त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि-  
 याही एक आसा पै स्वाँसा भरिबौ करें ॥'

—जगद्विनोद

चतुर्वेद उरदामजी कहते हैं—

‘एहो बंक लोचन, बिलोकनि तिहारी तीखी  
 चुभी चित-बीचि की कसक हरिबौ करें ।  
 अंतर दरज धुकि धोंकिनी धवनि मनो-  
 मदन-सुनार घटराज गढ़िबौ करें ॥  
 कहै ‘उरदाम’ तेरे गुँनन सँमान ही,  
 मेरे जाँन ताही के उफाँन परिबौ करें ।  
 मिलि-बिछुरे हौ त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि-  
 याही एक आसा पै स्वाँसा-भरिबौ करें ॥’

—गोपीप्रेमपियूषप्रवाह

७३

### कवि-द्वारा भगवत्-दशा वर्णन

गात—शरीर, गात्र, देह, तन, अंग ।

‘गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः ।  
 कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः ॥’

—अमरकोष २ । ६ । ७०, ७१

कलपतरोरुह—वृक्ष विशेष, स्वर्गका—देवताओंका एक वृक्ष,  
 जिसके लिये कहा जाता है कि वह बिना माँगे सब कुछ देता है,  
 अभिलषित—इच्छाके माफिक फल देनेवाला, सुरद्रुम\* । उलहि—

\* इच्छित फल देनेवाला ।

उभड़कर, निकलकर, फूटकर, प्रस्फुटित होकर, फूलकर ।

कल्पतरोरुह शब्दका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता, अतः गात और उलहि शब्दोंके ( अन्य ) प्रयोग दिये जाते हैं, यथा—

‘स्याँम-‘गात’ आँनन की सोभा, मंद हँसनि मेरौ जिय ललचाबै ।

—विष्णुदास

‘आए ‘उलहि’ कंचुकी कुच कछु, सोभा कहत न आबै ।’

—स्यामदास

कुछ ऐसी ही दयनीय दशाका वर्णन स्वर्गीय बाबू जगन्नाथ-दास ‘रतनाकर’ ने भी किया है, जैसे—

‘आए दौरि पौरि-लों अबदि सुनि ऊधव की,

और ही बिलोकि दसा दग-भरि लेति हैं ।

कहै ‘रतनाकर’ बिलोकि बिलखात उन्हे,

ए ऊ कर काँपत करेजें धरि लेति हैं ॥

आबति कलूक पूँछिबे औ कहिबे कों मन,

परत न साहस पै दोऊ दरि लेति हैं ।

आँनन उदास साँस-भरि उकसोंहैं करि

सों करि नेननि निचोंहैं करि लेति हैं ॥’

—उद्धवशतक

७४

### उद्धव-प्रति भगवान्का प्रेमोपालम्भ

सचेत—स्वस्थ चित्त होकर, सावधान होकर, चौकस हो, मन-को ढाँढस देकर, सचेत होकर । ल्यावन—लेने, लेनेको, लानेके लिये । आँनि—आकर । मो मैं—मुझमें । अंतर—पृथक्ता, भेद, विभिन्नता अलगाव, फर्क ।

‘अंतरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये ।  
छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽतरात्मनि च ॥’

—अमरकोष ३।३।१८७

तरंगनि—तरंगों, लहरों, पानीकी उछालें जो कि हवाके कारण उत्पन्न होती हैं, हिलोरें ।

‘भंगस्तरंग ऊर्भिर्वा स्त्रियां वीचि अथोर्मिषु ।’

—अमरकोष १।९।५

बारि—जल, पानी, नीर, अम्बु ।

‘आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम् ।

‘पयः किलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ।’

—अमरकोष १।९।३

सचेत, ल्यावन, आँनि, अंतर, तरंगनि और बारि शब्दके सुन्दर प्रयोग ।

‘करि ‘सचेत’ लै नाम हरी कौ, जातें पाप नसाँइ ।’

—चरनदास

‘भरजुन, भोज, सुबळ, मधुमंगल, पठए ‘ल्यावन’ छाक ।’

—जनभगवान

‘आँनि, लेहु तुम छाक आपनी, बालक, बल, बनबारी ।’

—परमानन्ददास

‘दोऊ कूल खंभ, ‘तरंगनि’ सीढी, जमुनाँ जगत बैकुंठ की निसैनी ।’

—क्षीतस्वामी

‘परसत ‘बारि’ सकल अघ भाजें, ज्यों हरि-देखि हिरन की सिन्या ।’

—ब्रजपति

‘१. वायुना नद्यादिजलस्य तिर्यगूर्द्धप्रवनम् ।’

—शब्दकल्प द्रुम

श्रीसूरजी कहते हैं—

‘ऊधौ, भलौ ग्याँन समुझायौ ।

तुम सो अब यों कहा कहत हौ, मैं कहि कहा पठायौ ॥  
कहि बाबत हौ बड़े चतुर, पै वहाँ न कछु कहि आयौ ।  
‘सूरदास’ ब्रज-बासिन कौ हित, हरि-हिय मॉझि दुरायौ ॥

‘ऊधौ, मोहि ब्रज बिसरत नाँहीं ।

बृंदावन, गोकुल तन आवत, सघन तृन्न की छाँहीं ॥  
प्रात-समें माता जसुमति औ नंद देखि सुख पावत ।  
मॉखन-रोटी-दह्यौ सँजोयौ, अति हित सौ जु खबावत ॥  
गोपी, ग्वाल, बाल सँग खेलत, सब दिन हँसत सिरात ।  
‘सूरदास’ धनि-धनि ब्रज-बासी, जिन सों हरि मुसिकात ॥’

‘ऊधौ, मोहि ब्रज भूलत नाँहीं ।

हंस-सुता-कूलन की सोंभा, बरु कदंब की छाँहीं ॥  
वह सुरभी, गऊ, बच्छ, दोंहिनी, खिरक-दुहावन जाँही ।  
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, निरतत गहि-गहि बाँहीं ॥  
लीला बहुत-भाँति हम कीनीं, जसुमति-नंद निबाँहीं ।  
जब-जब सुरति होत वा सुख की, उँमगत मनमन माँही ॥  
बै द्वारिका रची जु कनक की, मनि-मुक्ता बलि जाँहीं ।  
‘सूरदास’ प्रभु सुमरि-सुमरि-सुख, कहि-कहि यों पछताँहीं ॥’

—सूरसागर

उद्धव-प्रति भगवान्-द्वारा कहलाते हुए श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

‘मोहिं, गोपी-जन नहिं बिसरत ।

उनकी प्रीति-रीति अंतर की, तनक न मुख तें निसरत ॥  
सबहिं चतुर, सब आँनद-मूरति, सब तन प्रेम अछेह ।  
तिन में श्रीराधा के मेरे, एक प्राँन, द्वै-देह ॥

जदपि बिभौ ह्याँ अमरावति-सी, रह्यौ सकल सुख छाँड़ ।  
 तद्यपि सुधि आबत ब्रज की जब, तब सुधिकी सुधि जाइ ॥  
 ऊधौ, परम प्रबीन सखा प्रिय, तुम बिन कासों कहिए ।  
 'नागरिदास' दुसह मन-ही-मन, बिरह-पीर नित सहिए ॥\*॥

हमारे परम माननीय स्वर्गीय कवि नवनीतजी कहते हैं—

‘उठि गई सिद्धता तिहारी उपदेस ही की,  
 वृद्धि भई भक्ति हिणें भाब-भूरि भारे तें ।  
 ‘नवनीत’ सगुन सरूप जो समाथौ जाइ,  
 निरगुन-बिसारि आयौ प्रीति उर धारे तें ॥  
 उन हीं की ओर तें सिपारस करन लागौ,  
 भागि आयौ बिरह-दबागि-झर झारे तें ।  
 जोग भरि पायौ औ बियोग भरि पायौ ऊधौ,  
 जीवत तू आयौ भैया, भागँन हँमारे तें ॥’  
 ‘उद्धव बिकल बिलोकि कें, लखि कुबजा अभिमाँन ।  
 गोपिन-जुल दरसन दिए, नँद-नंदन भगमाँन ॥’

तरंगनि-वारिपर एक सुमधुर सूक्ति और सुनिये, जैसे—

‘सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम् ।  
 सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः ॥

—श्रीमद्च्छंकराचार्यकृतषट्पदी, ३

\* उक्त भावपर ‘आदिपुराण’ की एक सुमधुर सूक्ति हमें भी याद आ गयी है, जैसे—

‘न तथा मे प्रियतमो ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव ।  
 न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम ॥’

—आदिपुराण

अर्थात्—ब्रह्मा, रुद्र, लक्ष्मी और स्वयं मेरी आत्मा भी मुझे उतनी प्रिय नहीं हैं जितनी कि गोपियाँ हैं ।

अर्थात् हे नाथ, मुझमें और आपमें भेद न होनेपर भी मैं तो आपका ही हूँ, किंतु आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरंगें समुद्रकी होती हैं, तरंगका समुद्र नहीं ।

७५

### कवि-कथन

ब्यामोहक (पाठांतर्गत)—मोह उत्पन्न करनेवाली, विमोहक, माया । जारी—जाली, परदा, माया । पुंजनी—देनेवाली; पूर्ण करनेवाली ।\* परिपूर्ण, ओत-प्रोत ।

ब्यामोहक, जारी और पुंजनी शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

‘सकल लोक दिखराइ मात मुख, डारि दई ‘ब्यामोहक-जारी ।’

—परमानन्ददास

‘प्रेम-पुंजनी रस-मैं लीला, गाबै और सुनाबै ।’

—वृन्दावनदास

॥ इति शुभम् ॥



\* श्रीनन्ददासजीके इस छंदमें—‘प्रेम-रस-पुंजनी’ के ‘पुंजनीका अर्थ करते हुए श्रीवियोगी हरि और ब्रजरत्नदासजी आदिने इसका अर्थ ‘ढेरि, ढेर’ वा ढेरी माना है, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता । कारण, पुंज शब्द-से ‘पुंजनी’ नहीं बना है, अपितु यह क्रियाविशेष है—सकर्मक क्रिया है और इसका अर्थ जैसा कि ऊपर दिया गया है—होता है । उदाहरण भी मौजूद है, आगे भूल-चूक लेनी-देनी ।

---

---

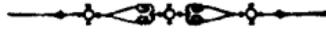
परिशिष्ट

---

---

॥ श्रीः ॥

## परिशिष्ट ( 'क' )



श्रीशुक उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।  
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥  
तमाह भगवान् प्रेष्टं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।  
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥  
गच्छोद्धव ब्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।  
गोपीनां मद्धियोगाधि मत्सन्देशैर्विमोचय ॥ ३ ॥  
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।  
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् विभर्म्यहम् ॥ ४ ॥

१—श्रीशुकदेवजी बोले—वृष्णियोंके सर्वश्रेष्ठ मंत्री, भगवान् कृष्णके प्यारे सखा और शरणागतोंके दुःख हरनेवाले बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य, अर्थात् परम बुद्धिमान् वा बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ उद्धवको भगवान्ने बुला और उनका हाथ अपने हाथमें ले तथा एकान्तमें ले जाकर बोले— हे उद्धव ! हे सौम्य ( निर्मल ) ! तुम ब्रजको जाओ । वहाँ मेरे वियोगपीडित पिता, माता और गोपियोंको मेरा संदेश देकर उनके विरहदुःखको दूर करो, क्योंकि इन गोपियोंका मन मुझमें ही लग रहा है और मेरे लिये ही उन सबने अपने देहके कृत्योंको छोड़ दिया है । उनकी तो बात ही क्या, जो कोई भी मेरे लिये लोक और धर्मका त्याग कर देता है उसका पालन-पोषण मैं ही करता हूँ ॥ १-४ ॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।  
 स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥ ५ ॥  
 धारयंत्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथंचन ।  
 प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् संदेशं भर्तुराहतः ।  
 आदाय रथमारुह्य प्रययौ नंदगोकुलम् ॥ ७ ॥  
 प्राप्तो नंदव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ ।  
 छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥ ८ ॥  
 वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिवृषैः ।  
 धावंतीभिश्च वास्राभिरूधोभारैः खवत्सकान् ॥ ९ ॥  
 इतस्ततो विलंघद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।  
 गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥ १० ॥

मैं उनका प्रियसे भी प्रिय हूँ, इसलिये मेरे बिलग होनेसे वे गोकुलकी स्त्रियाँ—व्रज-नारियाँ मुझे स्मरण कर-कर मोहित हो विरहकी उत्कण्ठासे विह्वल हो जाती हैं ॥ ५ ॥

वे बड़ी कठिनाईसे किसी प्रकार प्राणोंको रख केवल मेरे संदेश पानेकी अभिलाषासे ही जी रही हैं ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन् ! इस प्रकार भगवान्‌के कहनेपर उद्धव गोपियोंसे संदेश कहनेके लिये रथपर बैठकर व्रजको चले ॥ ७ ॥

सूर्यास्तके समय लौटते हुए पशुओंकी खुररेणुसे रंजित रथद्वारा उद्धव, नंदके व्रजमें पहुँचे ॥ ८ ॥

वह व्रज पुष्पवती गौओंके लिये आपसमें लड़नेवाले मतवाले वृषभों-से शब्दायमान थीं । गौएँ अपने स्तनोंके भारसे भारान्वित होते हुए भी अपने-अपने बछड़ोंपर दौड़ती थीं—उनको आलिंगनके लिये उनकी ओर जाती हैं । इधर-उधर दौड़ते हुए सफेद गौवोंके बछड़ोंसे सुशोभित व्रज गोदोहनके शब्दोंसे झंकरित और वंशी-ध्वनिसे प्लावित है ॥ ९-१० ॥

गायंतीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।  
 खलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥ ११ ॥  
 अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनाचितैः ।  
 धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपात्रासैर्मनोरमम् ॥ १२ ॥  
 सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।  
 हंसकारंडवाकीर्णैः पद्मषंडैश्च मण्डितम् ॥ १३ ॥  
 तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।  
 नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥ १४ ॥  
 भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।  
 गतश्रमं पर्यपृच्छत्पादसंवाहनादिभिः ॥ १५ ॥  
 कच्चिदंग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।  
 आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ॥ १६ ॥

और वह ब्रज श्रीकृष्ण और बलरामद्वारा किये गये शुभ कर्मोंका गान करनेवाली सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत गोप-बाल्य और गोपोंसे सुशोभित है ॥ ११ ॥

वह ब्रज अग्नि, सूर्य, अतिथि, गो, ब्राह्मण और पितृदेवताकी पूजाके धूप, दीप और मालासे सुशोभित गोपोंके घरोंसे बड़ा मनोहर है ॥ १२ ॥

चारों ओर फूले हुए वनोंसे सुशोभित पक्षी और भ्रमरसमूहोंसे शब्दायमान है और हंस, कारंडव ( जलकुक्कुट ) आदिसे युक्त पद्म-समूहसे मण्डित है ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय अनुचर उद्धवको आया देखकर श्रीनन्द बाबा अति प्रसन्न हुए और उनका आलिंगन कर ( उनका ) अर्चन किया ॥ १४ ॥

रातमें भोजनके उपरान्त उन्हें पलंगपर सुखपूर्वक बैठाकर नन्द बाबा उनकी पाद-सेवा करते हुए यह पूछने लगे ॥ १५ ॥

उद्धवजीसे बाबा नन्द बोले कि हे महाभाग ! हमारे मित्र-शूर-पुत्र वसुदेव बन्धन-विमुक्त हो सुहृदोंके साथ पुत्रादि-सहित कुशलतो हैं ? ॥ १६ ॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।  
 साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेषि यः सदा ॥ १७ ॥  
 अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।  
 गोपान्ब्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥ १८ ॥  
 अप्यायास्यति गोविंदः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।  
 तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥ १९ ॥  
 दावाग्नेर्वातवर्षाञ्च वृषसर्पाञ्च रक्षिताः ।  
 दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥ २० ॥  
 स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापांगनिरीक्षितम् ।  
 हसितं भाषितं चांग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥ २१ ॥  
 सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ।  
 आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥ २२ ॥

पापी कंस अपने भाइयोंके साथ अपने पापद्वारा मारा गया, अच्छा हुआ, क्योंकि वह सदा धर्मशील और साधु यादवोंसे द्वेष करता था ॥ १७ ॥

क्या कृष्ण, अपनी माता और सुहृद् सखाओंके साथ हमारी गौओं, गोपों और अपने द्वारा रक्षित ब्रज, वृन्दावन तथा गोवर्धनको कभी याद करते हैं ? ॥ १८ ॥

हे उद्धव ! क्या गोविंद अपने जनोंको देखने यहाँ ( ब्रजमें ) आयेंगे । क्या फिर हम उस सुन्दर नासिका और नेत्रोंवाले हँसते हुए मुखको देखेंगे ॥ १९ ॥

क्योंकि, दावानल, पवन, वर्षा, अरिष्टासुर और कालियसर्पसे उसने हमारी रक्षा की है । बड़ी-बड़ी मृत्युओंसे भी उस सुहृद् आत्मा कृष्णने हमारी रक्षा की है ॥ २० ॥ श्रीकृष्णके चारु चरित्र, उनके लीला-सहित नेत्रोंसे कटाक्षमय देखना, उनका हँसना, बोलना, ये सब स्मरण करनेसे हमारी क्रियाएँ—आंगिक कर्म सब शिथिल हो जाते हैं ॥ २१ ॥ नदी, पर्वत और वनके वे प्रदेश—स्थल विशेष, जो मुकुन्द भगवान्के पदोंसे सुशोभित हैं, अथवा जहाँ वह खेले हैं, देखनेसे हमलोगोंके मन कृष्ण-मय हो जाते हैं ॥ २२ ॥

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।  
सुराणां महर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥ २३ ॥  
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ।  
अवधिष्ठां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥ २४ ॥  
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।  
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्विरिम् ॥ २५ ॥  
प्रलंबो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो वकादयः ।  
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥ २६ ॥

श्रीशुक उवाच

इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।  
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तर्ष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥ २७ ॥  
यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।  
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्त्राक्षीत्स्नेहस्रुतपयोधरा ॥ २८ ॥

हम मानते हैं कि श्रीकृष्ण और बलराम दोनों देवताओंमें श्रेष्ठ देवता हैं  
देवताओंके बड़े कार्य करनेके लिये पधारे हैं, जैसा कि गर्गने कहा था ॥ २३ ॥

उन्होंने दस हजार हाथियोंके बलवाले कंसको, उसके मल्लोंके और  
कुवलयापीड हाथीको सहज ही ऐसे मारा, जैसे सिंह मृगोंको मारता है ॥ २४ ॥

उस तीन तालके बराबर लंबे धनुषको उन्होंने इस प्रकार तोड़  
डाला, जिस प्रकार हाथी विसी लकड़ीको तोड़ डाले और सात दिनतक  
एक हाथपर गोवर्धन पर्वतको भी धारण किया था ॥ २५ ॥

जिन्होंने सुर और असुरोंको भी जीत लिया—एसे प्रलंब, धेनुक  
अरिष्ट, तृणावर्त और वकासुर आदि दैत्योंको मारा और सहज ही मारा ।

श्रीशुकदेव बोले कि राजन् ! इस प्रकार श्रीकृष्णमें अनुरक्त बन्धु-  
नन्द उनकी बातोंको याद कर-कर उत्कण्ठासे गला भर जानेके कारण प्रेममें  
विह्वल हो चुप हो गये और माता जसोदा भी पुत्रके वर्णन किये गये इस  
चरित्रको सुनकर आँसुओंसे पृथ्वीको भिगोने लगी तथा स्नेहके कारण उनके  
स्तन-द्वयसे दूध टपकने लगा ॥ २७-२८ ॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।

वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्भवो मुदा ॥ २९ ॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।

नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥ ३० ॥

एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।

अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥ ३१ ॥

यस्मिन्नः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।

निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥ ३२ ॥

तस्मिन्भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्त्तौ ।

भावं विद्यत्तां नितरां महात्मन्किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥ ३३ ॥

बाबा नंद और यशोदाका भगवान् कृष्णके प्रति इस प्रकारका अनुराग देख, उद्धव बड़े आनंदको प्राप्त हो बाबा नंदसे बोले ॥ २९ ॥

उद्धव बोले, हे मानद ( प्रतिष्ठा करने योग्य ) ! यह बात निश्चय है कि आप और माँ यशोदा दोनों बड़ी सुंदरश्लाघा ( स्तुति ) के योग्य हो, क्योंकि आप लोगोंने सब लोकोंके गुरु नारायणके प्रति इस प्रकार बुद्धि लगायी है ॥ ३० ॥

ये राम और कृष्ण दोनों वीर्य और योनि होनेसे संसारके उपादान और निमित्तके कारण हैं । प्रकृति और पुरुष इन दोनोंके ही आधीन हैं, ये दोनों पुराण पुरुष हैं, जो सब भूतोंमें प्रविष्ट हो विलक्षण ज्ञानका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥

जिन कृष्णके प्रति पुरुष प्राण-वियोगके समय क्षणमात्र भी निर्मल मन लगाये तो शीघ्र ही कर्म-वासनाओंको दूर कर और दिव्य ज्ञानी बन सूर्य-सा प्रकाशित हो परमगति वैकुण्ठको पाता है ॥ ३२ ॥

हे महात्मन् ! यद्यपि सब संसारके हेतु भक्तोंके पावन प्रेमके कारण मर्त्य-रूप ( मनुष्यरूप ) धारण करनेवाले श्रीनारायणके प्रति आप लोगोंने जैसी भावना की है, उससे आपकी अब कौन-सी कमनीय कामना बाकी रही ॥ ३३ ॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन ब्रजमच्युतः ।  
 प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः ॥ ३४ ॥  
 हत्वा कंसं रंगमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।  
 यद्ग्राह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥ ३५ ॥  
 मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।  
 अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥ ३६ ॥  
 न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।  
 नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥ ३७ ॥  
 न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।  
 नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥ ३८ ॥  
 न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।  
 क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥ ३९ ॥

तथापि सात्वतों ( यादवों ) के पति अच्युत भगवान् थोड़े ही दिनमें  
 ब्रज पधारेंगे और आप लोगोंको सुख देंगे ॥ ३४ ॥

क्योंकि, रंगभूमिमें यादवोंके शत्रु कंसको मारकर जो कुछ आपसे  
 भगवान् श्रीकृष्णने कहा है, उसे वे अवश्य ही सत्य करेंगे ॥ ३५ ॥

हे महाभाग ! आप खेद न करें, क्योंकि श्रीकृष्णको आप अपने पास  
 अवश्य ही देखेंगे । वे तो सब भूतोंके हृदयमें इस प्रकार विराजमान हैं,  
 जिस प्रकार लकड़ीके भीतर अग्नि रहती है ॥ ३६ ॥

बाबा, वे मान-रहित हैं, उनका कोई प्रिय और अप्रिय नहीं है, सब-  
 को समान मानते हैं, इसलिये उनके कोई उत्तम और मध्यम नहीं हैं ॥ ३७ ॥

उनके न कोई माता है, न पिता है, न भार्या है और न सुतादि ही  
 हैं । उनके न कोई अपना है और न पराया, न देह है, न जन्म है ॥ ३८ ॥

यद्यपि इन सत्-असत् मिश्रित योनियोंमें उनका कोई भी कर्म नहीं  
 है, तथापि साधुओंकी रक्षाके लिये वे क्रीडामें प्रवृत्त होते ही हैं ॥ ३९ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।  
 क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यव्रति हन्त्यज ॥ ४० ॥  
 यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।  
 चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्त्तृवाहंधिया स्मृतः ॥ ४१ ॥  
 युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।  
 सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥ ४२ ॥

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्तुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।  
 विनाच्युताद्भस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥  
 एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नंदस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।  
 गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ४४

वे गुण-रहित होकर भी सत्त्व, रज और तमादि गुणोंको भजते हैं, क्रीड़ा करते हैं तथा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके कारण होते हैं॥ ४० ॥

जिस प्रकार घूमते हुए पुरुषकी दृष्टिमें पृथ्वी भी घूमती हुई नजर आती है, उसी प्रकार आत्माका जो अहमर्थ—मैं-पना है, उसको चित्त देहादिकमें आरोपकर आत्मा देहादिको कर्त्ता मानता है ॥ ४१ ॥

भगवान् हरि, केवल आपके ही पुत्र नहीं हैं, अपितु वे सबके पुत्र, आत्मा, पिता और माता हैं अस्तु, वे ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥

जगत्में जो दृष्टव्य ( देखने लायक ) या श्रुत ( सुना जानेवाला ) भूत या भविष्यत्, स्थिर या चर, छोटा या बड़ा जो कुछ भी है, वह सब उस अच्युतमय है । उनके बिना कुछ भी नहीं है, इसलिये वे ही परमार्थ होनेसे सर्वमय हैं ॥ ४३ ॥

श्रीशुकदेव महाराज परीक्षितसे बोले कि राजन्, बाबा नंदसे कृष्ण-दास उद्धवको इस प्रकार कहते-कहते ही वह रात्रि क्षणके समान व्यतीत हो गयी, प्रातःकाल सब गोपियाँ उठीं और नित्यकर्मके अनन्तर दिया बालकर विधि-सहित वास्तुदेवोंका पूजन कर दधि मथने लगीं ॥ ४४ ॥

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकंकणस्रजः ।  
 चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विषत्कपोलारुणकुंकुमाननाः ॥ ४५ ॥  
 उद्गायतीनामरविंदलोचनं व्रजांगनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।  
 दध्नश्च निर्मथनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममंगलम् ॥ ४६ ॥  
 भगवत्युदिते सूर्ये नंदद्वारि व्रजौकसः ।  
 दृष्ट्वा रथं शातकौभं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥ ४७ ॥  
 अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।  
 येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥ ४८ ॥  
 किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रीतस्य निष्कृतिम् ।  
 इति स्त्रीणां वदंतीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दशोकापनयनं नाम  
 षट्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

राजन् ! उनके मणिजटित आभूषण दीपोंसे प्रकाशित होनेके कारण  
 बड़े सुन्दर दिखलायी पड़ने लगे । दधि-मंथनके समय रम्य-रज्जुके आकर्षणसे  
 —बार-बार खींचनेसे, उनकी भुजा, कंकण, माला, नितंबदेश, कटिभाग,  
 स्तन, हार और कुण्डल सब चंचल होने लगे । उनका कुंकुम-मंडित-  
 मुख अरुण होनेके कारण विशेष सुन्दर लगने लगा ॥ ४५ ॥

कमल-लोचन भगवान्के चारु चरित्र गान करनेके कारण व्रज-सुन्दरियोंकी  
 जो रसपूर्ण मंजुल-ध्वनि उत्पन्न हुई वह दधि-मंथनकी सुन्दर स्वर-लहरीके साथ मिल-  
 कर आकाशमें फैल गयी, जिससे दसों दिशाओंका अमंगल नाश होने लगा ॥ ४६ ॥

जब सूर्योदय हुआ तो व्रज-वासी बाबा नंदके द्वारपर खड़े सुंदर रथ-  
 को देखकर आपसमें पूछने लगे कि यह 'रथ' किसका है ॥ ४७ ॥

क्या अक्रूर फिर आया है ? जो कंसकी अर्थ-सिद्धिके लिये हमारे प्यारे  
 कमल-लोचन कृष्णको मथुरा ले गया था ? ॥ ४८ ॥

क्या, अब हमारे प्राण-रहित शरीरसे वह अपना कोई अन्य अभीष्ट कार्य  
 सिद्ध करना चाहता है ? इस प्रकार स्त्रियोंके कहने-सुननेमें ही श्रीउद्धव  
 स्नान-संध्यादि कर वहाँ ( नंदके घर ) आ गये ॥ ४९ ॥

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलंबबाहुं नवकंजलोचनम् ।  
 पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥ १ ॥  
 शुचिस्मिताः कोऽयमपीच्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ।  
 इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदांबुजाश्रयम् ॥ २ ॥  
 तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।  
 रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विश्वाय संदेशहरं रमापतेः ॥ ३ ॥  
 जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् ।  
 भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन् ! नवीन कमलके समान नेत्रवाले, आजानुबाहु, पीताम्बरधारी, कमल-मालिकाओंसे युक्त और मणि-जड़ित कुण्डलोंसे शोभायमान मुखवाले भगवान्के अनुचर ( उद्धव ) को गोपियोंने देखा, व्रजकी स्त्रियोंने उन्हें निहारा ॥ १ ॥

उत्तमश्लोक भगवान्के चरण-कमलके आश्रयमें रहनेवाले उद्धवकी अच्युत-जैसी ही वेश-भूषा देखकर गोपियाँ विस्मयके साथ आपसमें पूछने लगीं कि यह मनोहर हासवाला कौन है ? कहाँसे आया है ? आदि कहती हुई उत्कंठा-वश उनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २ ॥

जब गोपियोंने जाना कि ये प्रिय कृष्णके सखा हैं और उनका संदेश लेकर आये हैं, तब विनम्र हो लजावश कुछ-कुछ मुस्कराती तथा कटाक्षमय मधुर वचनों-द्वारा उनका सत्कार करती हुई, एकान्तमें ले जाकर उत्तम आसनपर उन्हें बैठाया और पूछने लगी ॥ ३ ॥

गोपी बोलीं कि हम आपको जानती हैं कि आप यदुपतिके पार्षद ( पासमें रहनेवाले, मंत्री, मीर मजिलिस ) हो और आपको आपके स्वामीने माता-पिताकी प्रसन्नताके निमित्त भेजा है । इसीलिये आप यहाँ आये हैं ॥ ४ ॥

अन्यथा गोत्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्षमहे ।  
 स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥  
 अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।  
 पुग्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्खिव पट्पदैः ॥ ६ ॥  
 निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।  
 अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥  
 खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।  
 दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥ ८ ॥

नहीं तो इस गौओंके ब्रजमें अब उनकी प्यारी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दिखलायी पड़ती जो उन्हें यहाँकी याद दिलाये, परंतु हाँ, जिनके स्नेह-बन्धनमें बँधकर आपको यहाँ उनकी प्रसन्नार्थ भेजा है सो ठीक ही है, क्योंकि स्नेहका श्रेष्ठ बन्धन मुनियोंसे भी कठिन्तासे तोड़ा जाता है ॥५॥

जो अपने नहीं हैं, उनसे मतलब निकल जाने तककी ही मित्रता होती है—रहती है, जब प्रयोजन सिद्ध हो गया तब मित्रता कैसी ! उदाहरणरूपमें अन्य स्त्रियोंके साथ पुरुषोंकी, अथवा नवविकसित फूलोंके साथ भौरेकी ( जैसी ) मित्रता रखी जा सकती है ॥ ६ ॥

धनहीन पुरुषको वेश्या, असमर्थ राजाको प्रजा, विद्या पढ़ लेनेपर अध्यापकको विद्यार्थी, यजमानसे दक्षिणा ले लेनेके बाद ऋत्विज ( यज्ञ करानेवाला ), फल बीतनेपर पेड़ ( वृक्ष ) को पक्षी, भोजनके अनन्तर अतिथि, जल जानेके बाद वनको मृग, भोगे पीछे प्रेमस्वरूपा परस्त्रीको जार पुरुष छोड़ देते हैं, इसमें क्या कहना और सुनना ॥ ७ ॥

अथवा जिस प्रकार फलरहित वृक्षको पक्षी, भोजनके अनंतर जिस प्रकार अतिथि घरको, जले हुए वनको जिस प्रकार मृग और भोगके पश्चात् जिस प्रकार जार पुरुष स्त्रीको छोड़ देते हैं, उसी प्रकार हमको छोड़ दिया ॥ ८ ॥

इति गोप्यो हि गोविंदे गतवाक्कायमानसाः ।  
 कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥  
 गायंत्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः ।  
 तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ १० ॥  
 काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायंती कृष्णसंगमम् ।  
 प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांमि सपत्न्याः  
 कुचविलुलितमालाकुंकुमश्मश्रुभिर्नः ॥  
 वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं  
 यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२ ॥

इस तरह मन, वचन और शरीरसे गोविंदमें आसक्त गोपियोंने भगवान् कृष्णके दूत उद्धवको ब्रजमें पाकर—उनके साथ संभाषण करते हुए अपने अपने लौकिक कर्मोंको छोड़ दिया ॥ ९ ॥

पहिले वे अपने प्रियके कर्मों ( कार्यों ) को गान करने लगीं और फिर उनके बाल और किशोरावस्थामें किये गये कर्मोंको याद करके लजा-ओड़ रुदन करने लगीं ॥ १० ॥

कृष्ण भगवान्के सुसंगमका ध्यान करती हुई वे गोपियाँ, किसी मधुकर-के देख और उसे अपने प्रियका दूत मानकर कल्पना कर, यह कहने लगीं ॥ ११ ॥

गोपियाँ बोलीं कि हे मधुप ! तुम कपटीके मित्र हो, अतः हमारे चरणोंका स्पर्श न करो, क्योंकि तुम सौतके स्तनोंपर विलुलित मालाके कुंकुम ( पद्म ) को लगा लाये हो । अरे, ऐसे मानिनीके उन्नायक प्रसादको वो वेसा मधुपति ( श्रीकृष्ण ) ही धारण करने लायक है, वही इस प्रसादको पाकर यदुसमामें हँसने लायक है, जिसका कि तू दूत बना है ॥ १२ ॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा

सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवाहक् ।

परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा

ह्यपि वत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥ १३ ॥

किमिह बहु षडंग्रे गायसि त्वं यदूना

मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसंगः

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयंतीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥

दिविभुवि च रसायां काः स्त्रियस्तदुरापाः

कपटरुचिरहासभ्रविजृम्भस्य याः स्युः ।

चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का

अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ १५ ॥

अपनी मोहनेवाली अधर-सुधाका एक बार पान कराकर उन्होंने हमें छोड़ दिया, जिस तरह नव विकसित पुष्पोंका रस लेकर तू ( उन्हें ) छोड़ देता है । लक्ष्मी, उनके पाद-पद्मका सेवन क्यों करती है ? मालूम होता है कि वह उन उत्तम श्लोक ( भगवान् ) के वचनों-द्वारा चित्तके चुराये जानेपर ही ऐसा करती है ॥ १३ ॥

हे षडंग्र ! हम बिना घर-द्वारवाली वनचरियोंके आगे ( सामने ) पुराने जाने-पहिचाने यदुपति ( श्रीकृष्ण ) का क्यों बहुत बखान ( बड़ाई ) करता है ? यह कीर्ति-कथा तो उस अर्जुनके सखाकी सखियोंको ही जाकर सुना, उनके आगे ही जाकर कह जो कि उनकी प्यारी हैं और जिनके स्तनोंका कामाग्निरोग उनके हृदयसे लगनेके कारण मिट गया है, वे ही तेरे मनोरथको पूरा करेंगी ॥ १४ ॥

त्रिभुवनमें कौन ऐसी स्त्री है जो उसे दुर्लभ हो ? जिसे कि वह प्राप्त न कर सके ? क्योंकि ( उनका ) कपटसंयुक्त मंद हाँसी और भौंहोंका विचित्र-विलास बड़ा सुंदर है—मोहक है । जिनके चरण-रजकी उपासना महालक्ष्मी नित्य किया करती हैं, उसके लिये हम क्या हैं ? फिर भी जो दीन-दुखियोंपर दया-दृष्टि रखते हैं—करते हैं उन्हें उत्तमश्लोक नामसे पुकारा जाता है, औरोंको नहीं ॥ १५ ॥

विसृज शिरसि पादं वेद्म्यहं चाटुकारै-  
 रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुंदात् ।  
 स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका  
 व्यसृजदकृतचेता किं नु संधेयमस्मिन् ॥ १६ ॥  
 मृगयुरिव कर्पीद्रं विव्यधे लुब्धधर्मा  
 स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।  
 बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वांक्षवद्य—  
 स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥ १७ ॥  
 यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्—  
 सकृददनविधूतद्वंद्वधर्मा विनष्टाः ।  
 सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना  
 बहव इह विहंगा भिक्षुचर्यां चरन्ति ॥ १८ ॥

हमारे पैरोंपरसे अपने शीशको हटा, हम तेरी यह चाटुकारता—  
 चापुलूसी खूब जानती हैं। अरे! यह कपट-विनयसे भरी दूतता तो तूने  
 मुकुंदहीसे न सीखी है? हाय, जिसके लिये हमने अपने पति, पुत्र और  
 लोकको छोड़ा, वही अकृतज्ञ तथा चंचल-चित्त, हमें त्यागकर चला गया।  
 क्या ऐसेके पास फिर हम जायँ ॥ १६ ॥

जिस लुब्धधर्मीने व्याधकी तरह वानरराज ( वाली ) को वेधा—  
 मारा, स्त्रीके वश होकर कामनी एक स्त्रीको विरूप किया और बलिकी दी  
 हुई भेंट लेकर भी काककी तरह ( उसे ) बाँधा, हाय, ऐसे कालेकी प्रीति बड़ी  
 बुरी है, अत्यंत निकृष्ट है; पर छोड़ी नहीं जाती ॥ १७ ॥

जिनका अमृतमय लीला-चरित्र जरा-सा भी किसीके कान पड़ जाय,  
 तो वह रागद्वेषादि द्वन्द्वधर्मोंको नष्ट कर अकिंचनरूपसे अपने दीन कुटुम्ब-  
 को त्याग देता है और संसारसे दुखी हो आप भी दीन बना पक्षियोंकी तरह  
 अपना ही पेट पालता हुआ भिक्षुककी भाँति इधर-उधर मारा-मारा फिरने  
 लगता है, अतएव ऐसी कथा जिसके सुननेसे यह गति हो, सुनना ठीक  
 नहीं ॥ १८ ॥

वयमृतमिव जिह्वा व्याहृतं श्रद्धधानाः

कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।

ददृशुरसकृदेतत्तन्नखस्पर्शतीव्र-

स्मररुज उपमंत्रिन्भण्यतामन्यवार्ता ॥ १९ ॥

प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं

वरय किमनुहंधे माननीयोऽसि मेंऽग ।

नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वंद्वपाश्वर्ष

सततमुरसि सौम्य श्रीर्वधूः साकमास्ते ॥ २० ॥

अपि वत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते

स्मरति स पितृगेहान्सौम्यबन्धूंश्च गोपान् ।

क्वचिदपि स कथा नः किंकरीणां गृणीते

भुजमगुरुसुगंधं मूर्ध्न्यधास्यत्कदा नु ॥ २१ ॥

जैसे काले कपटी व्याधके सुमधुर गानपर श्रद्धाकर हरिणी बँध जाती है—मारी जाती है, उसी प्रकार हम भी उन ( कृष्ण ) की स-कपट बातों-को सत्य मान लुभा गयीं । अतएव उनके द्वारा बारंबार किये गये नख-क्षर्तोंके देखनेसे हमको बड़ी काम पीड़ा होती है, इसलिये हे दूतोंमें श्रेष्ठ ! उन ( कृष्ण ) की चर्चा छोड़कर अन्य बातें कर ॥ १९ ॥

हे प्रियके सखा ! अरे, तू जाकर फिर आया ? क्या प्यारेने तुझे (हमें) अपने पास बुलानेको फिर भेजा है ? प्रिय ! तुम हमारे माननीय हो, अतः जो इच्छा हो वह माँगो ! जिनका संग दुस्त्यज्य है—जिनके संगको पुर-स्त्रियाँ छोड़ना नहीं चाहती, उन ( कृष्ण ) के पास हमें फिर क्यों ले चलना चाहते हो ? हे सौम्य ! हमसे वह ( कृष्ण ) फिर न त्यागा जायगा, इसलिये उनके पास अब न ले चलो ? फिर वधू लक्ष्मी तो उनके हृदयमें सदा बसती ही है—रहती ही है ॥ २० ॥

हे सौम्य ! क्या आर्यपुत्र इस समय मथुरामें हैं ? वे पिताके घरकी, बन्धुओंकी और गोपोंकी याद करते हुए कभी हम दासियोंकी कथा भी कहा करते हैं ? हाय, अगर ( चंदन ) से अलंकृत—सुगन्धित भुजाको वे हमारे शीशपर अब कब रखेंगे ? ॥ २१ ॥

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।  
सांत्वयन्प्रियसंदेशैर्गोपीरिदमभाषत ॥ २२ ॥

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।  
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥ २३ ॥  
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।  
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥ २४ ॥  
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।  
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥ २५ ॥  
दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनामि च ।  
हित्वा वृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेव बोले कि उद्धव, कृष्ण-दर्शन-लालसासे उल्लसित गोपियों-को इस प्रकार कहते-सुनते देख, उन ( गोपियों ) को प्रियके संदेशोंसे सांत्वना देते हुए यह बोले ॥ २२ ॥

उद्धव बोले कि जिनके वासुदेव भगवान्में इस प्रकार मन अर्पित हो गये हैं—लग गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये, फिर वे लोक-पूजित क्यों न हों ? ॥ २३ ॥

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और संयम आदि जितने भी श्रेयस्कर धर्म हैं, उन सबसे श्रीकृष्ण भगवान्की भक्ति सिद्ध की जाती है—प्रतिपादित की जाती है ॥ २४ ॥

इन्हों ( गोपियों ) ने उत्तम श्लोक भगवान्के प्रति बहुत उत्तम भक्ति की है, जो मुनियोंको भी दुर्लभ है ॥ २५ ॥

पति, पुत्र, देह, स्वजन और घर—इन सबको छोड़कर, इन्होंने उस परम पुरुष श्रीकृष्णको बरा—चाहा, जो बड़ा सुन्दर है ॥ २६ ॥

सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोक्षजे ।  
 विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २७ ॥  
 श्रूयतां प्रियसंदेशो भवतीनां सुखावहः ।  
 यमादायागतो भद्रा अहं भर्तृ रहस्करः ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित् ।  
 यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥ २९ ॥  
 तथाहं च मनःप्राणभूतैर्द्रियगुणाश्रयः ॥ २९-२ ॥  
 आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।  
 आत्ममायानुभावेन भूतैर्द्रियगुणात्मना ॥ ३० ॥

आप सबका उन अधोक्षज भगवान्में विरहके कारण आत्मभाव हो गया है—हर समय उन्हें अपने पास देखती हो, अतः हे महाभागो! तुमने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया ॥ २७ ॥

अब आप सुखके देनेवाले अपने प्रियके संदेशोंको सुनें । हे मंगल-कारिणियो! इसीके लिये मैं यहाँ आया हूँ और इसी कार्यके लिये मेरे स्वामीने मुझे यहाँ भेजा है ॥ २८ ॥

भगवान्ने कहा है कि हमारा और तुम्हारा किसी तरह, किसी समय, कभी भी और कहींपर भी वियोग नहीं है । जिस प्रकार आकाश, वायु, अग्नि, जठ और पृथ्वी-आदि पंचभूतोंका, इन पंच-भूतोंसे बने शरीरधारी प्राणीसे नहीं होता ॥ २९ ॥

उसी प्रकार मैं भी मन और प्राणसे भूतेन्द्रिय-गुणोंका आश्रय होकर रहता हूँ, अर्थात् उनसे मैं पृथक् नहीं हूँ ॥ २९-२ ॥

मैं दिव्य-ज्ञान-संकल्पके प्रभावसे भूत-इन्द्रिय-गुणोंको, उनका रूप होकर अभिन्न जगत्को, पृथक् शरीर होनेके कारण माया-द्वारा सृजता हूँ—बनाता हूँ, पालन करता हूँ, अर्थात् रक्षा करता हूँ और नाश करता हूँ ॥ ३० ॥

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।  
 सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥  
 येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।  
 तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥ ३२ ॥  
 एतदंतः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।  
 त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रांता इवापगाः ॥ ३३ ॥  
 यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।  
 मनसः संनिकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ३४ ॥  
 यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।  
 स्त्रीणां च न तथा चेतः संनिकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥ ३५ ॥

आत्मा तो ज्ञानमय होनेके कारण शुद्ध स्वरूप है—पृथक् है और गुणोंसे रहित है—अलग है। अतः माया और प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण ( वह ) जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति-रूप अवस्थाओंमें प्रकाशित होता रहता है ॥ ३१ ॥

जैसे मनमें स्वप्नके अनंतर स्वप्न-जनित विषयोंका अनित्य-ज्ञान बना रहता है, वैसे ही जाग्रत्-अवस्थामें मन-द्वारा इंद्रिय-जनित विषयोंका बोध, ध्यान बना रहता है—होता रहता है, अतएव उस अवस्थामें मनको रोकनेपर सावधान होनेके कारण मेरे स्वरूपको जानने लगता है ॥ ३२ ॥

बस, इस प्रकार मनका रोकना ही समस्त विद्वानोंका अभिमत है। यही वेदार्थ है, यही योग है, यही सांख्य है, यही शम-दम है और यही सत्य है, क्योंकि नदियोंकी समाप्ति—अंत, समुद्रमें ही तो होती है ॥ ३३ ॥

मैं तुम्हारी दृष्टिका प्रिय-विषय बन इसलिये दूर रहता हूँ कि तुम्हारा मन एकाग्र हो जाय, क्योंकि एकाग्र मन होनेपर ही मेरा ध्यान होगा, मन स्थिर होनेपर ही मेरे ध्यानकी कामना होगी ॥ ३४ ॥

जैसा, प्रियतमके दूर रहनेके कारण स्त्रियोंका मन (उसमें) लगा रहता है, आकर्षण बना रहता है, वैसा मन पासमें—सामीप्यमें, नेत्रोंके आगे होनेके कारण नहीं लगता ॥ ३५ ॥

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।  
 अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥ ३६ ॥  
 या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्ब्रज आस्थिताः ।  
 अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ ३७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य ब्रजयोषितः ।  
 ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्संदेशागतस्मृतीः ॥ ३८ ॥

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।  
 दिष्ट्यात्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥ ३९ ॥  
 कच्चिद्ब्रजाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।  
 प्रीतिं नः स्निग्धसत्रीडहासोदारैक्षणार्चितः ॥ ४० ॥

अतः सब विषयोंसे हटाये हुए एकाग्र मनको मुझमें लगानेसे मेरा ध्यान करने और स्मरण करनेसे थोड़े ही समयके अनंतर मुझको मिलोगी ॥ ३६ ॥

हे कल्याणियो ! ब्रजमें बसते—रहते हुए जो वनमें रात्रिके समय ( मैंने ) क्रीड़ा की, जिनके साथ अनेकानेक खेल खेले, उनके अतिरिक्त जो और अलब्धरासा हैं वे मेरे पराक्रमका चिन्तवन कर मुझे पा गयीं ॥ ३७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले कि राजन्, गोपियाँ प्रियतमके शुभ-संदेशको इस प्रकार मुन और उस संदेशसे प्रियका स्मरण होनेपर, बड़ी प्रसन्न हो उद्धवसे बोलीं ॥ ३८ ॥

गोपियाँ बोलीं कि, यादवोंको क्लेश देनेवाला कंस मरा यह सुन्दर हुआ । अतः सर्वार्थ सिद्ध-प्राप्त, अर्थात् पूर्ण मनोरथी अपने प्रियोंके साथ अभ्युत इस समय कुशल हैं, बहुत सुन्दर है ॥ ३९ ॥

हे सौम्य ! बलदेवके छोटे भैया नगर-निवासिनियोंकी मनोहर हास-युक्त लज्जा और उदार कटाक्षोंसे पूजित होकर कभी हमारी प्रीतिकी बातें भी करते हैं ? ॥ ४० ॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।  
 नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥ ४१ ॥  
 अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।  
 गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथांतरे ॥ ४२ ॥  
 ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-  
 वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।  
 रेमे कणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या—  
 मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥ ४३ ॥  
 अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।  
 संजीवयन्तु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमंबुदैः ॥ ४४ ॥  
 कस्मात्कृष्ण इहायति प्राप्तराज्यो हताहितः ।  
 नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥ ४५ ॥

वह रति-विशेषज्ञ होनेके कारण सुन्दर स्त्रियोंका प्रिय, पूजित होकर उनके सुन्दर वाक्योंमें भूल कैसे न बँध जायगा ? अर्थात् अवश्य बँध जायगा ॥ ४१ ॥

हे साधु! कभी पुरस्त्रियोंके समूहमें प्रवृत्त (आसक्त) गोविन्द, अपनी इच्छित कथाओंमें प्रसंगानुसार हम ग्रामणियों-गाँवारियोंकी भी वे याद बरते हैं ॥ ४२ ॥

वे ( श्रीकृष्ण ) कभी कुमुद, कुंद और इंदु तथा चंदनसे सुशोभित वृन्दावनकी उन रम्य-रात्रियोंका भी स्मरण करते हैं, जिनमें हम प्यारियोंके साथ चरण-नूपुर ध्वनिसे परिपूर्ण रास रमा था और जिसमें हमने उसकी मनोहर कथा गायी थीं ॥ ४३ ॥

वे दाशार्ह, अभी यहाँ आकर हमारे संतप्त गात्रको, जिस प्रकार मेघ वनको शीतल करता है, उसी तरह अपने अंगोंसे शीतल करेंगे ? ॥ ४४ ॥

कृष्ण यहाँ क्यों आयेंगे ! उन्होंने अपने शत्रुको मार लिया, उसका राज्य भी ले लिया, राजकन्याओंके साथ विवाह कर लिया और अपने सुहृदोंको पा भी लिया ॥ ४५ ॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।  
 श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥ ४६ ॥  
 परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिंगला ।  
 तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥  
 क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् ।  
 अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरंगान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८ ॥  
 सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।  
 संकर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥ ४९ ॥  
 पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं वत ।  
 श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥ ५० ॥

वह आप्तकाम, अर्थात् पूर्णकाम महात्मा, हम जंगली स्त्रियोंसे अथवा  
 अन्य स्त्रियोंसे कृतकृत्य हो सकेगा ? कुछ कार्य साध सकेगा ? क्योंकि वह  
 लक्ष्मीका पति है ॥ ४६ ॥

निराशा बड़ी सुखद है, यह स्वैरणी ( वेश्या ) पिंगलाने कहा था  
 और इसे हम भी जानती हैं, फिर भी कृष्ण-प्रति हमारी दुरत्यया ( दुःखसे  
 परिपूर्ण ) आशा नहीं छुटती,—नहीं छुटती ॥ ४७ ॥

उन उत्तम श्लोक-द्वारा कहीं बातें किससे छोड़ी जाँयगी,—किससे  
 त्यागी जाँयगी, क्योंकि ( उनकी ) बातोंमें आसक्त लक्ष्मी उनके न चाहनेपर  
 भी ( उनका ) संग छोड़ना नहीं चाहती ॥ ४८ ॥

हे प्रभो, श्रीकृष्णने यमुना नदी, गोवर्धन गिरि और वनोंके इन  
 प्रदेशोंमें संकर्षणके साथ बहुत चरित्र किये हैं ॥ ४९ ॥

वे सब स्थान ( जहाँ-जहाँ उन्होंने क्रीड़ा की थी ) नन्द-गोप-सुतको  
 बार-बार याद करते हैं और हम भी लक्ष्मीनिकेत ( घर ) के उन चरण-  
 चिह्नोंको ( नदी, शैल और वनोंमें ) देखकर उनको भूल नहीं सकतीं ॥५०॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।  
 माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥ ५१ ॥  
 हे नाथ ! हे रमानाथ !! ब्रजनाथार्तिनाशन ।  
 मममुद्धर गोविंद गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥ ५२ ॥

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसंदेशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।  
 उद्धवं पूजयांचक्रुर्ज्ञात्वात्मानमधोक्षजम् ॥ ५३ ॥  
 उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः ।  
 कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥ ५४ ॥  
 यावन्त्यहानि नन्दस्य ब्रजेऽवात्सीत्स उद्धवः ।  
 ब्रजौकसां क्षणप्रायाप्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥ ५५ ॥

उनकी मनोहर चाल, सुन्दर हँसी—उदार हास, कौतुकसहित देखना और मधुर बोलना हमारे हृदयोंमें बस रहा है,—रम रहा है, हम उन्हें कैसे भूलें ॥ ५१ ॥

हे नाथ, हे रमानाथ, हे ब्रजनाथ, हे आर्तनाशन ( दुःखोंसे छुड़ानेवाले ), हे गोविंद, तुम्हारे विरह-दुःख-समुद्रमें डूबे हुए ब्रजका शीघ्र उद्धार करो ॥ ५२ ॥

श्रीशुक बोले कि गोपियोंने इस प्रकार कहने और सुननेके अनंतर श्रीकृष्णके संदेशोंसे अपने दुःखोंको कुछ कम कर, उद्धवकी आत्माको अधोक्षज भगवान्की आत्मासे भिन्न—पृथक् न मान उन ( उद्धव ) का पूजन किया ॥ ५३ ॥

और उद्धव भी, श्रीकृष्ण-लीलाकी कमनीय कथाओंके निरंतर मान-द्वारा गोपियोंका शोक-शमन करते हुए गोकुलमें कितने ही दिन विरमे रहे ॥ ५४ ॥

उद्धव, श्रीनंदबाबाके ब्रजमें जितने भी दिन रहे । वे दिन श्रीकृष्णकी निरंतर बात-चीत होनेके कारण क्षण-समान व्यतीत हो गये ॥ ५५ ॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।

कृष्णं संस्मारयन्नेमे हरिदासो ब्रजौकसाम् ॥ ५६ ॥

दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्रवम् ।

उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७ ॥

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो

गोविंद एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।

वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च

किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५८॥

वे यमुना नदी, निकुंजादि, वन, गोवर्धनगिरिकी कंदरा और प्रफुल्लित वृक्षोंके जिनमें भगवान् श्रीकृष्णने क्रीड़ाएँ कीं, दर्शन करते-कराते श्रीकृष्णकी याद दिलाते रहे ॥ ५६ ॥

उद्धव, गोपियोंकी श्रीकृष्णमें आंतरिक अत्यंत आसक्तिके कारण उत्पन्न विपुल-विकलताको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें ( गोपियोंको ) नमस्कार कर इस तरह बोले ॥ ५७ ॥

इस पृथ्वीपर शरीरको अपना माननेवाले जीवोंमें इन गोप-वधूटियोंका जन्म ही धन्य है—इनका जन्म लेना ही सार्थक है, क्योंकि इन्होंने सबके आत्मा श्रीगोविंदमें अपने सब रूढि-भाव,\* प्रसिद्ध भाव लगा दिये हैं जिन्हें कि संसारसे विरक्त रहनेवाले मुनि और संसारमें लिप्त, आसक्त हम सब चाहते हैं । अतः भगवत्कथा-रसके चाहनेवालोंका ब्राह्मण-कुलमें लेना ही कुछ विशेष कारण नहीं है—प्रयोजन नहीं है ॥ ५८ ॥

\* रूढिभावके अर्थमें भी भागवतके टीकाकारोंका विभिन्न मत है, कोई इसका अर्थ प्रेम मानता है तो कोई स्वर्गादि सुख, कोई देहादिकी क्रियाओंको मानता है तो कोई जन्म-मरणसे निवृत्ति—आदि-आदि ।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः

कृष्णे क चैष परमात्मनि रूढभावः ।

नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-

च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥

नायं श्रियोऽग उ नितान्तरतेः प्रसादः

स्वयोषितां नलिनगंधरुचां कुतोऽन्याः ।

रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकंठ—

लब्धाशिषां य उदगाद्ब्रजवल्लवीनाम् ॥६०॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां

वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा

भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ६१ ॥

अहो, कहाँ ये व्यभिचार-दृष्टिसे दूषित वनचरियाँ और कहाँ इनका परमात्मा श्रीकृष्णमें रूढि-माया—प्रेमाशक्ति ? कोई भी अज्ञानी हो और किसी जातिका क्यों न हो, ईश्वरसे प्रेम करनेपर उसका कल्याण होता ही है । जिस प्रकार अमृतके गुणको न जाननेवाला उसका सेवन करनेसे अमर हो जाता है ॥ ५९ ॥

भगवान्से नितान्त प्रेम ( अत्यन्त प्रेम ) करनेवाली लक्ष्मी और कमलगंध जैसी कान्तिवाली देव-कन्याएँ, निरंतर संगमें रहकर भी वह प्रसन्नता और प्रसाद न पा सकीं, जिसे कि रासोत्सवमें श्रीकृष्णकी भुजाओंसे आलिंगन कर ब्रज-मुन्दरियोने पाया था ॥ ६० ॥

यदि मैं, गोपियोंकी चरण-रज सेवन करनेवाली वृन्दावनकी गुल्म-लता और ओषधि ही बन जाऊँ—तो मेरा जन्म सफल हो जाय, क्योंकि इन्होंने ( स्वयं न छोड़े जानेवाले ) दुस्त्यज स्वजनोंका और आर्य श्रेष्ठ पथका त्याग कर श्रुतियाँ भी जिसे ढूँढनेमें असमर्थ हैं ऐसे श्रीमुकुन्द भगवान्को भजा है—पाया है ॥ ६१ ॥

या वै श्रियार्चिनमजादिभिरासकामै-

यौगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।

कृष्णस्य तद्भ्रगवतश्चरणारविन्दं

न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥

वन्दे नन्दब्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्षणशः ।

यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ६३ ॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।

गोपानामन्व्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥ ६४ ॥

तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।

नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥ ६५ ॥

इन गोपियोंने लक्ष्मी, आसकाम ब्रह्मा और शिव-द्वारा पूजित भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका जिन्हें कि योगेश्वर सदा अपने अन्तःकरणमें ध्यान धरा करते हैं, रास-गोष्ठीके समय अपने स्तनोंपर रख और उनसे आलिंगन कर ( अपने ) पापोंका नाश किया था ॥ ६२ ॥

मैं, इन नन्द-ब्रज-स्त्रियोंकी निरंतर वंदना करता हूँ, क्योंकि इनके द्वारा गायी गयी हरि-कथा तीनों भुवनोंको पवित्र करनेवाली है ॥ ६३ ॥

श्रीशुक बोले कि इसके अनंतर दासार्ह ( उद्धव ), गोपियोंसे, यशोदासे और बाबा नन्दसे आज्ञा लेकर और गोपोंसे मिलकर जानेके लिये—मथुरा वापिस आनेके लिये, रथपर बैठे ॥ ६४ ॥

नन्दादिक उन्हें ( उद्धवको ) जाते देखकर अपनी आँखोंमें अनुराग-के आँसुओंको भर—प्रेमासुओंसे अभिषिचन कर, हाथोंमें उन्हें देनेके लिये अनेकानेक भेंटकी वस्तुएँ ले यह बोले ॥ ६५ ॥

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।  
 वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ ६६ ॥  
 कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र कापीश्वरेच्छया ।  
 मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७ ॥  
 एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।  
 उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥ ६८ ॥  
 कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्तयुद्धेकं ब्रजौकसाम् ।  
 वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे उद्धवप्रतियाने  
 सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।



हमलोगोंके मनकी सारी वृत्तियाँ उन ( श्रीकृष्ण ) के चरणोंमें,  
 वचन उनके नामोंका गान करनेमें और शरीर उनको प्रणाम करनेमें  
 लगे रहें ॥ ६६ ॥

ईश्वरकी इच्छासे हमने जो कुछ भी मंगलमय आचरण और दानादि  
 किये हैं उन कर्मों-द्वारा घूमते हुए—भ्रमते हुए हम किसी योनिमें जायँ,  
 परंतु हमारी प्रीति परमेश्वर-श्रीकृष्णमें ही लगी रहे ॥ ६७ ॥

राजन्, उद्धवजी इस प्रकार कृष्ण-भक्त गोपोंसे पूजा पानेपर पुनः  
 श्रीकृष्ण-पालित मथुरामें आये ॥ ६८ ॥

श्रीकृष्णको प्रणाम करनेके अनंतर ब्रज-वासियोंकी भक्तिकी भूरि-भूरि  
 प्रशंसा कर—उनकी भक्तिके उद्धेकमें आकर, वसुदेवजीको, राम ( बलराम )  
 को और महाराज उग्रसेनको नंदादिक-द्वारा दी गयी भेंटें दीं ॥ ६९ ॥

## परिशिष्ट—( “ख” ) \*

ऊधौ कौ उपदेस सुनों किनि कान दै ।  
निरगुनँ स्याँम सँदेस पठायौ आँन दै ॥



कोउ आवत उहि ओर जहाँ नँद-सुवन पधारे ।  
सरस बँनु-धुनि होत मनोँ आए ब्रज प्यारे ॥  
धाए सब दल गाजि कें, ऊधौ देखे जाइ ।  
लै आए ब्रजराज-घर आँनद उर न समाइ ॥ १ ॥



अरघ, आरती, तिलक, दूब, दधि मारथे दींन्हीं ।  
कंचन-कलस भराइ, बहुरि परिकंमा कींन्हीं ॥  
गोप-भीर आँगन भई, जुरि बैठे इक जाति ।  
जल-झारी आगें धरी, पूँछति हरि-कुसलाति ॥ २ ॥



कुसल-छेंम बसुदेव, कुसल देबकि-कुबजाऊ ।  
कुसल-छेंम अकरूर, कुसल नीके बलदाऊ ॥  
पूँछि कुसल गोपाल की, रहे सकल गहि पाँइ ।  
प्रेम-मगन ऊधौ भए, पेखत ब्रज के भाइ ॥ ३ ॥

\* सूरदासजीका ‘भ्रमरगीत’ बहुत प्रसिद्ध है और उसकी सुमधुर पदावली बहुतेका कंठहार है । सूरसागरके उस भ्रमरगीतमेंसे कुछ संग्रह पूर्वीय सम्पादकोंकी सूझ-बूझके अनुसार छप चुका है, अतः उसे न दुहराकर ~~ह्रम~~ श्रीसूरकी तत्सम एक नयी प्राप्त रचना विश्व पाठकोंकी भेंट परिशिष्ट “ख” रूपसे की जा रही है, भूल-चूक लेनी-देनी ।

मन में ऊधौ कहै, बूझिऐ क्यौं गोपालहि ।  
 ब्रज कौ हेत-बिसारि, जोग सिखवें ब्रज-बालहि ॥  
 इनकी प्रीति पतंग लों, जारत है सब देह ।  
 वे हरि-दीपक-जोति ज्यौं, नेंक न उनकें नेह ॥ ४ ॥



ऊधौ, कर लै घरी, लिखा हरि जू की पाती ।  
 पढ़ी परत नहिं नेंकु, रहे पौढ़ी करि छाती ॥  
 पाती बाँचि न आवई, रहे नैन-जल-पूरि ।  
 देखि प्रेम गोपीन कौ, ग्यान-गरब भयौ दूरि ॥ ५ ॥



फिरि इत-उत बैहराइ, नीर नैननके सोधे ।  
 ठाँनी कथा प्रबोधि, तबहिं फिरि गोप-सँमोधे ॥  
 जो व्रत मुनिवर ध्यानहीं, पावत नर भ्रतार ।  
 ते व्रत सिख सब गोपिका, देंहि जू बिषै-बिमार ॥ ६ ॥



सुनि ऊधौ के बचन, रहीं कै नीचे तारे ।  
 माँनों माँगति सुधा, आँनि ब्यालनि-बिष जारे ॥  
 हँम गँवारि का जाँनहीं, जोग-जुगति की रीति ।  
 नँद-नँदन-व्रत छाँडि कें, को लिखि पूँजै भीति ॥ ७ ॥



अगमत अगह अपार, आदि अबगत है सोऊ ।  
 आदि निरंजन नाम ताहि, रंजै सब कोऊ ॥  
 नैन नासिका अग्र है, तहाँ ब्रह्म कौ बास ।  
 अबनासी बिनसै नहीं, सहज जोति परगास ॥ ८ ॥



ऊधौ, जो पग-पाँनि नाहिं ऊखल क्यों बाँधे ।  
 नैन, नासिका, मुख न, चोरि-दधि कौने खाधे ॥  
 तब जु खिलाए गोद में, बोलि तोतरे बँन ।  
 ऊधौ, ताहि बताव ही, जाहि न सूझै नैन ॥ ९ ॥



माया अनित अधारी, ता लोचन दुइ नाखे ।  
 ग्याँनी नैन अनंत ताहि सूझै परमाखे ॥  
 बूझौ निगम-बुलाइ कें, कहै भेद समुझाइ ।  
 आदि-अंत जाकौ नहीं कौन पिता, को माइ ॥ १० ॥



ऊधौ, घर भौ घूर, कहौ मन कहँ-कहँ धावै ।  
 भपनी घर परिहरै, कहौ को घूर बतावै ॥  
 मूख जादव जाति है, हमहिं सिखावै जोग ।  
 हम सों भूली कहत हैं, हम भूलीं कै लोग ? ॥ ११ ॥



प्रेम, प्रेम तें होइ, प्रेम तें पर है रहिए ।  
 प्रेम-बँधौ संसार, प्रेम-परमारथ लहिए ॥  
 एकै निसचै प्रेम कौ जीवन-मुक्ति रसाल ।  
 साँचौ निसचै प्रेम कौ, जाहिर मिलें गुपाल ॥ १२ ॥



ऊधौ, कहि सत-भाव न्याइ तुम्हरे-मुख साँचै ।  
 जोग-प्रेम-रस-कथा, कहौ कंचन कै काँचै ॥  
 जाके पर है हुजिए, गहिए सोई नैम ।  
 मधुप, हमारी सों कहौ, जोग भलौ कै प्रेम ॥ १३ ॥



पाठान्तर—

१. हमहीं भूली कहत हैं, कै भूले सब लोग ।  
 भूलौ हम तें कहत है, हम भूली धों लोग ॥

सुनि गोपिन के बॅन, नॅम ऊधौ तब मूले<sup>१</sup> ।  
 ब्रज-बनिता-गुँन-गात, फिरत कुंजॅन में फूले<sup>२</sup> ॥  
 पुँनि गोपिन के पाँइ परि, कहत धन्न इहि नॅम<sup>३</sup> ।  
 धाइ-धाइ द्रुम भेंटि हीं, ऊधौ काके प्रॅम ॥ १४ ॥



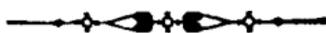
धनि गोपी, धनि ग्वाल, धन्न सुरभी-बन-चारी ।  
 धनि इहि पावन भूमि, जहाँ गोविँद अभिसारी ॥  
 उपदेसनि आयौ हुतो, मोहि भयौ उपदेस ।  
 ऊधौ जदुपति पै चले, धरि गोपी कौ भेष ॥ १५ ॥



भूले जदुपति नाम, कहत गोपाल गुसाँई ।  
 एक बार ब्रज जाइ, देहु गोपिँन दिखराई ॥  
 बृंदाबन-सुख-छाँड़ि कॅ, कहाँ बसे हो आइ ।  
 गोबरधँन प्रभु जाँनि कॅ, ऊधौ पकरे पाँइ ॥ १६ ॥



ऊधौ, ब्रज कौ प्रॅम-नॅम बरनों सब आई ।  
 उँमग्यौ नॅनन-नीर, बात कछु कही न जाई ॥  
 'सूर' स्याँम भूलत भए, रह्यौ नॅन जल छाइ ।  
 पोंछि पीत-पट सों कछ्यौ, भल आए जोग-सिखाइ ॥ १७ ॥



१. नॅम ऊधौ कौ भूल्यौ ..... ।

२. गावत गुँन गोपाल, फिरै कुंजन में फूल्यौ ॥

३. खँन गोपिन के पाँइ परि बदत धन्य पै नॅम ।

# परिशिष्ट—( ‘ग’ )

## जुक्ति-समूह



दोहा

ऊधौ जू सों इक सँमें, यहै कही ब्रजराज ।  
गोकुल-ग्राम सिधारिऐ, परमारथ के काज ॥ १ ॥



ऊँकी तौ अत-ही लगी, हँम सों ऊधौ, प्रीति ।  
जाते हँम कों वे लहैं, जाइ सिखाबौ रीति ॥ २ ॥



ऊधौ जू गोपीन कों, जाइ देहु तुँम जोग ।  
जाते उनकौ बरु घटै, दारुन, दीरघ सोग ॥ ३ ॥



---

१. यह कलात्मक-कृति पहले लीथोमें छपी सुप्रसिद्ध हिंदी-लेखक पं० हरिशंकरजी शर्मा, लोहामंडी आगराके यहाँ देखनेमें आयी थी । अतः लोकोक्तियोंका इतना सुंदर संग्रहरूप कृष्ण-काव्य, विशेषकर ‘उद्धव-गोपी’-संवादके रूपमें बड़ा सुंदर लगा । इसके पूर्व लोकोक्तियोंके कुंदनमें जड़ी एक रम्य-रचना “श्रीजगतानंद” कृत “उखान भागवत दशम” देखनेमें आयी थी, वह भी अत्यन्त सुंदर थी । अस्तु, इन दोनों ग्रन्थ-रत्नोंके सुसंपादित रूपमें प्रकाशनकी चर्चा चली, पर वह हो न सका । इधर श्रीनंददासजीके “भ्रमरगीत” के साथ उसे देनेकी याद आयी, एक मित्रने इसके हस्तलिखित रूपमें प्राप्तिकी सूचना दी, अतः दौड़ा गया और येन-केन प्रतिलिपि कर ले आया, वही आज परिशिष्ट “ग” रूपमें प्रस्तुत है । रचना कैसी है, उसे विश पाठक देखें और समझें । —संपादक

आँनद सों ऊधौ चले, आग्या लै ब्रजराज ।  
परमारथ मिलबौ भयौ,—“एक पंथ द्वै काज” ॥ ४ ॥



ऊधौ कों आयौ सुँनों, दौरिं देखन नारि ।  
“भूँखौ ज्यौं बंगालिया, भातै-भात पुकारि” ॥ ५ ॥



कुसल-लेंम कों वृद्धि कें, लै आँई निज धाँम ।  
ऊधौ सों फिर वृद्धि-हीं, कहा कह्यौ है स्याँम ॥ ६ ॥

#### उद्धव-वचन

हँम सों कही गुपाल ने, गोपिँन सों अति प्रीति ।  
जाते मो कों वे लहैं, जाइ बताबौ रीति ॥ ७ ॥



तब हँम सिच्छा दें कों, आए गोकुल-प्राँम ।  
मिलबे कौ ये जतँन है, जोग बतायौ स्याँम ॥ ८ ॥



ताते गोपी सकल तुँम, लेहु चारु यै जोग ।  
मिलि हौ तब तुँम कृष्ण सों, तजि हौ दारुँन सोग ॥ ९ ॥

#### गोपी-वचन

जोग लेहु री सार है, भली देत हौ सीख ।  
प्रेम तजें, जोगहिँ भजें, “न्योँतोँ-छाँड़े भीख” ॥ १० ॥



ऊधौ, हीरा-प्रेम तजि, लेंहिँ गरे में काँच ।  
“जोई काछिँ न-काछिँए, सोई नँचिँए नाँच” ॥ ११ ॥



ऊधौ, लेंहिँ सुजोग कों, प्रेम देहिँ बिसराइ ।  
“घर कौ नाग न पूँजिँए, बाँमी-पूँजें जाइ” ॥ १२ ॥

कुंडलिया

बूझौ, ऊधौ जू सकल, हँमने तुँम्हरौ ग्याँन ।  
 अबलँन के उपदेस कों, लाए ब्रज में ग्याँन ॥  
 लाए ब्रज में ग्याँन, हिण् की नाँही जाँनत ।  
 “सूझै-बूझै नाँहि गुलेल कौ, बिसँन सु ठाँनत” ॥  
 ‘कहँ सदाँ सिबलाल’, राबरौ भौत सँमूझौ ।  
 “रहौ मौन हँ सदाँ, बात इँन तें नहिँ बूझौ” ॥ १३ ॥



ऊधौ जू, गोपाल की, नाँहि प्रीति में साख ।  
 “चार दिनाँ की चाँदनी, फेरि अँधेरी पाख” ॥  
 ‘फेरि अँधेरी पाख’, राख तँन हँमने कीन्हों ।  
 ताकौ यै फल भयौ, जोग गोपिँन तुँम दीन्हों ॥  
 ‘कहँ सदाँ सिबलाल’, तुँम्हें जाँन्योँ हम सूधौ ।  
 रीति-करँन न अनीति भाँखिए आपन ऊधौ ॥ १४ ॥



दासी ‘कुबजा’ कंस की, ता कौ अधिक मिजाज ।  
 “नाज गगरिया में लखे, भयौ कुरिअटै-राज” ॥  
 ‘भयौ कुरिअटै राज’, जँनम सोँ कुबरी बिगरी ।  
 वे चाँहें नहिँ कहँ, जाति हँम जाँनेँ सिगरी ॥  
 ‘कहँ सदाँ सिबलाल’, बनी यै जोरी खासी ।  
 “वे अहीर के पूत, करी घरबारी दासी” ॥ १५ ॥



आली, वा गोपाल केँ, काहू की नहिँ पीर ।  
 “काँम-सरें दुख-बीसरै, छाछ न देत अहीर” ॥  
 ‘छाछ न देत अहीर’, प्रीति उननेँ कहँ पाई ।  
 “छेरी कौ जिय जाइ, नृपति के मनेँ न भाई” ॥

‘कहै सदाँ सिबलाल’, स्याँम के उर ना साली ।  
तुम बृथाँ-हिँ पचिमरौ, करौ नाहक सिर खाली ॥ १६ ॥



ऊधौ, वे माँने नहीं, प्रीति जु हँम सों राखि ।  
“नाब चढ़े झगराइया, पैरत आँमें साखि” ॥  
‘पैरत आँमें साखि’, तैसौई तौ है सब सों ।  
कथ न बूझियत बात, सुहागिल भाँखै सब सों ॥  
‘कहै सदाँ सिबलाल’ ग्याँन हँमरौ है सूधौ ।  
हँमें प्रेम कौ नैम, और नहिँ जानत ऊधौ ॥ १७ ॥

दोहा

दासी सों ऊधौ करी, हँम सों प्रीति दुराइ ।  
“कूकुर चौक बिठारियौ, चाकी चाटँन जाइ” ॥ १८ ॥

कुंडलिया

स्याँम-सँदेसे के सुँनत, लग्यौ सखी, उर सेल ।  
“नए विकनियाँ वे भए, अंडी केरि फुलेल” ॥  
‘अंडी केरि फुलेल’, जोग कौ गरुओ भाँखें ।  
बसँन भँगौहे रँगौ, मलौ तुँम तँन में राखें ॥  
‘कहै सदाँ सिबलाल’ लिखी यै कौन पुराँने ।  
प्रेम-हिँ सेबत अधिक, जोग हँम नाँहिँन जाँने ॥ १९ ॥



जाँनत-हीं उनकों सखी, ह्वै है बुद्धि सरिस्स ।  
“ढीलदार गुम्मज सुतौ, है अबाजदर फिस्स” ॥  
‘है अबाजदर फिस्स’, जोग गोपिँन कों लाए ।  
सो ऊधौ, ब्रज-माँहिँ, बड़े ग्याँनी बन आए ॥  
‘कहै सदाँ सिबलाल’, आप-सौँ औरँन माँनत ।  
ज्यों मूरख ह्वै आप, जगत मूरख ही जाँनत ॥ २० ॥



जा गुपाल सों प्रीति कर, हँम चाँह्यो रस-रास ।  
 “नदी-किनारे खूबरा, जब-तब होइ बिनास” ॥  
 ‘जब-तब होइ बिनास’, हितै ठाँनें सो भूलै ।  
 हँम जाँनत-हीं नाँहि, नेह यै दुख कौ मूले ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, डार मोंहिनी-जाल सों ।  
 बचँन न पायौ ऊधौ कोऊ, बा गुपाल सों ॥ २१ ॥



बिगरौ हँमरौ ना तक्यौ, तोरी प्रीति चटाक ।  
 “धोबी-बेटा चाँद सौ, सीटी और फटाक” ॥  
 ‘सीटी और फटाक’, हँमारी कहा है बिँन कों ।  
 घर-बर-स्यागौ, काँनि गई, अब का है तिँनकों ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, देह बदनाँमीं सिगरै ।  
 “चाँहें ताकी फटै, कहा धोबी कौ बिगरै” ॥ २२ ॥



पायौ जब सों प्रेम हँम, नेम रह्यौ न सुनाभ ।  
 “आग-लगते झोंपरा, जो निकसै सो लाभ” ॥  
 ‘जो निकसै सो लाभ’, हँमारें नाँहिँन इच्छा ।  
 चाँहें उनसों मिलौ, लँहिँ तौ तुँम्ह सों सिच्छा ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, हँमारें निसचै आयौ ।  
 “जोई न्हाँइँ गंग, सोई हँमने फल पायौ” ॥ २३ ॥



आली, लागी होइ तौ, तौ मन पीर पिराइ ।  
 “छुरी पराए पेट में, माँनों भुस में जाइ” ॥  
 ‘माँनों भुस में जाइ’, जोग गोपिँन कों अब-री ।  
 करते रास-बिलास, ग्याँन जब हो कहँ तब-री ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, “मीत गों कौ बँनमाली ।  
 कुबजा सों रति आप, देत सिच्छा हँमें आली ॥ २४ ॥



दीन्हों सोग हँमें सखि, कहें जोग उपदेस ।  
 “जैसे कथा घर रहे, तैसे गए बिदेस” ॥  
 ‘तैसे गए बिदेस’, हँमारों ल्हैनों ना-री ।  
 झगरी ज्यों-ज्यों सखी, हँमें त्यों-त्यों भरि मारी” ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, इतौ अपराध न कीन्हों ।  
 निज तँन दीरघ दंड सखी, गोपिँन कों दीन्हों ॥ २५ ॥



ऊधौ जू, तब-हों सु किँन, जोग दियौ गोपाल ।  
 “औसर-चूकी डोंमिनी, गाबै सरग-पताल” ॥  
 ‘गाबै सरग-पताल’, रास काहे सुख ल्याए ।  
 इतो कहाँ जब ग्याँन, सुधा-रस अधर-पियाए ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, जाँनती-हीं हँम सूधौ ।  
 तब नहिँ दीन्हों स्याँम, देत सिच्छा अब ऊधौ ॥ २६ ॥



भाँखें ऊधौ, कहाँ-लों, देख्यौ अपनौ भाग ।  
 “घरकी मारी बन गई, बन-हूँ लागी आग” ॥  
 ‘बन-हूँ लागी आग’, धाँम-बँन भाजे तजि कें ।  
 करी स्याँम सों प्रीति, लयौ सुकलंक सिर बजि कें ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, काँन्ह ते बैर सु राखें ।  
 इँन करमँन कौ दोष, बुरौ क्यों उनकों भाँखें ॥ २७ ॥



ऊधौ, दासी राखि कें, बातँन-माँहि बड़े ।  
 “एक करेला कारुए, दूँजें नीम चढ़े” ॥  
 ‘दूँजें नीम चढ़े’, अहीर कों पीर कहाँ-री ।  
 भूलीं हम-हीं सखी, कपट की खान मुरारी ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, जाँनती हरि कों सूधौ ।  
 “अरहर टटिया कुलफ,—गुजराती ऊधौ” ॥ २८ ॥



ऊधौ, कुबजा सों करी, प्रीति हँमें दै पीठ ।  
 “साजँन, साजँन दुरि मिले, झूठे परे बसीठ” ॥  
 ‘झूठे परे बसीठ’, लगौ-री आप बाट कौ ।  
 “धोबी कौ कूकरा, भयौ ना घर-हिँ घाट कौ” ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, करौ ऐसौ बनमाली ।  
 आपकरत है भोग, जोग गोंपिँन कों आली ॥ २९ ॥



ऊधौ, आगें ना हती, या सुग्याँन की खोइ ।  
 “ज्यों-ज्यों भीजैकामरी, त्यों-त्यों भारी होइ” ॥  
 ‘त्यों-त्यों भारी होइ’, जोग वे हँमें सिखाबें ।  
 औरँन दैमैं सगुँन-आप ‘कुत्तन-चुथबाबें’ ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, जाँनती हरि कों सूधौ ।  
 कुबजा सों करि भोग, देति सिच्छा सों ऊधौ ॥ ३० ॥



ऊधौ, स्याँम-सुहाग की, कुबजा के सिर सिद्ध ।  
 “घर कौ जोगी, जोगनाँ, आँन गाँउँ कौ सिद्ध” ॥  
 ‘आँन गाँउँ कौ सिद्ध’, पठायौ हँमें जोग है ।  
 लखिँएँ ये सुबिबेक, वाहि दासी सु भोग है ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, जाँनती-हीं हरि-सूधौ ।  
 “मिल बायस औ हंस, भली जोरी सुभ ऊधौ” ॥ ३१ ॥

चौपई

ऊधौ, यहाँ जोग लै आये । “ज्यों भेंसिन में बीन बजाए” ॥  
 तहीं जोग बिस्तारौ भाई । “थोथौ फटकें उड़-उड़ जाई” ॥ ३२ ॥



हदैं बसत ताकों तू अयौ । जीबँन-मूरि कूर लै गयौ ॥  
 लेहु प्राँन जो हँमरे पास । “गएँ अंक का उर की आस” ॥ ३३ ॥

निस-दिन प्राँन हँमारे उड़ें। “फूटे-बासँन कब तक चुड़ें” ॥  
इक तौ मरती स्याँम बियोग। “ता पर कहत लेहुरी जोग” ॥ ३४ ॥



बुद्धि बती कुबजा-सी तिया। “गेंडिया गाँउँ कुँम्हार म्हैँतिया” ॥  
बृथाँ सु-जो करती है घैर। “जल में बसेँ मगर सों बैर” ॥ ३५ ॥



प्रीति करी हँम पायौ जोग। “भाग आपने कुबजा-भोग” ॥  
“करँम-हीँन जब खेती करै। बैल मरै, कै सूखा परै” ॥ ३६ ॥  
जाँनेँ हँमरी सखी बलाइ। “अंधौ पीसै कुत्ता-खाइ” ॥  
और कलंक लेहु ब्रजनाथ। “बगुला-मारें टखना हाथ” ॥ ३७ ॥



देहु जोग सिर चूक जु धारौ। “चेरी करतब लातँन मारौ” ॥  
ऊधौ कों मत सूधौ जाँनेँ। या सों कपटी औरन मानों ॥ ३८ ॥



आली, ए उँन मनुषँन-माँहें। “कोढ़ी मरै सँगाथी चाँहें” ॥  
छोटे ऊधौ, बड़े तमाँसे। “हाथी लटै तऊ बटिहा से” ॥ ३९ ॥



ऊधौ, गोपिँन सों काकाज। “सूनों घर भिड़ियँन कों राज” ॥  
इँन दुक्खँन सों छाती जरै। “बड़ी धार चमरा घर परै” ॥ ४० ॥



“टटुआ चढ़ि जीतै संग्राम। क्यों खरचै तुरकँन को दाँम” ॥  
जिननेँ प्रेम-सुधा-रस चख्यौ। “ऊधौ, मन न कछू अभिलख्यौ” ॥ ४१ ॥



नीच-प्रसंग स्याँम की भूल। “खजुही कुतिया, मखमल झूल” ॥  
देखौ, वा करता कौ खेल। “सीस-छँहुँदर पर्यौ फुलेल” ॥ ४२ ॥



ऊधौ जू, हँम कों यै भई । “बाँस खाइ, उतराई दई” ॥

ऊधौ, ब्रज कौ पैडौ बँडौ । “नाँच न आबै आँगन टेढौ” ॥ ४३ ॥



आँनी बात चलाबै कौन । “भेंस न कूदी, कूदी गौन” ॥

लीजै नैम, प्रेम कों छोर । “परधँन देखें रोबैं चोर” ॥ ४४ ॥



“नीकी अपनी नाँहि कँमाइ । कैसैं दोष देंइ-री माई” ॥

लहैनों ना हमरौ उन-साथ । “भरे सँमुदर घोंघा हाथ” ॥ ४५ ॥



ऊधौ जू, हँमरी यै भूल । “प्रीति करी, सो दुख कौ मूल” ॥

अब यै जीबँन काटौ खेई । “बोंधौ बनियाँ, सीधौ होई” ॥ ४६ ॥



हँम कों ऊधौ ग्याँन बताबै । “कोऊ मरै, मलारै गाबै” ॥

कपटी कुबजा सोहत गाढ़ी । “गज-भर मियाँ, सबा गज डाढ़ी” ॥ ४७ ॥



जीबँन-मूरत स्याँम निहारौ । नैनन आगें टरत न टारौ ॥

टेंट परी चंदँन के घिस्सर । “कोरिँन के बेगारी मिस्सर” ॥ ४८ ॥



नैन-मूँदि कें ध्याँने धरें । “कुँइयाँ-डारे पाथर सरें” ॥

करी प्रीति सो स्याँमहिँ तैसी । ऊधौ जू, करिहै को ऐसी ॥ ४९ ॥



ऊधौ, हँमरें ना बिसबास । “टूटौ रिनियाँ घर में बास” ॥

कुबजा सों उन जोरी प्रीति । ऊधौ, यहै बड़ेन की रीति ॥ ५० ॥



जासों होत सरिर आग में । “डेढ़ बकायँन मियाँ बाग में” ॥

जोग नहीं जे हँमरौ काँम । मन में चुभ्यौ सल्लोंनों स्याँम ॥ ५१ ॥



ऊधौ जू, हँम कौँ यै भई । “गडुभा-गदत भेरि ह्वै गई” ॥  
कुबजा करी स्याँम पटरानी । प्रीति न नेंकौ हँम सौँ माँनी ॥ ५२ ॥



जाँन परथौ उँनकों मनसूबा । “जोगी बढें बुभाबें तूँबा” ॥  
कुबजा कें जु अटारी-अटा । “नई जोगनी, गाँड़ में जटा” ॥ ५३ ॥



जो चाँहें सो दासी करै । श्री गुपाल जू कौँ मन हरै ॥  
ऊधौ जू, कछुकहत न आबै । “घर कौँ भेदी, लंका ढाबै” ॥ ५४ ॥



ठाँनी प्रीति चार दिँन स्याँम । ऊधौ करीं हँमें बदनाँम ॥  
हाइ, हमें दै आँनाकाँनी । “बछिया थोरी, हत्या घाँनी” ॥ ५५ ॥



ऊधौ, भलौ बनों यै जोग । जा कौँ सकल हँसत हैं लोग ॥  
स्याँम करी कुबजा सौँ प्रीति । “अंधौ मुल्ला, फटी मजीति” ॥ ५६ ॥



होत हँमारी छाती जरँन । “मूँड़-मुड़ाउत ओरे परँन” ॥ ५७ ॥

### सोरठा

जहाँ, स्याँम की चाँह, प्रघटत ऊधौ जोग तहँ ।  
हँम ठाँन्योँ वौ व्याह, “गावत गीत मसीत के” ॥ ५८ ॥

### कुंडलिया

आए ऊधौ, तुँम भले, देत जोग उपदेस ।  
“आपुँन मीयाँ मंगते, द्वार खरे दरबेस” ॥  
‘द्वार खरे दरबेस’, बेस अँग धूरि लगाएँ ।  
माथें राखी जटा, भँगोँहे बसँन रँगाएँ ॥  
‘कहै सदाँ सिबलाल’, धरँम यै कैसौ लाए ।  
अबलँन कौँ है जोग, बड़े ग्याँनी ब्रज आए ॥ ५९ ॥

चौपई

ऊधौ, हँम देखी अबगाहि । “लेखें-जोखें नदिया थाह” ॥  
स्याँम नहीं गोपिँन के मीत । “होत अंकुरौ खायौ सीत” ॥ ६० ॥



अब काहे कौ दरद हँमारौ । “तेली-बैलै नाहर मारौ” ॥  
हँमरें सदाँ प्रेम कौ नैम । “सोहै लौहि छाँड़ि ज्यों हँम” ॥ ६१ ॥



ना ए पूरे, ना ए आधे । जोगी कूर मोँन ही साधे ॥ ६२ ॥

सोरठा

है अहीर की जाति, देत हँमें हरि जोग कों ।  
नाँइन नई जनाति, लएँ नहना बाँस कौ ॥ ६३ ॥

छंद जमका

ऊधौ कों न काइल करौ, मत करौ तंग ।  
“नंग के घर नंग आए, पैहैर आए झंग” ॥ ६४ ॥

सोरठा

धरौ जोग बकसीस, ऊधौ जू, यै प्रीति फल ।  
“ऊखर-दीन्हों सीस, चोटँन कौ अब डर कहा” ॥ ६५ ॥



करौ बैठ उपहास, ऊधौ सों का बाबरी ।  
“नाहिँन सूत-कपास, कोरी सों लाठी-लठा” ॥ ६६ ॥

चौपई

दरसँन देते बड़ी कृपाती । देखें पाती जरती छाती ॥  
भेंटे स्याँम अरे जिह देह । तामें कहत लगाँमन खेह ॥ ६७ ॥



भलौ करौ ऊधौ, उपदेस । “रँगे स्यार ने खायौ देस” ॥  
यामें बात कहै कोउ कँस । “जाकी लाठी ताकी भेंस” ॥ ६८ ॥

कुंडलिया

तुम ग्याँनी पूरे बनों, हों नहिं ग्याँने पाँउ ।  
 “गुर के तुँम बादर करे, तोर-तोर कें खाउ” ॥  
 ‘तोर-तोर कें खाउ’, चाउ है बड़ौ जोग सों ।  
 आपुँन बीधे रोग, हटाबौ हँम भोग सों ॥  
 ‘कहै सदाँ सिबलाल’, सदाँ के हौ तुँम ग्याँनी ।  
 “मूसर के नौ टका, बात हँमने अब जाँनी” ॥ ६९ ॥

चौपई

काहे खाली करतीं माथ । “धोएँ कुठला कीचै हाथ” ॥  
 ऊधौजू, ब्रज में फिरिआँमें । कहियो जाइ तबै सुख पाँमें ॥ ७० ॥

❀

भार हँमारौ उँन सों छूटै । “साँप मरौ ना लाठी टूटै” ॥  
 ऊधौ इँन बातँन रस नाँहीं । समझ लेउ अपने मन माँहीं ॥ ७१ ॥

❀

बूरौ न माँनों ऊधौ ब्रज कौ । “लंका छोटी बाँमन गज कौ” ॥ ७२ ॥

दोहा

भाषा-जुक्ति-समूह कों, बरन्यों सिब परसाद ।  
 ऊधौ अरु गोपीन कौ, लैबैर हिय संबाद ॥ ७३ ॥

❀

जाकों सुँन रस-रत्न कौ, होत बनाइ प्रकास ।  
 गोबिँद, गोपीजँन-सहित, करें हृदे में बास ॥ ७४ ॥

❀

अष्टादस बसु षट गिनैं, संबत करौ बिचार ।  
 माधव सुकला पंचमी, अदिति नखत गुरुवार ॥ ७५ ॥

अथात्

संवत् १८८६ वि०

॥ इति श्रीसदाशिवलालकृत “जुक्ति-समूह” समाप्त ॥

## संक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

( सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार )

- बालक-पृष्ठ** ७६, सचित्र, इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं । मूल्य ... .३१
- भक्त नारी-पृष्ठ** ६८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र, इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रवियाकी कथाएँ हैं । मूल्य .३१
- भक्त-पञ्चरत्न-पृष्ठ** ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र इसमें रघुनाथ, दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरेदासकी कथाएँ हैं । मूल्य ... ..३१
- आदर्श भक्त-पृष्ठ** ९८, एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, इसमें शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिन् की कथाएँ हैं । मूल्य ... ..३१
- भक्त-चरित-पृष्ठ** ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें साध्वी सखुबाई, श्रीज्योतिपन्त, भक्तवर विठ्ठलदासजी, दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं । मूल्य .३१
- भक्त-सप्तरत्न-पृष्ठ** ८८, सचित्र, इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेश्वी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालवेगकी कथाएँ हैं । मूल्य ... ..३१
- भक्त-कुसुम-पृष्ठ** ८४, सचित्र, इसमें जगन्नाथदास, हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं । मूल्य ... ..३१
- प्रेमी भक्त-पृष्ठ** ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन, हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं । मूल्य ... .३१

**प्राचीन भक्त-पृष्ठ १५२, चार बहुरंगे चित्र,**

अगस्त्य और राजा शङ्ख, कण्डु, उत्तङ्क, अ.  
चोलराज और विष्णुदास, देवमाली, भद्रतनु,  
सुरथ, दो मित्र भक्त, चित्रकेतु, वृत्रासुर एवं तुलाधार  
कथाएँ हैं । मूल्य ... ..

**भक्त-सौरभ-पृष्ठ ११०, एक तिरंगा चित्र, इसमें श्रीव्यासदासजी,  
मामा श्रीप्रयागदासजी, शंकर पण्डित, प्रतापराय और  
गिरवरकी कथाएँ हैं । मूल्य ... .. ३१**

**भक्त-सरोज-पृष्ठ १०४, एक तिरंगा चित्र, इसमें गङ्गाधरदास, श्रीनिवास  
आचार्य, श्रीधर, गदाधर भट्ट, लोकनाथ, लोचनदास, मुरारिदास,  
हरिदास, भुवनसिंह चौहान और अङ्गदसिंहकी कथाएँ हैं । मूल्य ३७**

**भक्त-सुमन-पृष्ठ ११२, दो तिरंगे तथा दो सादे चित्र, इसमें विष्णु-  
चित्त, विसोबा सराफ़, नामदेव, राँका-बाँका, धनुर्दास, पुरन्दरदास,  
गणेशनाथ, जोग परमानन्द, मनकीजी बोधला और सदन  
कसाईकी कथाएँ हैं । मूल्य ... .. ३७**

**भक्त-सुधाकर-पृष्ठ १००, भक्त रामचन्द्र, लाखार, ७२  
रामहरि, डाकू भगत आदिकी १२ कथाएँ हैं, चि ३५ ५०**

**भक्त-महिलारत्न-पृष्ठ १००, रानी रत्नावती, हरदे  
लीलावती, सरस्वती आदिकी ९ कथाएँ हैं, चित्र ७, मूल्य ... ४५**

**भक्त-दिवाकर-पृष्ठ १००, भक्त सुव्रत, वैश्वानर, पद्मनाभ, किरात  
और नन्दी वैश्य आदिकी ८ कथाएँ हैं, चित्र ८, मूल्य ... ४५**

**भक्त-रत्नाकर-पृष्ठ १००, भक्त माधवदासजी, भक्त विमलतीर्थ, महेश-  
मण्डल, मङ्गलदास आदिकी १४ कथाएँ हैं, चित्र ८, मूल्य ... ४५**

ये बड़े-बालक, स्त्री-पुरुष-सबके पढ़ने योग्य, बड़ी सुन्दर औ  
शिक्षाप्रद पुस्तकें हैं । एक-एक प्रति अवश्य पास रखने योग्य है ।

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस ( गोरखपुर